हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति

हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति

डॉ० संसारचन्द्र

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली इलाहाबाद बम्बई पटना मद्रास

दो शब्द

जिस प्रकार वेद, वेदांग, दर्शन आदि अमूल्य ज्ञान-निधि ने भारत को संसार के सभी देशों में प्रतिष्ठा का पद दिलाया है, उसी प्रकार भारतीय साहित्य-शास्त्र भी अपनी प्राचीन सूक्ष्म एवं गम्भीर गवेषणाओं के कारण सर्वत्र आदर का स्थान प्राप्त किये हुए है। वेद उस महाकलाकार की कविता है, जिसे स्वयं वेद ने 'कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्' कहा है। इसलिए वैदिक वाङ्मय में साहित्य-शास्त्र के मूल-तत्त्वों का यत्र-तत्र उल्लेख मिलना स्वाभाविक है। निरुक्तकार यास्क मुनि ने अपने वैदिक निघण्टु के व्याख्यान में उपमा-अलंकार का लक्षण तथा उसके भेदों तक का विवरण देकर वैदिक मन्त्रों में उनका समन्वय भी दिखा रखा है। वैदिक युग के बाद पाणिनि द्वारा संशोधित लौकिक संस्कृत-युग में साहित्य-शास्त्र के विकास की धूमिल रूपरेखा शनैः-शनैः उभरती हुई भरत मुनि के काल में अच्छी तरह स्पष्ट हो गई। फिर तो भरत मुनि से लेकर साहित्य-शास्त्रियों की एक लम्बी परम्परा चल पड़ी, जिनकी सतत साधना एवं विलक्षण सूक्ष्मेक्षिका के परिणामस्वरूप साहित्य-शास्त्र के सभी अंगों का व्यवस्थित विकास हुआ। साहित्य-शास्त्र की अनेकानेक प्रवृत्तियों, वादों और आलोचनाओं को देखकर तत्तद्-युगीन शास्त्रीय रुचियों का हमें पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है। दायरूप में मिला हुआ हमारा साहित्य-शास्त्र अपनी मौलिक उद्भावनाओं तथा सूक्ष्म गवेषणाओं की दृष्टि से संसार के किसी भी देश के समीक्षा-शास्त्र से साग्रह होड़ करके अपनी उत्कृष्टता और समृद्धता सिद्ध कर सकता है।

भारतीय साहित्य-शास्त्र की उक्त अमूल्य सम्पत्ति ही मेरे शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति' की मूल प्रेरणा है, जो पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ है। वास्तव में देखा जाय तो भारतीय साहित्य-शास्त्र इतना विस्तृत और विशाल है कि इसके किसी भी प्रकरण या अंश को लेकर शोध-कार्य किया जा सकता है। काव्य के लक्षण-ग्रन्थों के

अध्ययन में जब मेरा ध्यान अन्योक्ति की ओर आकृष्ट हुआ, तब मैंने देखा कि इस पर संस्कृत और हिन्दी में भी कुछ स्वतन्त्र लक्ष्य-ग्रन्थ तक लिखे हुए हैं, परन्तु साहित्यकारों द्वारा इसके महत्त्व का विधिवत् मूल्यांकन अभी तक अपेक्षित है। इसी विचार से प्रेरित होकर मैंने 'अन्योक्ति' को अपने शोध-कार्य का विषय चुना।

'अन्योक्ति' काव्य का एक ऐसा प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व है कि प्राचीन-काल से लेकर क्या भारत और क्या अन्य देश — सभी के साहित्यों में इसका प्रयोग प्रायः देखने में आता है। हमारे यहाँ तो वैदिक काल से लेकर आज तक के साहित्य में इसके प्राधान्य की अमिट छाप दिखाई देती है। हिन्दी-भाषा के आदिकाल के योगवाद से लेकर भक्ति और सूफी धाराओं से परिसिक्त हुआ अन्योक्ति-तत्त्व किस प्रकार छायावाद और प्रयोगवाद तक में प्रयुक्त हुआ चला आ रहा है, यह किसी भी साहित्य-मनीषी से अज्ञात नहीं है। काव्य की शैलियाँ बदल रही हैं, नये रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो रहे हैं, और नई-नई उद्भावनाएँ हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में नवीन वादों को जन्म दे रही हैं, किन्तु अन्योक्ति काव्य का सदा एक ऐसा स्थायी तत्त्व रहा है कि जिसके बिना किसी भी युग के कलाकार की कला का यथेष्ट निर्वाह नहीं हो सका।

इसमें सन्देह नहीं कि आजकल संस्कृत और हिन्दी के अनेक क्षेत्रों में शोध-कार्य प्रगति पर है। आलोचना के नये आलोक में साहित्य के विभिन्न पार्श्वों का प्रौढ़ एवं गवेषणापूर्ण विवेचन और अध्ययन हो रहा है। नये मानदण्डों से उसका नया मूल्यांकन किया जा रहा है—सामूहिक रूप में भी और पृथक्-पृथक् रूप में भी। काव्य के अन्यतम अंग अलंकार-तत्त्व को लेकर डॉ० राघवन् का 'Some Concepts of Alankar Shastra', डॉ० रमाशंकर का 'अलंकार-पीयूष' तथा डॉ० ओमप्रकाश का 'हिन्दी अलंकार-शास्त्र' नामक शोध-ग्रन्थ स्वागत-योग्य हैं। इस दिशा में और भी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें डॉ० नगेन्द्र की आलोचनाओं का प्रमुख स्थान है। किन्तु अन्योक्ति-तत्त्व के शोध की ओर अभी तक किसी का ध्यान नहीं गया। कुछ समय पूर्व निःसन्देह कुमारी प्रतिभा दलपतिराय त्रिवेदी ने संस्कृत की अन्योक्तियों को आधार बनाकर अपने शोध-प्रबन्ध 'अन्योक्त्यष्टक-संग्रह' में इस ओर कुछ कार्य किया, किन्तु इसमें उनका मुख्य ध्येय संस्कृत के १७ अन्योक्त्यष्टकों का संग्रह करके संस्कृत में अन्योक्तियों का एक लघु कोष-मात्र प्रस्तुत करना रहा है। अन्योक्ति के विभिन्न रूप, उनका वैज्ञानिक विश्लेषण, वर्गीकरण, विकास तथा उसके सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न धारणाएँ इत्यादि अपेक्षित बातें उसमें कुछ भी

आलोचित नहीं होने पाईं। अतएव इस विषय के विस्तृत अध्ययन और शोध की आवश्यकता सुतरां बनी रही। उसी की पूर्ति के लिए मेरा यह सर्वथा नवीन, विनीत तथा लघु प्रयास है।

शोध का विषय 'हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति' होने से यद्यपि मेरा कार्य-क्षेत्र हिन्दी तक ही सीमित रहना चाहिए था, तथापि, जैसे ही मैंने इस विषय के भीतर प्रवेश किया, मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि हिन्दी-साहित्य जिस तरह अपने अन्यान्य अंगों के लिए संस्कृत का अनुजीवी है, उसी प्रकार उसके अन्योक्ति-तत्त्व की नींव भी मुख्यतः संस्कृत पृष्ठाधार पर ही खड़ी हुई है। वैदिक और लौकिक संस्कृत के अन्योक्ति-साहित्य को आलोक में लाये बिना हिन्दी के अन्योक्ति-तत्त्व पर यथेष्ट प्रकाश डालना तथा उसका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए अनुषंगतः हिन्दी-अन्योक्ति की पूर्वपीठिका के रूप में मुझे इसके विभिन्न रूपों के लिए ऋग्वेद से लेकर हिन्दी की आद्य अवस्था—अपभ्रंश—तक के अन्योक्ति-साहित्य का संक्षिप्त अध्ययन करना पड़ा, जिसके बिना मेरा शोध-प्रबन्ध अधूरा ही रहता। वस्तुतः संस्कृत और हिन्दी के समीक्षकों ने अपने लक्षण-ग्रन्थों में अन्योक्ति-तत्त्व पर स्थूल रूप से ही विचार किया है। इसलिए हमें अन्योक्ति को साहित्य के मूल्यांकन के परिवर्तित मानदण्डों के आलोक में रखकर नये ढंग से उसका निरूपण करना होगा और उसके नये-नये स्वरूपों की खोज करनी होगी। परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार लकीर को तोड़कर साहित्य के अन्यान्य अंगों की तरह हम अन्योक्ति पर स्वतन्त्र विचार भी कर सकते हैं। यही कारण है कि मैंने अन्योक्ति को उसकी रूढ़ संकुचित परिधि से निकालकर व्यापक रूप दिया है और उसके सम्बन्ध में अपनी कुछ नई उद्भावनाएँ भी की हैं, जो पाठकों के समक्ष हैं। इसके अतिरिक्त मुझे यह भी अनुभव हुआ कि युग-विकास-क्रम के अनुसार हिन्दी में बदलती हुई अन्योक्ति-प्रवृत्तियों का स्वरूप दिखाने के लिए वर्गबद्ध छोटा-सा अन्योक्ति-संकलन भी आवश्यक है। अतएव परिशिष्ट-रूप में एक स्वतन्त्र अन्योक्ति-संग्रह जोड़ने का मोह भी मैं संवरण न कर सका।

अपने इस शोध-कार्य के विधिवत् उपस्थापन के सम्बन्ध में मुझे अनेक विद्वानों से अमूल्य सुझाव एवं प्रेरणा प्राप्त होती रही। मेरी विषय-सम्बन्धी प्रेरणा के प्रारम्भिक स्रोत पं० देवशर्माजी शास्त्री हैं, जिनका अपार अनुग्रह मुझे चिरस्मरणीय रहेगा। मेरे लाहौर के गुरुदेव पं० मोहनदेवजी पंत ने अमूल्य परामर्श देकर समय-समय पर मेरा मार्ग प्रशस्त किया। विषय की सांविधानिक कठिनाई के अवसर पर श्रद्धेय पंतजी के साथ विचार-विनिमय से

मुझे यथेष्ट समाधान मिलता रहा। इसके अतिरिक्त जिनकी देखरेख में मेरा यह शोध-प्रबन्ध सम्पूर्ण हुआ है, वे हैं मेरे पूज्य गुरु पं० गौरीशंकरजी एम० ए०, डी० लिट्। इनका सौजन्य, विद्वत्ता तथा अमूल्य सुझाव मेरे लिए अमूल्य निधि हैं। मैं अपने मित्र डॉ० हरवंशलाल का भी चिरऋणी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मुझे उत्साहित किया और उपयोगी संकेत भी दिये। इसके अतिरिक्त डॉ० नगेन्द्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० दशरथ ओझा तथा अन्यान्य विद्वानों तथा उन सभी ग्रन्थकारों का भी धन्यवाद करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिनसे मुझे अपने शोध-कार्य में न्यूनाधिक सहायता मिली है।

स० ध० कालेज
अम्बाला छावनी

संसारचन्द्र

अनुक्रम

हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति

१ : विषय-प्रवेश

अन्योक्ति का अभीष्ट अर्थ हृदयंगम कराने के लिए साहित्य का सामान्य विश्लेषण आवश्यक है। साहित्य और काव्य की अन्योन्याश्रयता और परस्पर सम्बद्धता तथा भाषा के दोनों रूप अर्थात् साधारण और साहित्यिक अन्योक्ति को स्पष्ट करने में सहायक होंगे। अतः 'अन्योक्ति'-जैसे महत्त्वपूर्ण काव्य-तत्त्व पर विचार करने से पूर्व हम कवि की भाषा पर थोड़ा-सा विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं। यह तो

भाषा के दो रूप : साधारण और साहित्यिक

सर्व-विदित है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के कारण अपने जीवन के हर्ष, भय, आशा, निराशा आदि अनुभूतियों को दूसरों तक पहुँचाकर ही अपने हृदय का भार हल्का हुआ समझता है और जिस साधन से वह यह कार्य करता है, वह भाषा है। यद्यपि हम मानते है कि भाषा में भावों का संचारण एवं प्रेषण अपेक्षाकृत अधिक रहता है, तथापि भाषा को हम भावों की रूपरेखा-मात्र की वाहिका कहेंगे; क्योंकि हृदय के कितने ही भाव अत्यन्त सूक्ष्म तथा अनन्त होते हैं; उन्हें पूर्णतः ठीक उसी तरह दूसरे के हृदय में उतारना बड़ा कठिन काम होता है। जहाँ तक गम्भीर एवं कलात्मक भावों के प्रेषण का सम्बन्ध है, उसमें साधारण भाषा पूर्णतया सक्षम नहीं होती। मनुष्य का साधारण लोक-व्यवहार एवं उसकी दैनिक जीवन-चर्या का काम तो साधारण भाषा से चल जाता है, परन्तु जहाँ उसकी सूक्ष्म अनुभूतियों एवं विविध भावनाओं की अभिव्यक्ति तथा जीवन के विविध सौन्दर्य या गूढ़ रहस्यों को प्रकाशित करने की बात हो, वहाँ हमारी साधारण भाषा नितरां पंगु रहती है। यह काम तो एक अन्य ही प्रकार की भाषा का है, जिसे हम कवि की भाषा कहते हैं। यह अपेक्षाकृत कलात्मक, सुपरिष्कृत, अभिव्यंजनात्मक और विशेष प्रभावोत्पादक होती है। साहित्य-क्षेत्र में इसी भाषा का साम्राज्य रहता है और इसी में साहित्य-सृजन होता है। इस तरह भाषा के दो रूप हुए—साधारण और साहित्यिक। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि साधारण

और साहित्यिक भाषाओं में सदा से अन्तर रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि साधारण भाषा ही निखरकर अन्त में साहित्यिक रूप प्राप्त करती है, किन्तु जब यह साहित्यिक रूप प्राप्त कर लेती है तो इसका रिक्त स्थान दूसरी जन-भाषा ले लेती है। किन्तु इतना अवश्य है कि जन-भाषा तथा साहित्यिक भाषा दोनों भिन्न होती हुई भी परस्पर-सापेक्ष रहती है। साहित्यिक भाषा का मूल रूप तो जनवाणी में ही निहित होता है और वही उसका प्रेरणा-स्रोत भी बनता है।

साहित्य

साहित्य कवि की वाणी में अभिव्यक्त मानव-जीवन की विविध अनुभूतियों एवं विचारों का संग्रह है। वह मनुष्य की आवश्यकताओं के अध्ययन और उनकी पूर्ति एवं सांस्कृतिक और कलात्मक स्फूर्ति तथा जागृति का कारण बनता है। क्योंकि मानव-जीवन सदा एक-जैसा नहीं रहता, इसलिए साहित्य में भी एकरूपता नहीं होती। मानव-जीवन का समष्टि-रूप समाज नाम से अभिहित होता है और समाज की विविध विचार-धाराओं एवं अनुभूतियों का समष्टि-रूप वाङ्मय ही साहित्य है। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि साहित्य में जहाँ मानव-जीवन के अनुभूतिपूर्ण सुन्दर चित्र उतारे जाते हैं, वहाँ सुन्दर होने के साथ-साथ उनका सत्य और शिव होना भी वांछनीय है। साहित्य का काम केवल लोक-मनोरंजन नहीं है। वह प्रेमचन्द के अनुसार ऐसा होना चाहिए कि "जिसमें जीवन का सौन्दर्य हो, सृजन की आत्मा हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं।"[१]

साहित्य का व्युत्पत्ति-निमित्त

हम कह आए हैं कि साहित्य में मानव-हृदय के भावों की अभिव्यक्ति रहती है, किन्तु भावों से अभिप्रेत यहाँ वे भाव हैं, जो रमणीय, स्थिर एवं उच्च हों, साधारण नहीं। इसके अतिरिक्त भावों की अभिव्यक्ति के साधन का भी सरस, कलात्मक एवं प्रभावोत्पादक होना अपेक्षित है। उसके द्वारा भावों को ऐसे मार्मिक ढंग से रखना होता है कि वे प्रत्येक पाठक या श्रोता के हृत्पिण्ड को छूकर उसमें भी वैसा ही स्पन्दन, आन्दोलन एवं अनुभूति उत्पन्न कर दें जैसी कि साहित्यकार के हृदय में उत्पन्न हुई होती है। इसमें साहित्यकार और पाठक भाव-जगत् में एक साथ हो जाते हैं और दोनों का यह सहभाव (द्वयोः सहितयोः भावः) साहित्य शब्द का व्युत्पत्ति-निमित्त है। इसे शास्त्रीय भाषा में हम 'साधारणीकरण' भी

१. सभापति-भाषण, 'प्रगतिशील लेखक-संघ', १९३६।

कह सकते हैं। कुछ ऐसे भी आलोचक हैं जो साहित्य के कला-पक्ष को लेकर 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों का साथ-साथ रहना साहित्य का व्युत्पत्ति-निमित्त कहते हैं। वैसे देखा जाय तो शब्द और अर्थ का अविनाभाव-सम्बन्ध के साथ-साथ रहना साधारणतः होता ही है, किन्तु यहाँ—जैसा कि कुन्तक ने भी कहा है—साथ-साथ रहने से अभिप्रेत है शब्द और अर्थ की सन्तुलित रूप में मनोहारिणी स्थिति, न कि न्यूनातिरिक्त रूप में साधारण स्थिति।[1] इससे केवल शब्द-प्रधान अथवा केवल अर्थ-प्रधान रचनाएँ साहित्य के अन्तर्गत नहीं आ सकतीं। साहित्य की यह व्युत्पत्ति शरीर-पक्षीय है; हमने भाव-पक्षीय दिखाई है। किन्तु संतुलित शब्दार्थों में ही अधिकतर भावोद्रेक देखने में आता है, इसलिए दोनों व्युत्पत्तियों में अधिक अन्तर नहीं है।

संस्कृत में साहित्य शब्द काव्य के पर्याय-रूप में प्रयुक्त हुआ मिलता है, किन्तु आजकल साहित्य एवं काव्य में कुछ अन्तर रखा जाने लगा है।

साहित्य और काव्य परस्पर पर्याय

साहित्य का अर्थ व्यापक रूप में लेकर किसी भी प्रकार के लिखित वाङ्मय को उसके अन्तर्गत कर देते हैं, किन्तु साहित्य-सम्बन्धी इतना व्यापक दृष्टिकोण हमें उचित नहीं जँचता। मानव-समाज के ज्ञानवर्धक विज्ञान-विषयक ग्रन्थों को साहित्य कैसे कहा जाय। वास्तव में न्याय, गणित, ज्योतिष, वैद्यक आदि तो विज्ञान की वस्तुएँ हैं। मस्तिष्क की उपज होने से वे अर्थ-प्रधान हैं। साहित्य तो सागर की तरह कल्पना की वायु से उद्वेलित मनोवेगों एवं भाव-तरंगों की स्थायी रस-राशि है। भाव-तरंगें दृश्य, श्रव्य, गद्य, पद्य या अन्य जिस किसी भी प्रकार से प्रस्फुटित होकर जो सृजन करती हैं, वही साहित्य है। इस तरह साहित्य और काव्य दोनों एक ही वस्तु हैं।

काव्य के दो पक्ष होते हैं—कला-पक्ष और भाव-पक्ष। इनके बिना काव्य का कोई अस्तित्व नहीं। कुछ विद्वान् कला-पक्ष पर बल देते हैं और कोई

काव्य के दो पक्ष : कला और भाव

भाव-पक्ष पर। वास्तव में काव्य का रहस्य समझने के लिए उसके इन दोनों पहलुओं से भली भाँति परिचित होना आवश्यक है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने इस विषय में गम्भीर विवेचन और मनन किया है। काव्य के सम्बन्ध में अब तक चले हुए छः मुख्य सम्प्रदाय माने जाते हैं—

१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्......अन्यूनानतिरिक्तत्व-मनोहारिण्यवस्थितिः, 'वक्रोक्ति जीवित', १।७, १७।

रस-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय और औचित्य-सम्प्रदाय। इनमें से रस तथा ध्वनि वाले भाव-पक्ष के समर्थक है और उसमें ही काव्य का मूल-तत्त्व अथवा जीवातु निहित मानते हैं। अलंकारवादी तथा रीतिवादी कला-पक्ष के पोषक है और काव्य-शरीर के सँवारने पर ही अधिक बल देते हैं। औचित्य और वक्रोक्तिवादी प्रायः दोनों पक्षों के समन्वय पर चलते हैं। वास्तव में देखा जाय तो भाव-पक्ष काव्य का आत्म-तत्त्व है तथा कला-पक्ष शरीर-तत्त्व। अकेली आत्मा बिना शरीर के निर्विकार एवं निष्क्रिय रहती है। इसी तरह आत्मारहित शरीर भी शव से भिन्न कुछ नहीं। अतएव जिस प्रकार शरीर को प्राप्त करके ही जीवात्मा क्रियाशील बनकर जीवन की अनुभूति करने लगती है, ठीक उसी प्रकार काव्य-शरीर में भाव-रूपी आत्मा के अन्तःप्रविष्ट होते ही काव्य-कला जी उठती है। महाकवि कालिदास ने भी 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ'[1] कहकर शिव-पार्वती की तरह शब्द और अर्थ का परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए भाव और कला दोनों पक्षों के सन्तुलन को महत्त्व दिया और स्वयं भी अपनी रचनाओं को इसी मार्ग पर ले गए।

काव्य-भाषा में शब्द और अर्थ की अन्यता

हम पीछे कह आए हैं कि साहित्य अथवा काव्य की भाषा जन-भाषा की अपेक्षा अन्य ही हुआ करती है। उसमें कुछ शब्द की, कुछ अर्थ की और कुछ भाव की ऐसी अन्यता—विलक्षणता—रहती है कि उसके पढ़ते और सुनते ही प्रत्येक सहृदय लोकोत्तर आनन्द मे आत्म-विभोर हो उठता है। इस बात को हम एक संस्कृत और एक हिन्दी का उदाहरण देकर स्पष्ट करना चाहते हैं। विद्वानों और कवियों को अपनी अपार धन-राशि लुटाने वाले राजा भोज के आगे एक दिन कोई भूख से पीड़ित ब्राह्मण आकर पुकार करता है :

भोजनं देहि मे राजन्, घृत-सूप-समन्वितम्।[2]

इस पर राजा का हृदय ज़रा भी नहीं पसीजता और वे उसको कुछ भी देने को तैयार नहीं होते। किन्तु सुनते हैं कि कालिदास को ब्राह्मण पर दया आ जाती है और वे उसकी तरफ से झट दूसरा श्लोकार्ध यों पूरा कर देते हैं :

---

१. 'रघुवंश', १।१।

२. महाराज, भोजन मुझे दीजिएगा
दाल और घी उसके साथ में हों।

माहिषं च शरच्चन्द्र-चन्द्रिका-धवलं दधि ।[1]

अब सुनते ही राजा का हृदय गद्गद् हो उठता है और वे ब्राह्मण का दारिद्रय सदा के लिए धो देते हैं। कारण स्पष्ट है। ब्राह्मण की भाषा में वह विलक्षणता एवं प्रभावोत्पादकता नहीं पाई जाती जो कालिदास की भाषा में है। दूसरा उदाहरण हिन्दी का लीजिए, जिसमें भाषा के साथ-साथ अर्थ और भाव की भी अन्यता है। जयपुर-नरेश जयसिंह अपनी किसी अप्राप्त-यौवना रानी के प्रेम में इतने अधिक आसक्त हैं कि वे राज-पाट तक की भी सुध-बुध खो बैठते हैं। बड़े-बड़े राजनीति-निपुण मन्त्रियों का कहना-कहाना भी अरण्य-रोदन सिद्ध होता है। किन्तु राज-कवि बिहारी का एक ही दोहा राजा पर ऐसा मन्त्र फेरता है कि तत्काल उनकी आँखें खुल जाती हैं और वे राज-कार्य के सिंहासन पर आ बैठते हैं। वह प्रसिद्ध दोहा यह है :

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल ।
अली कली ही ते बँध्यो, आगे कौन हवाल ।।[2]

पद्मसिंह शर्मा के शब्दों में—"विषयासक्त मित्र के भावी अनर्थ की चिन्ता से व्याकुल सुहृज्जन की चिन्तोक्ति का क्या ही सुन्दर चित्र है। कहने वाले की एकान्त-हितैषिता, परिणाम-दर्शिता, विषयासक्त मित्र के उद्धार की गम्भीर चिन्ता के भाव इससे अच्छे ढंग से किसी प्रकार भी प्रकट नहीं किये जा सकते।"[3]

शब्द और अर्थ एवं उनके द्वारा भाव के उपस्थापन-प्रकार की यह विलक्षणता ही काव्यत्व-निर्माण करती है। इस सम्बन्ध में भामह द्वारा उठाये गए निम्नलिखित प्रश्नोत्तर हमारी बात को बिलकुल स्पष्ट कर देते हैं :

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादिकं काव्यम् ? 'वार्तामेतां प्रचक्षते' ।।[4]

---

१. शरच्चन्द्र की चन्द्रिका-सा चमकता
दही भी धवल हो महिष का मज़े का ।

२. 'बिहारी-रत्नाकर', दो० ३८ ।

३. 'बिहारी सतसई', पृ० ३७ ।

४. 'काव्यालंकार', २।८७ ।

'सूरज गया, चन्द्रमा चमका
विहग बसेरों को जाते हैं ।'
क्या यह 'कविता' कहलायेगी ?
नहीं, 'बातचीत' कहलायेगी ।

इतिवृत्त में वस्तुओं का यथातथ्य वर्णन रहता है। उसमे न कोई कल्पना होती है, न कोई भावोद्‌बोध। यही कारण है कि वस्तु-स्वरूप का ज्ञान करा देने वाले इतिहास, व्याकरण, विज्ञान, अर्थशास्त्र आदि काव्य-कोटि मे नही आते। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने तो स्पष्ट कह दिया है—"इतिवृत्त-मात्र का निर्वाह कर देने से कवि का प्रयोजन सिद्ध नही होता। वह तो इतिहास से ही सिद्ध हुआ रहता है।"[1] इससे मानना पड़ेगा कि साधारणतः प्रयुक्त शब्दों और अर्थो की अपेक्षा काव्य के शब्दो और अर्थो में कुछ अन्यता ही रहती है, जिससे काव्य काव्य बनता है।

काव्य एवं भामह और दण्डी की अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति

संस्कृत मे काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी कई सम्प्रदाय हुए है। कहना न होगा कि काव्य का रहस्य समझने के लिए तत्सम्बन्धी सम्प्रदायों के विविध सिद्धांतो से परिचित होना आवश्यक है, क्योंकि हिन्दी-काव्य की पृष्ठभित्तियाँ उन्हीं पर खडी हुई है। अतएव उन पर एक विहंगम दृष्टि डालना अप्रासंगिक न होगा। काव्य-शास्त्र के इतिहास में भामह अलंकार-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक माने जाते है। उन्होंने 'लोकातिक्रान्त-गोचर'[2] उक्ति को काव्य का मूल तत्त्व माना है और 'लोकातिक्रान्त-गोचर' उक्ति साधारण लौकिक उक्ति से सर्वथा अन्य ही हुआ करती है, यह हम बता आए हैं। बाद को भामह ने इसी काव्य-तत्त्व को 'अतिशयोक्ति' और 'वक्रोक्ति' इन दो नामों से अभिहित किया है। इनके इस अतिशयोक्ति अथवा वक्रोक्ति के भीतर जो भी शब्द और अर्थगत सौन्दर्य एवं उसके शोभावर्धक उपादान है, वे सभी आ जाते हैं। इस तरह इनके मत में वक्रोक्ति अलंकार-सामान्य का नाम है, जो काव्य का सर्वस्व है। भामह के बाद दण्डी का युग आया। इन्होंने भामह-सम्मत शब्द-गत और अर्थ-गत दोनों प्रकार के अलंकारों को तो माना है, किन्तु काव्य के शोभा-कारक धर्मो के रूप में, न कि बाह्य उपकरणों के रूप में।[3] इस तरह इनके विचारानुसार अलंकार धर्म होने के कारण आन्तरिक वस्तु हुई, आगन्तुक नहीं, जैसे कि

१. नहि कवेरितिवृत्त-निर्वहणेन किंचित् प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः।
'ध्वन्यालोक', ३।१४

२. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्त-गोचरम्।
मन्यतेऽतिशयोक्ति तामलंकारतया यथा॥
'काव्यालंकार', २।८१

३ काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते, 'काव्यादर्श', २।१।

सभी धर्म हुआ करते हैं। दण्डी ने काव्योक्ति को सामान्यतः दो उक्तियों में विभक्त किया है—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति।[1] स्वभावोक्ति से अभिप्रेत यथावद्वस्तु-वर्णन अर्थात् वार्ता न होकर 'चारु यथावद्वस्तु-वर्णन'[2] है। इसी को महाकवि बाण ने अपने 'हर्षचरित' में 'जाति' शब्द से अभिहित किया है। दण्डी ने स्वभावोक्ति के भीतर जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य—ये चार वस्तुएँ गिनाई हैं और वक्रोक्ति के भीतर बहुत-से अर्थालंकार। इन्होंने रस की सत्ता तो मानी है, किन्तु वक्रोक्ति के अन्तर्गत रसवदादि अलंकार के रूप में ही, पृथक् नहीं। इस प्रकार दण्डी भी सिद्धान्ततः अलंकार-सम्प्रदाय के ही अनुयायी रहे।

काव्य और वामन की रीति

नवीं शताब्दी में रीति-सिद्धान्त की नींव रखकर आचार्य वामन ने काव्य का एक नया ही सम्प्रदाय चलाया। इनके मत में "रीति ही काव्य की आत्मा है"[3] और इसका स्वरूप है 'विशिष्ट पद-रचना' अर्थात् शैली। अलंकृत शब्दार्थ काव्य का शरीर-मात्र है। आत्मा शरीर से भिन्न होती है। रीति के इन्होने तीन भेद किये—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली; और इनमें वैदर्भी को ग्राह्य माना। हमारे विचार से रीति पद-रचना-मात्र है, अतः रीतिवाद भी कला-पक्षीय है।

काव्य और आनन्दवर्धन की ध्वनि

वामन के बाद आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य-क्षेत्र मे पदार्पण किया और ध्वनि ही काव्य की आत्मा है[4], यह डिंडिम पीटा। ध्वनि की व्याख्या इन्होंने वाचक-रूप शब्द और वाच्य-रूप अर्थ से प्रकाशित होने वाला 'अन्य ही अर्थ' की है। इसे 'प्रतीयमान' अर्थ भी कहा जाता है और उन्ही के शब्दों में "यह महाकवियों की वाणियों में साधारण शब्दार्थ से भिन्न यों भासित होता है, जैसा कि अंगनाओं मे प्रसिद्ध मुख, नेत्र

---

१. भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। 'काव्यादर्श' २।१३।

२. स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तु वर्णनम्। विद्यानाथ राघवन् द्वारा अपने 'Some Concepts Of Alankar Shastra' पृ० ९३ में उद्धृत।

३. रीतिरात्मा काव्यस्य, 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' १।२।६।
विशिष्टा पदरचना रीतिः, वही, १।२।७।

४. काव्यस्यात्मा ध्वनिः, 'ध्वन्यालोक,' १।१।

अन्दि अवयवों से भिन्न उनका लावण्य"।[1] रस पदार्थ भी इसी ध्वनि का भेद-विशेष है और यही काव्य-कला की आत्मा अथवा हृदय-पक्ष है। आनन्दवर्धन का यह ध्वनिवाद परवर्ती अभिनव गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों द्वारा मान्य होता हुआ अब तक यथावत् चला आ रहा है, यद्यपि बीच में कलावादियों ने कुन्तक के मुख से इसके विरुद्ध स्वर एक बार अवश्य उठाया है।

काव्य और कुन्तक की वक्रोक्ति

यद्यपि काव्य-तत्त्व के रूप में वक्रोक्ति का उल्लेख पहले से ही होता आ रहा था, किन्तु कुन्तक की वक्रोक्ति भामह से भिन्न है। इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य-जीवित मानकर अपने वक्रोक्तिवाद द्वारा काव्य को एक नया ही मोड़ दिया है। उनकी वक्रोक्ति वाला 'वक्र' शब्दकोष में बताये गए एवं प्रचलित अर्थ से कुछ भिन्न ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस सम्बन्ध में कुन्तक स्वयं ही प्रश्न उठाते हैं, वक्रोक्ति क्या है, और स्वयं इसका उत्तर भी देते हैं, 'साधारण प्रतिपादन से अन्य विचित्र ही प्रतिपादन शैली।'[2] क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भी कुछ-कुछ कुन्तक की वक्रोक्ति से मिलता-जुलता है, क्योंकि इसमे भी काव्य में साधारण शैली की अपेक्षा अन्य प्रतिपादन शैली ही विवक्षित रहती है। वैसे देखा जाय तो 'वक्रता' अर्थ-परक ही होती है, जैसा कि हम पीछे विहारी के दोहे में देख आए हैं और छायावाद मे भी देखते हैं। किन्तु कुन्तक ने भामह और दंडी से प्रोत्साहन पाकर इसे इतना व्यापक रूप दे दिया कि वह शब्द और अर्थ के अतिरिक्त क्या वर्ण, क्या शब्द, क्या रस और क्या अन्य, सभी को अन्तर्भुक्त कर बैठी। वास्तव में जैसा कि हम कह आए है और डॉ० नगेन्द्र ने भी स्वीकार किया है, "कुन्तक का वक्रोक्तिवाद आनन्दवर्धन द्वारा प्रचलित ध्वनिवाद के विरुद्ध कलापक्षवादियों की ओर से एक प्रतिक्रिया-मात्र है।"[3] यही कारण है कि वर्ण, पद और पदार्थादि-गत ध्वनि के अनुकरण पर ही कुन्तक ने अपनी वक्रोक्ति को भी धनुष की तरह इतना लम्बा खींच-तानकर ध्वनिवाद की छाती पर प्रबल प्रहार किया। बाद के साहित्य-शास्त्रियों ने इस बात का अनुभव किया और वक्रोक्ति को अलंकारों के बीच एक स्थान पर बिठा दिया, जिसकी कि वह अधिकारिणी थी। अब

१. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥ 'ध्वन्यालोक', १।४।

२. 'कोऽसौ वक्रोक्तिः'? 'प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।'
'वक्रोक्ति जीवित', १।१०।

३. 'हिन्दी वक्रोक्ति की भूमिका', पृष्ठ १९३।

काव्य-शास्त्र में वक्रोक्ति एक अलंकार-मात्र रह गई है।

भोज ने दंडी की स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति को अपनाते हुए भी उनकी तरह रस को वक्रोक्ति के अन्तर्गत न मानकर स्वतन्त्र स्थान दिया है। इन्होंने काव्योक्ति को वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति[1] इन तीन विधाओं में विभक्त किया और रसोक्ति को मूर्धन्य स्थान दिया। भोज ने इन तीनों की व्याख्या अपने 'शृंगार-प्रकाश' में यों की है—"उपमादि अलंकारों की प्रधानता में वक्रोक्ति, गुणों की प्रधानता में स्वभावोक्ति, और विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति में रसोक्ति होती है।[2] वास्तव में भोजराज ने स्वभावोक्ति में बाह्य जगत् का सौन्दर्य और रसोक्ति मे अन्तर्जगत् का सौन्दर्य लेकर कल्पनामयी वक्रोक्ति की सहायता से काव्य-निर्माण का मार्ग बताते हुए अपने पूर्ववर्ती सभी काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोणो के समन्वय का प्रयत्न किया है और अच्छा प्रयत्न किया है।

काव्य और भोज की वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति

उपर्युक्त काव्य-सिद्धान्तों के संकेत से विदित होता है कि स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति, रसोक्ति अथवा अन्य उक्ति किसी भी माध्यम से सर्वत्र ही आचार्यों ने साधारण लौकिक प्रकार से भिन्न कुछ अन्य ही प्रकार से की जाने वाली जीवन की अभिव्यक्ति काव्य में मानी है। हम देखते हैं कि काव्य के कला-पक्ष-रूप शब्द और अर्थ अन्य ही हुआ करते है। कुन्तक ने अपनी वक्रोक्ति में 'वक्रा' का अर्थ 'व्यतिरेकिणी' अर्थात् 'अन्य' किया है। ध्वनिवादियों की ध्वनि भी 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' अर्थात् अन्य ही होती है। रसवादियों का रस भी सभी लौकिक पदार्थों से अन्य ही माना गया है। इस तरह वक्रोक्ति पर मतभेद रहने पर भी काव्य के क्या कलापक्षीय और क्या भावपक्षीय सभी निर्मापक तत्त्वों मे 'अन्यता' सर्वसम्मत ही है। किन्तु इतने व्यापक महत्त्व वाली अन्योक्ति की ओर प्राचीन साहित्यकारों का ध्यान नही गया, यह एक आश्चर्य की बात है। पूर्वोक्त सभी काव्य-संप्रदायों का अध्ययन करके यदि हम यह कहें कि 'सैषा सर्वगतान्योक्तिः किं काव्यमनया विना', तो भला इसमें क्या दोष हो सकता है? नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि ने अवश्य अन्योक्ति की ओर संकेत किया है।

काव्य और अन्योक्ति

१. वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते ॥ 'सरस्वती कंठाभरण,' ५।८।

२. तत्रोपमालंकार-प्राधान्ये वक्रोक्तिः सोऽपि गुण-प्राधान्ये स्वभावोक्तिः,
विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तौ रसोक्तिः। २।११।

उन्होंने अलंकारों के अतिरिक्त नाट्य और काव्य के ३६ 'लक्षणों'[१]—निर्मापक तत्त्वों—को गिना है। उनमें एक 'मनोरथ' भी है, जिसकी व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है—'हृदय-स्थित किसी गूढ़ अर्थ के बोधक भाव का अन्यापदेशों द्वारा कथन'।[२] यहाँ 'अन्यापदेश' शब्द विशेष विचारणीय है, क्योंकि बाद के संस्कृत-साहित्य में अन्यापदेश ही अन्योक्ति के पर्याय-रूप में व्यवहृत हुआ मिलता है। भट्ट भल्लट का 'अन्यापदेश शतक' तथा नीलकण्ठ दीक्षित आदि के 'अन्यापदेश' प्रसिद्ध हैं। इस तरह भरत के नाट्य-शास्त्र में अन्यापदेश नाम से अन्योक्ति की सत्ता निस्सन्देह स्वीकार की गई है। साथ ही भरत के अन्यापदेश को अलकारों से भिन्न 'लक्षणों' के अन्तर्गत करने से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि वे अन्यापदेश को काव्य का आन्तरिक धर्म अर्थात् मूल तत्त्व मानते थे, आगन्तुक अलंकार-वस्तु नहीं, यद्यपि भरत-कथित 'लक्षणों' पर परवर्ती साहित्य-समीक्षकों में अवश्य यह विवाद चलता ही रहा कि इन्हें काव्य के स्वरूप-निर्मापक आन्तरिक तत्त्व माना जाय या बाह्य-साधनभूत अलंकार-मात्र। हम अन्योक्ति को काव्य के एक व्यापक तत्त्व के रूप में लेंगे और इसे अलंकार भी मानेंगे, शैली (पद्धति) भी मानेंगे, और ध्वनि भी मानेंगे।

अन्यापदेश या अन्योक्ति में अप्रस्तुत अथवा प्रतीक द्वारा ही प्रस्तुत का प्रतिपादन होता है और प्रस्तुत सदा व्यंग्य रहता है। काव्य में प्रस्तुत की इस स्थिति को भामह ने अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार का एक भेद माना है, और दण्डी ने समासोक्ति। मम्मट आदि ने भामह का ही अनुसरण किया। सबसे प्रथम रुद्रट (नवम शताब्दी) ही ऐसे आचार्य निकले, जिन्होंने इसे 'अन्योक्ति' का नाम देकर अलंकारों में स्वतन्त्र स्थान दिया है। बाद में शंभु कवि ने 'अन्योक्ति-मुक्तालता' लिखकर इसी नाम को चलता रखा। किन्तु कुछ समय के लिए सैरन्ध्री के नाम से विराट् के घर में गई हुई द्रौपदी की तरह अन्योक्ति भी अपना नाम मिटाकर फिर अप्रस्तुत-प्रशंसा के यहाँ अज्ञातवास में चली गई। उसका भाग्योदय तो तब हुआ, जब आचार्य केशवदास ने हिन्दी-काव्य-शास्त्र की नींव रखी और अन्योक्ति को अलंकारों में स्वतन्त्र गौरवपूर्ण स्थान दिया। तब से हिन्दी-साहित्य में इसका गौरव यथावत् चला आ रहा है। निर्गुण भक्तिवाद, रहस्यवाद और छायावाद ने तो इसे मानो चार चाँद लगा दिए। हिन्दी-क्षेत्र में

अन्योक्ति अलंकार

१. **काव्य-बन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः। 'नाट्य-शास्त्र', १६।१६१।**

२. **हृदयस्थस्य भावस्य गूढार्थस्य विभावकम्।**
अन्यापदेशैः कथनं मनोरथ इति स्मृतः॥ वही, १७।३६।

इसका उत्कर्ष इतना बढ़ गया है कि यह अब अलंकार की इकाई न रहकर अलंकारों का एक वर्ग ही बन गई है, जिसका विवेचन हम आगे करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अन्योक्ति सस्कृत और हिन्दी-साहित्य में व्यवहारतः प्राचीन वैदिक काल से चला आता हुआ एक महत्त्वपूर्ण अलकार है। हम देखते है कि अन्य अलंकारो की तरह अन्योक्ति का यत्र-तत्र स्फुट प्रयोग ही नहीं हुआ, प्रत्युत इस पर स्वतन्त्र ग्रन्थो तक की रचना हुई है। सस्कृत के प्रसिद्ध कवि पण्डितराज जगन्नाथ का 'भामिनी-विलास' तथा हिन्दी के प्रसिद्ध कवि दीनदयाल गिरि का 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' निरे अन्योक्ति-काव्य है, जो साहित्य की निधि माने जाते है। वस्तुतः अप्रस्तुत-विधान को लेकर चलने वाले उपमा आदि साम्यमूलक अलकारो के क्रमिक विकास मे अन्योक्ति चरम प्रकर्ष की स्थिति है। इसी मे उन सबकी परिनिष्ठा होती है। यही कारण है कि साहित्य में अन्य अलंकारों की अपेक्षा अन्योक्ति का इतना अधिक महत्त्व है। आप सूर्य, चन्द्र, समुद्र, हंस, कमल, कोयल आदि प्रकृति के सद् उपकरणों को अथवा, इसके विपरीत जुगनू, नाला, कीट, कौआ, कुत्ता आदि असद् उपकरणों को प्रतीक बनाकर परोक्ष-रूप में प्रस्तुत किसी व्यक्ति के गुण-दोषों को, कुलीनता-अकुलीनता को अथवा स्तुति-निन्दा को अभिव्यक्त कर सकते है, किसी का मनोविनोद कर सकते है, किसी की हँसी उड़ा सकते है, किसी पर फबती या विद्रूप कस सकते हैं, किसी पर दिल की भडास निकाल सकते है, किसी को नैतिक शिक्षा देकर सत्पथ पर ला सकते है, और क्या कुछ नही कर सकते ! जीवन के विविध पहलुओं की इस तरह अप्रस्तुतमुखेन पूरी-पूरी व्याख्या करना अन्योक्ति का ही काम है और इसी ने इस अलंकार की इतनी उपादेयता भी बढ़ाई।

अन्योक्ति-पद्धति

अन्योक्ति एक अलकार है, यह बात बहुत पहले से चली आ रही है, इसीलिए सभी ने इसको अलंकार रूप मे देखा और लिया। अलंकारों के सम्बन्ध में हम देखते है कि वे किसी पद्य में प्रयुक्त होकर कवि के मनोगत भाव को या किसी वस्तु के सौन्दर्य को उत्तेजित एव पाठको के हृत्पटल में अच्छी तरह अंकित करके वहीं समाप्त हो जाते है, उससे आगे नहीं जाते, किन्तु अन्योक्ति ही एक ऐसा अलंकार है कि जो कभी-कभी पद्य-विशेष में ही समाप्त न होकर पद्यों, संदर्भो या प्रकरणों में काफी दूर तक सतत चलता ही रहता है, यहाँ तक कि कभी-कभी वह सारे ही ग्रन्थ में छा जाता है। इस तरह वहाँ तो अन्योक्ति कवि की एक प्रकार की शैली ही बन जाती है और वह अपने प्रस्तुतों

को छिपा हुआ ही रखकर प्रतीकों और संकेतों द्वारा उनको अभिव्यक्त करता है जैसा कि हम रहस्यवाद-छायावाद में हुआ पाते हैं। शुक्लजी ने इसका उल्लेख अन्योक्ति-पद्धति[1] नाम से किया है। पद्धति से अभिप्राय अन्योक्ति का मुक्तक रूप में प्रयोग न होकर व्यापक रूप में प्रयोग होने से है। अंग्रेज़ी में इसे एलिगरी (Allegory) कहते हैं। बनियन की 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' (Pilgrim's Progress) आदि रचनाएँ इसी पद्धति में लिखी हुई है। हमारे यहाँ संस्कृत और हिन्दी दोनों साहित्यों में अन्योक्ति-पद्धति में लिखे हुए कितने ही ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। भागवत का पुरंजनोपाख्यान भगवान् कृष्ण को मधुप के प्रतीक में चित्रित करके चलता है, जो बाद को सूर-साहित्य के भ्रमर-गीत में खूब विकसित हुआ। 'भवाटवी' आदि अनेक उपाख्यान भी इसी जाति के है। जायसी का 'पद्मावत' अन्योक्ति-पद्धति की रचना है, जिसमें लौकिक वृत्त को अध्यात्म पक्ष की ओर भी लगाकर द्विमुखी कथा चलाई गई है। यही बात प्रसादजी की 'कामायनी' में भी है। काव्यों के अतिरिक्त कितने ही नाटक भी अन्योक्ति-पद्धति के मिलते हैं, जैसे संस्कृत में कृष्ण मिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय', जिसका एक अंक भारतेन्दु ने 'पाखण्ड-विडम्बन' नाम से अनूदित किया। प्रसाद की 'कामना', पन्त की 'ज्योत्स्ना', भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'छलना' आदि नाटक अन्योक्ति-पद्धति की ही देन हैं। यह पद्धति इतनी महत्त्वपूर्ण समझी गई कि काव्य-नाटक के अतिरिक्त गद्य-साहित्य में भी इसका प्रयोग होने लगा। इसके अनुकरण पर रचा हुआ हिन्दी और संस्कृत का सारा [illegible]-साहित्य इसी पद्धति पर आधारित है। 'पंचतन्त्र' तथा 'हितोपदेश' में करटक, दमनक आदि पशु तथा लघुपतनक आदि पक्षी मनुष्य के प्रतीक है। इन कहानियों में पशु-पक्षियों को प्रतीक बनाकर मानव-जीवन की नैतिक समस्याओं का विश्लेषण किया गया है, किन्तु इन जन्तु-कथाओं में एलिगरी अपने छोटे रूप में ही है, 'पद्मावत' आदि की तरह विशाल रूप में नहीं। एलिगरी के यही छोटे रूप अंग्रेज़ी में पैरेबल (Parable), फ़ेबल (Fable) अथवा मोटिफ़ (Motif) कहलाते हैं।

अन्योक्ति के उपर्युक्त अलंकार और पद्धति के रूप काव्य के कला-पक्ष से सम्बन्धित हैं, किन्तु उसका एक तीसरा रूप भी है, जिसे हम ध्वनि कहेंगे, और जो काव्य के भाव-पक्ष के अन्तर्गत आता है।

अन्योक्ति ध्वनि

पूर्व-निर्दिष्ट काव्य के सम्प्रदायों में से आनन्दवर्धन का ध्वनिवाद काव्य का भाव-पक्ष कहलाता है। इसी में

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ८०९-११, सं० १९९७।

२ : अन्योक्ति : स्वरूप और महत्त्व

हम अन्योक्ति की सामान्य रूप-रेखा तथा उसके विभिन्न रूपों की ओर संकेत कर आए हैं। उन सब का विस्तृत विवेचन करने से पहले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम अन्योक्ति के स्वरूप तथा उसके महत्त्व पर विचार किया जाए। हम देख आए हैं कि काव्य की उक्ति साधारण उक्ति की अपेक्षा अन्य ही हुआ करती है, चाहे वह शब्द की हो, अर्थ की हो, अथवा भाव की हो। उक्ति का अर्थ भी यहाँ वाच्यार्थ-अभिधान तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत इसमें लक्षणा और व्यंजना द्वारा अर्थ-प्रतिपादन भी रहता है। वक्रोक्ति, समासोक्ति आदि में साहित्य के व्याख्याताओं ने उक्ति का अर्थ व्यंग्यबोधन-परक ही लिया है। अर्थ-क्षेत्र में 'अन्य' शब्द से यद्यपि सामान्यतः 'उपमान' लिया जाता है, तथापि इसके अधुनातन अर्थ में प्रतीक और संकेत को भी सन्निविष्ट किया जाने लगा है। उपमान को अप्रस्तुत, अप्रकृत या अवर्ण्य भी कहते हैं। इसके विपरीत जिसका हम वर्णन कर रहे हों, वह उपमेय, प्रस्तुत, प्रकृत या वर्ण्य कहलाता है। तुलनात्मक रूप से काव्य में प्रस्तुत के समानान्तर स्थित अप्रस्तुत प्रस्तुत का रहस्य समझने में बड़ा सहायक होता है। प्रस्तुत जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कोई भी वस्तु या तथ्य होता है, जो काव्य का आधार बनता है। इसे ही काव्य का विभाव-पक्ष भी कहते हैं, जिसका आलम्बन करके कवि अपनी कल्पना-सृष्टि खड़ी करता है। जगत् के स्थूल या सूक्ष्म, मूर्त्त या अमूर्त्त, भौतिक या आध्यात्मिक, भीषण या शान्त, सुन्दर या असुन्दर, सभी पदार्थ इसके अन्तर्गत आ सकते हैं। प्रस्तुत की सीमा नहीं है; वह अनन्त है। संभवतः इसी लिए कवि-कर्म को लक्ष्य करके भामह को यह कहना पड़ा हो—"न वह कोई ऐसा शब्द है, न वह कोई ऐसा अर्थ है, न वह कोई ऐसा शिल्प है, और न ही वह कोई ऐसी क्रिया है, जो काव्य का अंग न बन सके। देखिए, कवि के

अप्रस्तुत विधान

ऊपर कितना भार है ।"[1] अप्रस्तुत काव्य का कल्पना-पक्ष होता है । प्रस्तुत की तरह अप्रस्तुत की भी कोई सीमा नहीं । यह भी मूर्त्त-अमूर्त्त, स्थूल-सूक्ष्म आदि सभी तरह का बन सकता है । प्राचीन काल से चले आते हुए भक्ति-काल एवं रीति-युग के अप्रस्तुत जब घिस-पिट गए और उनकी यथेष्ट अभिव्यंजकता और प्रेषणीयता जाती रही, तो छायावादी कवियों को काव्य-क्षेत्र के एकदम नए प्रस्तुतों—अन्तर्जगत् के अज्ञात सौन्दर्य एवं सूक्ष्म भावों—को अभिव्यक्त करने के लिए अपना नया ही अप्रस्तुत विधान निर्माण करना पड़ा । इधर अब प्रगतिवादी और प्रयोगवादी भी प्रस्तुत स्थूल जगत् के लिए अपना और ही प्रकार का अप्रस्तुत विधान गढ़ने में लगे हुए हैं । इस तरह प्रस्तुत और अप्रस्तुत की अनन्तता एवं नित्य नव-नवता के कारण काव्य का भी अनन्त और नित्य नव-नव होते जाना स्वाभाविक है । किन्तु यह आवश्यक है कि प्रस्तुत कैसा भी क्यों न हो, उस पर कवि का अप्रस्तुत विधान अथवा कल्पना ऐसी बने कि पढ़ते ही वह पाठक को पूर्ण बिम्ब-ग्रहण करा दे, अर्थात् उससे वह पाठक के हृदय में भी प्रस्तुत के सौन्दर्य, आकार, गुण, क्रिया अथवा व्यापार-समष्टि का वैसा ही चित्र खींच दे, जो प्रस्तुत को देखकर कवि के हृदय में खिंचा हो और साथ ही उसमें भी वैसी ही अनुभूति अथवा भावोद्रेक कर दे, जो कवि को हुआ हो । प्रस्तुत-विषयक अविकल सौन्दर्यानुभूति तथा रस-मग्नता में पाठक और कवि की यह एकाकारता ही अप्रस्तुत विधान की सफलता की कसौटी है । उदाहरण के लिए मेहरुन्निसा के नवोदित यौवन-सौन्दर्य का अप्रस्तुत विधान देखिए :

> **यह मुकुल अभी ही खिलकर, मुख खोल अवाक् हुआ है ।**
> **है अभी अछूता बामन, मधुपों ने नहीं छुआ है ।।**
> **है हृदय पुष्प अनबेधा, है नहीं किसी ने तोड़ा ।**
> **शृंगार हार का करके, है नहीं गले में छोड़ा ।।**
> **मन-मन्दिर सुरुचि बना है, है प्रतिमा अभी न थापी ।**
> **यौवन है उठा घटा-सा, नाचा है नहीं कलापी ।।**[2]

पढ़ते ही नव-यौवन का चित्र अपने अस्पृष्ट, शुद्ध, अनविद्ध रूप में सामने खड़ा होकर हृदय को भाव-तरंगित कर देता है । कबीर, जायसी, प्रसाद, पंत, महादेवी आदि कवियों के माधुर्य-भाव के रहस्यवादी गीत और गीतिकाओं को

१. **न स शब्दो, न तद् वाच्यं, न तच्छिल्पं, न सा क्रिया ।**
जायते यन्न काव्यांगम्, अहो ! भारो महान् कवेः ।।
'काव्यालंकार', ५।३ ।

२. 'नूरजहाँ', गुरुभक्तसिंह, पृ० ४५, एकादश सं० ।

उनके अप्रस्तुत विधान ने ही गौरव प्रदान किया है। वस्तुतः काव्य में अप्रस्तुत विधान ही एक ऐसा तत्व है, जो सुन्दर वस्तु को सुन्दरतम तो बनाता ही है, जो वस्तु कुरूप और कुत्सित होती है, उसे भी आकर्षक और मनमोहक कर देता है। इसी लिए प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि शेली का कहना है कि "कविता सभी वस्तुओं को सुन्दर बना देती है। वह सुन्दरतम की सुन्दरता को उभार देती है और कुरूपतम पर सुन्दरता मँजो देती है"।[1] कविता में सौन्दर्य-निर्माण की यह प्रक्रिया प्रायः अप्रस्तुत विधान के माध्यम से होती है। संस्कृत के कवि-सम्राट् कालिदास के अप्रस्तुत विधान के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि कैसी भी भद्दी और नीरस वस्तु, कथानक अथवा घटना क्यों न हो, वे उस पर अपनी कला-तूलिका से सुन्दर अप्रस्तुत रूप भरकर ऐसा जीवन्त तथा मार्मिक बना देते हैं कि कुछ न पूछिए। उदाहरण के लिए विश्वामित्र के आश्रम में राम द्वारा ताड़का-वध का चित्र लीजिए :

> **राम-मन्मथ-शरेण ताड़िता, दुस्सहेन हृदये निशाचरी।**
> **गन्धवद्-रुधिर-चन्दनोक्षिता, जीवितेश-वसतिं जगाम सा॥**[2] (रघुवंश)

राम के एक ही तीखे बाण से तत्काल यमलोक (जीवितेश-वसति) सिधारती हुई ताड़का के शरीर का खून में लथ-पथ होना और बुरी गन्ध छोड़ना—कितना बीभत्स एवं लोमहर्षक दृश्य है। किंतु कालिदास ने अपनी अप्रस्तुत योजना द्वारा शृङ्गार का पुट डालकर उसे कितना भव्य और चमत्कृतिपूर्ण बना दिया—"राम-रूपी कामदेव के बाण से हृदय में बिद्ध हो शरीर में रुधिर-रूपी सुगन्धित चन्दन का लेप किए हुए उसे जीवितेश (प्रियतम) के स्थान को जाना ही सूझा।" इस तरह काव्य-जगत् में कवि की प्रतिभा-पारस मणि के स्पर्श-मात्र से लोहा लोहा न रहकर एकदम स्वर्ण बन जाता है। अतएव अप्रस्तुत योजना को लक्ष्य करके श्री रामदहिन मिश्र ने ठीक ही कहा कि "यह काव्य का प्राण है, कला का मूल है और कवि की कसौटी है; यही काव्य में प्रभाव उत्पन्न करती है, प्रेषणीयता लाती है, भावों को विशद बनाती है और रमणीयता को

---

१. Poetry turns all things to loveliness, it exalts the beauty of that which is most beautiful, and it adds beauty to that which is most deformed.—A Defence of Poetry.

२. **राम-काम के दुस्सह शर से**
आहत छाती में निशाचरी
गन्धमय रुधिर चन्दन लथ-पथ
चली गई जीवितेश-नगरी।

वर्द्धित करती है ।"[1]

अन्योक्ति अप्रस्तुत विधान की परिनिष्ठा—चरम [illegible]—है । अप्रस्तुत विधान उपमा से प्रारम्भ होता है, अतएव उपमा सभी साम्यमूलक अलंकारों की आधार-भित्ति है । इसमें सन्देह नहीं कि कभी-कभी अप्रस्तुत विधान विरोध-मूलक भी होता है, किन्तु साम्य-मूलक अलंकारों में अपेक्षाकृत अधिक अनुभूति दिखाई देती है । साथ ही साहित्य में इनका कार्य-क्षेत्र भी अपेक्षाकृत विस्तृत है । [illegible] और विरोध-मूलक अलंकार अर्थालंकार हुआ करते है और यही मुख्य काव्यालंकार भी हैं । हम मानते है कि कभी-कभी कोई शब्दालंकार, विशेषत: श्लेष, भी साम्य-मूलक बनकर एक जैसे शब्दों में प्रस्तुत-अप्रस्तुतों अथवा कभी-कभी प्रस्तुत-प्रस्तुतों को भी समानान्तर खड़ा करके अन्योक्ति का निर्माण करता है । हम आगे देखेंगे कि किस तरह बिहारी आदि की कुछ अन्योक्तियाँ शब्द-साम्य पर ही आधारित हैं, अर्थ-साम्य पर नही । संस्कृत-साहित्य में 'वासवदत्ता', 'कादम्बरी' [illegible]ो लेकर ही बहुत-सी अप्रस्तु[illegible] योजनाओं से भरे पड़े हैं । किन्तु शाब्दिक सादृश्य वाली अप्रस्तुत योजना को वास्तव में कलाकार का निरा मस्तिष्क का व्यायाम ही समझिए । उससे हमें रसानुभूति नहीं होती; वह हृदय को आन्दोलित नहीं करती, हाँ, बुद्धिमात्र को चमत्कृत कर देती है । हृदय को संबल देना अथवा भाव उद्दीप्त करने का काम तो वास्तव में आर्थिक साम्य वाले अप्रस्तुत विधान का ही है, इसी लिए आर्थिक अलंकार का ही काव्य में विशेष महत्वपूर्ण स्थान है । 'अग्नि-पुराण' में तो यह स्पष्ट घोषणा की गई है कि 'अर्थालंकारों के बिना सरस्वती विधवा-जैसी है' ।[2] हम तो कहेंगे कि विधवा-जैसी क्यों, विधवा ही है । अप्रस्तुत विधान वाले अलंकारों में उपमा सब में प्रधान है, यह हम कह आए हैं । हम तो अब यहाँ तक कहेंगे कि उपमा ही रूप बदलने पर नया-नया नाम ग्रहण करके, अपने क्रमिक विकास के चरम फल, प्रस्तुत का अप्रस्तुत के भीतर विलय कर देने वाली ऐकात्मावस्था—अन्योक्ति—में परिसमाप्त होती है । अप्पय दीक्षित के शब्दों में "यह उपमा एक नटी (आजकल के चित्रपट की एक तारिका) है, जो विभिन्न चित्र-भूमिकाओं (रूपों) को अपनाकर काव्य के रंगमच पर नाचती हुई काव्य-वेत्ताओं का

अप्रस्तुत विधान का मूल : उपमा

---

१. 'काव्य में अप्रस्तुत-योजना', पृ० ७३ ।

२. 'अर्थालंकार-रहिता विधवेव सरस्वती' । ३४५।२ ।

मनोरंजन करती रहती है" ।[1] दण्डी तथा उसके अनुकरण पर हिन्दी के आदि आचार्य केशव ने भी उपमा में जब थोड़ी-सी ही विशेषता देखी, तो उसे 'उपमा' शब्द के आदि में जोड़कर उपमा का ही पन्द्रह-बीस अरों का-सा एक चक्र बना दिया, जैसे नियमोपमा, अतिशयोपमा, निन्दोपमा, प्रशंसोपमा, निर्णयोपमा, अद्भुतोपमा, अभूतोपमा, हेतूपमा, ललितोपमा, संकीर्णोपमा, मालोपमा इत्यादि। किन्तु अधिक विशेषता दिखाई देने पर आचार्यों को उपमा का नाम बदल देना पड़ा, जैसे अनन्वय, रूपक, सन्देह, भ्रान्ति, स्मरण, उत्प्रेक्षा, अपन्हुति, दृष्टान्त, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, अन्योक्ति आदि। इस तरह उपमा सभी साम्य-मूलक अर्थालंकारों में स्रक्-सूत्र की तरह अन्तःप्रविष्ट रहती है। शब्दान्तर में, "साम्य-मूलक अलंकार-वर्ग एक-मात्र उपमा का ही प्रस्तार है और वही सबकी बीज-भूत है।"[2] यही कारण है कि वामन ने अपने 'काव्यालंकार-सूत्र' ग्रन्थ के द्वितीयाध्याय 'उपमा-विचार' में उपमा पर विचार करके तृतीयाध्याय का नाम ही 'उपमाप्रपंच-विचार' रखा, जिसमें सभी रूपक आदि अलंकार उपमा-मूलक बताए है। उपमा के अन्योक्ति तक के विकास-क्रम का विश्लेषण करने से पहले हम यह बता देना आवश्यक समझते है कि उपमा में अप्रस्तुत रूप-विधान स्वाभाविक रूप में ही प्रस्तुत के स्वरूप, अर्थात् गुण-क्रियादि बताने के लिए नहीं किया जाता। 'गवय-मृग गाय-जैसा होता है', 'लड़की का मुख अपने भाई की तरह है' इत्यादि साम्य-विधान उपमा का विषय नहीं बनता।[3] उपमा में तो साम्य द्वारा स्वाभाविक वस्तु-वर्णन न होकर सौन्दर्य एवं अनुभूतिपूर्ण वस्तु-वर्णन होता है। सौन्दर्य काव्य में कवि-कल्पना द्वारा प्रसूत होता है और सौन्दर्य को ही अलंकार भी कहते हैं।[4] साहित्य में चारुत्व, वैचित्र्य और विच्छित्ति, अथवा प्रसाद के शब्द में 'छाया', सब सौन्दर्य के ही पर्याय हैं।[5] सौन्दर्यपूर्ण प्रस्तुत वर्णन पाठकों के अन्तस्तल में पैठकर उछ्वसन और भावो-

१. उपमैषा शैलूषी सम्प्राप्ता चित्र-भूमिकाभेदात्।
रंजयति काव्य-रंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥ 'चित्रमीमांसा', पृ० ६।

२. उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूता।
राजानकरुय्यक, 'अलंकार-सर्वस्व', पृ० १२।

३. काव्यबन्धेषु काव्य-लक्षणेषु सत्सु इत्यनेन गौरिव गवय इति नायमलंकारः—इति दर्शितम्। अभिनव गुप्त, 'अभिनव भारती', पृ० ४०५।

४. सौन्दर्यमलंकारः। वामन, 'काव्यालंकार सूत्र', १।१।२।

५. 'चारुत्वमलंकारः', 'चारुत्वं हि वैचित्र्यापरपर्यायं प्रकाशमानमलंकारः' 'शब्दार्थयोः विच्छित्तिरलंकारः'। 'व्यक्तिविवेक की टीका', पृ० ४ और ४४।

त्तेजन पैदा कर देता है, स्वरूप-बोध कराने-मात्र तक सीमित नहीं रहता। यह बात उपमा में ही नहीं, बल्कि रूपक, सन्देह, भ्रान्ति, उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति आदि सभी उपमा-मूलक अलंकारों मे है। 'रामचरितमानस' मे हमें यत्र-तत्र कितने ही सन्देह अथवा भ्रान्तियाँ मिलती है। उदाहरणार्थ, हनुमान को राम-लक्ष्मण से प्रथम भेंट में :

'की तुम तीन देव महँ कोऊ, नर नारायण की तुम दोऊ।' (कि० का०)

यों सन्देह होता है। इसी तरह अशोक-वृक्ष पर से हनुमान द्वारा अँगूठी गिराने पर सीता को :

जानि अशोक अङ्गार, दीन्ह हर्षि उठि कर गहेउ। (सु० का०)

यों भ्रांति हो जाती है। परन्तु यहाँ यह सन्देह और भ्रांति दोनों वास्तविक है। अलंकार-कोटि में तो प्रतिभोत्थित सन्देह और भ्रान्ति ही आएँगे[1] और 'प्रतिभोत्थित' से मतलब है कल्पना-प्रसूत, अर्थात् कवि-प्रौढ़ोक्ति से उद्भावित विच्छित्ति-पूर्ण न कि स्वाभाविक। इस तरह काव्य की सारी अप्रस्तुत योजना उपमा से लेकर अन्योक्ति तक कवि-कल्पित सौन्दर्य अथवा वैचित्र्य को लेकर ही चलती है। उपमा द्वारा उपस्थित सुन्दर अप्रस्तुत योजना के एक-दो उदाहरण देखिए :

'नयन तेरे मीन-से हैं, सजल भी क्यों दीन ?
पद्मिनी-सी मधुर मृदु तू, किन्तु है क्यों दीन ? (गुप्त)
बंकिम भ्रू-प्रहरण पालित युग नेत्र से
थे कुरंग भी आँख लड़ा सकते नहीं। (कुसुम)

इनमें मूर्त्त अप्रस्तुत 'सजल मीन', 'मधुर मृदु पद्मिनी' तथा 'कुरंग की आँख' मूर्त्त प्रस्तुत 'नयन' तथा 'नायिका' के गुण, क्रिया और आकार-प्रकार का सुन्दर चित्र आँखों के सामने खींचकर हृदय को भावोद्रिक्त कर देते हैं। छायावादी कवियों ने तो स्वरूप और गुण-क्रिया-साम्य के अतिरिक्त प्रभाव-साम्य एवं मूर्त्तों के स्थान में अमूर्त्त अप्रस्तुतों को भी लाकर अप्रस्तुत योजना की काया ही पलट दी; जैसे :

गूँज उठता है जब मधुमास
विधुर उर के-से मृदु उद्‌गार।
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास। (पंत)

---

१. (क) 'सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः।'

विश्वनाथ, 'साहित्य दर्पण', १०।३५।

(ख) साम्यादतस्मिन् तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः। वही, १०।३६।

मृदु सदृश शीतल निराश ही
आलिंगन पाती थी दृष्टि। (प्रसाद)

प्रथम में कुसुम पर 'उर के मृदु उद्‌गार' का अमूर्त्त अप्रस्तुत विधान है, दूसरे में दृष्टि का निराशा से आलिंगन पाना बताकर निराशा के लिए उपमान 'मृत्यु' लाई गई है, जो प्रभाव-साम्य पर टिकी हुई है। इस तरह मूलतः उपमा से उद्‌भूत छायावाद और रहस्यवाद भी भाषा की समास-शक्ति द्वारा कसकर ठोस बन साम्य-विधान के लिए प्रकृति को प्रतीक के रूप में अपनाते हुए अन्योक्ति-पद्धति के भीतर आ जाते है। जैसा कि हम पीछे संकेत कर आए हैं, अधिकतर अन्योक्तियाँ प्रकृति-तत्त्व पर आश्रित होती है और विविध प्रकृति-रूपकों द्वारा जीवन एव जीवन के विविध रहस्यों को और भावों को उघाड़ती है।

उपमा-मूलक अलंकारों का वर्गीकरण

उपमा का अन्योक्ति तक विकास-क्रम बताने से पूर्व हम उपमा-मूलक अलंकारों के वर्गीकरण पर थोडा-सा विचार करना आवश्यक समझते है। यह तो सच है कि संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों ने अलंकारों के वैज्ञानिक ढंग पर वर्गीकरण की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया। प्रारम्भ में नाट्य-शास्त्र के आदि आचार्य भरत मुनि ने तीन आर्थिक और एक शाब्दिक अलंकार माने, जिनका उन्होंने यों क्रमशः रखा—उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक।[1] यह क्रम सर्वथा वैज्ञानिक है। उपमा मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत का साम्य वाच्य होता है। दीपक साम्य वाच्य न करके उन दोनों के साथ एक धर्म—गुण-क्रिया—का योग दिखाकर तादात्म्य के लिए भूमि बनाता है। बाद को रूपक समान गुण-क्रिया होने के कारण प्रस्तुत और अप्रस्तुत को समानान्तर रखकर प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप—तादात्म्य—स्थापित कर देता है। भरत के बाद अलंकार-शास्त्र के आदि आचार्य भामह ने भरत-सम्मत अलंकारों में एक और जोड़कर उनका इस तरह क्रम ही पलट दिया—अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक, उपमा। (इनके अतिरिक्त उन्होंने कितने ही और अलंकार भी माने हैं)।[2] दण्डी ने अपने समय तक विकास में आए हुए अलंकारों के साथ उपर्युक्तों में भरत का ही क्रम रखा। अलंकारों का सर्व-प्रथम वर्गीकरण यथार्थतः उद्‌भट ने किया, किन्तु वे साम्य-मूलक अलंकारों में से रूपक,

---

१. उपमा दीपकश्चैव रूपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैतेह्यलङ्कारश्चत्वारः परिकीर्तिताः।
'नाट्यशास्त्र', पृ० १६।४३।

२. डॉ० ओमूप्रकाश-कृत 'हिन्दी-अलंकार-शास्त्र', पृ० ११।

दीपक और उपमा को शाब्दिक अलंकारों के साथ, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति और अतिशयोक्ति को विभावना के साथ, उत्प्रेक्षा को यथासंख्य के साथ, अपन्हुति, अप्रस्तुत-प्रशंसा, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता और निदर्शना को विरोध के साथ और दृष्टान्त, सन्देह और अनन्वय को काव्य-लिंग, संसृष्टि आदि के साथ विभिन्न वर्गों में रखकर वैज्ञानिक दृष्टि से भूल कर गए।[1] बाद में रुद्रट और रुय्यक आदि ने इसे सुधारा। रुय्यक ने अपने वर्गीकरण में सभी साम्य-मूलक अलंकारों को एक ही वर्ग में रखा। यह अपेक्षाकृत अच्छा है। हिन्दी के आदि आचार्य केशव ने भी प्रारम्भ में उद्भट की तरह साम्य-मूलक अलंकारों में से किसी को कहीं और किसी को कहीं रखकर वर्गीकरण में अव्यवस्था ही दिखाई है।[2] उनके परवर्ती आचार्यों ने भी इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। दास कवि ही ऐसे हैं जिन्होंने वर्गीकरण का कुछ स्तुत्य प्रयत्न किया है, किन्तु इनका वर्गीकरण अपने ही स्वतन्त्र ढंग का है। इन्होंने अप्रस्तुत विधान वाले अलंकारों को एक वर्ग की अपेक्षा पाँच वर्गों में विभक्त किया है और यही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने अन्योक्ति को संकुचित परिधि से हटाकर एक स्वतन्त्र वर्ग का रूप दिया और उसके भीतर छः अलंकार सन्निविष्ट किए।[3] मध्ययुगीन आचार्यों ने प्रायः संस्कृत के वर्गीकरण का ही अनुसरण किया है। आधुनिकतम आचार्य रामदहिन मिश्र रुय्यक का प्रकार अपनाते हुए अलंकारों के सादृश्य-गर्भ वर्ग में २८ अलंकारों का यों क्रम रखते हैं[4] :

१. भेदाभेदतुल्यप्रधान :		उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण	४
२. अभेदप्रधान :	(क)	(आरोपमूलक) रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख और अपन्हुति	६
	(ख)	(अध्यवसान-मूलक) उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति	२
३. गम्यमान औपम्य :	(क)	(पदार्थगत) तुल्ययोगिता और दीपक	२
	(ख)	(वाक्यार्थगत) प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना	३

१. वही, पृ० १७।

२. वही, पृ० ६७।

३. 'काव्य-निर्णय', बारहवाँ 'अन्योक्ति' उल्लास।

४. 'काव्य-दर्पण', पृ० ४३८।

(ग) (भेदप्रधान) व्यतिरेक और सहोक्ति — २
(घ) (विशेषण-वैचित्र्य) समासोक्ति और परिकर — २
(ङ) (विशेषण-विशेष्य-वैचित्र्य) श्लेष — १
(च) (शेष) विनोक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा, पर्यायोक्ति, अर्थान्तरन्यास, व्याज-स्तुति और आक्षेप — ६

कुल २८

उपर्युक्त वर्गीकरण अलंकारों के स्वरूप एवं परस्पर साजात्य के आधार पर किया गया है, क्रमिक विकास के आधार पर नहीं। इसके अतिरिक्त हमारे विचार से इनमें कुछ ऐसे अलंकार भी आ गए हैं, जिनमें अप्रस्तुत योजना अथवा सादृश्य-सम्बन्ध नहीं, प्रत्युत कार्य-कारण-भाव, सामान्य-विशेष-भाव आदि सम्बन्ध है, जैसे परिकर, सारूप्य-निबन्धना से भिन्न अप्रस्तुत-प्रशंसा के भेद, अभेदातिशयोक्ति से भिन्न अतिशयोक्तियाँ, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप आदि। उपमा का लक्षण करते हुए आचार्य मम्मट ने स्पष्ट लिख रखा है कि यहाँ उपमान-उपमेयों का ही साधर्म्य होता है न कि कार्य-कारणादि का।[1] साम्य-मूलकों से इनकी गणना एक प्रकार का गड्डरिका-प्रवाह (भेड़िया-धसान) ही समझिए। इस विवेचन के अधिक विस्तार में जाना हमारे लिए अप्रकृत होगा। हमें तो अन्योक्ति-विकास में योग देने वाले शुद्ध, सादृश्य-गर्भ उपमा, रूपक, सन्देह, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों को ही लेना है और यह देखना है कि उनका ऐसा कौन-सा क्रम अथवा वर्गीकरण हो सकता है जिसके अनुसार उनको अपना माध्यम बनाकर सर्व-बीजभूता उपमा भिन्न-भिन्न स्थूल-सूक्ष्म अवस्थाओं में से गुजरती हुई अन्त में अन्योक्ति में पर्यवसित होती है।

उपमा का विकास और उसकी दो धाराएँ

अप्रस्तुत विधान वाले अलंकारों के विवेचन-प्रसंग में शुक्लजी ने लिखा है कि "जहाँ वस्तु, गुण या क्रिया के पृथक्-पृथक् साम्य पर ही कवि की दृष्टि रहती है, वहाँ वह उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का सहारा लेता है और जहाँ व्यापार-समष्टि या पूर्ण प्रसंग का साम्य अपेक्षित होता है, वहाँ दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास और अन्योक्ति का"।[2] इसमें सन्देह

---

१. **उपमानोपमेययोरेव न तु कार्यकारणादिकयोः साधर्म्यम्। 'काव्य प्रकाश' उल्ला० १० सू०, १२५ वृत्ति।**

२. **'रस-मीमांसा', पृष्ठ ३४६।**

नहीं कि उपमा, सन्देह, अपन्हुति, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि के रूप में की गई अप्रस्तुत योजना के पीछे कवि का उद्देश्य अधिकतर प्रस्तुत के स्वरूप, गुण अथवा क्रिया का पृथक्-पृथक् साम्य-निरूपण रहता है। यही कारण है कि ये अलंकार अधिकतर स्फुट या मुक्तक चलते है, व्यापक बनकर कम। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रस्तुत की व्यापार-समष्टि अथवा जीवन का पूर्ण प्रसंग लेकर चलने वाले दृष्टान्त आदि अलंकारों के भीतर उपमा काम न करे, अन्यथा उपमा का सभी साम्य-मूलक अलंकारों में बीज-रूप होना, 'शैलूषी' बनकर कार्य करना अथवा, केशव मिश्र के शब्दों में, अलंकारों का शिरोरत्न, काव्य-सम्पदा का सर्वस्व और कवि वंश की मा बनना[1] कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता। हाँ, इतना हम अवश्य मानेगे कि पूर्ण प्रसंग लेकर चलने वाले अलंकारो में उपमा वाच्य न होकर प्रायः गम्य रहती है। वास्तव में देखा जाए तो दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार भी गम्य उपमा की ही विशेष अवस्थाएँ हैं, जिनमें से होकर वे प्रस्तुत-अप्रस्तुत के अभेद—सारूप्य-निवन्धना अप्रस्तुत-प्रशंसा—में अवसित होते हैं। इसी तरह वस्तु, गुण या क्रिया का साम्य लेकर चलने वाले रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह आदि भी उपमा की ही अवस्था-विशेष है और इनके माध्यम से वह अन्त में अभेदातिशयोक्ति अथवा अध्यवसित रूपक में परिणत होती है। उपमा की इन दोनों प्रकार की विकास-धाराओं की चरम परिणतियों में अप्रस्तुत प्रस्तुत का स्थानापन्न बन जाता है और प्रतीक-रूप से ही प्रस्तुत की अभिव्यक्ति करता है। इस तरह अध्यवसित रूपक और सारूप्य-निबन्धना अप्रस्तुत-प्रशंसा दोनों का हम अन्योक्ति-वर्ग में अन्तर्भाव करेंगे। इसके कारणों का विवेचन आगे होगा।

अध्यवसित रूपक धारा

कहना न होगा कि 'अध्यवसित रूपक' वाली धारा लक्षणा को लेकर उपचार-वक्रता से चलती है और प्रतीक को प्रस्तुत के गुण-क्रिया तक पहुँचा देती है। उदाहरण के लिए आँखों का निम्नलिखित अध्यवसित रूपक देखिए :

प्रथम, भय से मीन के लघुबाल जो
थे छिपे रहते गहन जल में, तरल
ऊर्मियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें
लालसा अब है विकल करने लगी। (पंत)

---

[1] अलंकार-शिरोरत्नं, सर्वस्वं काव्य-सम्पदाम्।
उपमा कवि-वंशस्य मातैवेति मतिर्मम। 'अलंकार-शेखर'
मरीचि ११, पृष्ठ ३२।

यहाँ 'मीन के लघुबाल' आँख, 'गहन जल' घूंघट और 'तरल ऊर्मियों' चंचल कटाक्षों के प्रतीक है। भाव यह है कि जो आँखें पहले मुग्धावस्था में लज्जा के कारण घूंघट की ओट में छिपी रहा करती थीं, उनमें अब यौवन-मद के कारण चचल कटाक्षों के विलास की चाह होने लगी। प्रस्तुत का यह अध्यवसित रूप अप्रस्तुत विधान के विकास-क्रम की चरम अवस्था है। वास्तव में इसका प्रारम्भ

प्यासी मछली-सी आँखें
थीं विकल रूप के जल में (प्रसाद)

अथवा

नयन तेरे मीन-से हैं सजल भी क्यों दीन ? (गुप्त)

उपमा के बाद प्रस्तुत और अप्रस्तुत के गुण और क्रिया का परस्पर ठीक सन्तुलन करने के लिए 'उपमेयोपमा' प्रस्तुत को अप्रस्तुत के और अप्रस्तुत को प्रस्तुत के पलड़े पर क्रमशः धरकर यों देखती है :

मीनन से महा मनमोहन हैं नैन वाके,
मीन इनहीं से नीके सोहत अमल हैं। (सूरति मिश्र)

परस्पर गुण-साम्य पक्का हो जाने पर अप्रस्तुत को देखकर अब प्रस्तुत का 'स्मरण' हो जाना स्वाभाविक ही है :

खेल खेलती आगे दीखी
पंक्ति उसको जब खंजनों की,
आहें भर याद करने लगा
वह प्रियतमा के चितवनों की।[1] (अनुवाद)

बाद को कभी-कभी यों सन्देह भी हो जाया करता है :

मद-भरे ये नलिन नयन मलीन हैं
अल्प जल में या विकल लघु मीन हैं। (निराला)

परस्पर निश्चित सादृश्य के कारण प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के आरोप के लिए 'निदर्शना' अब प्रस्तुत को अप्रस्तुत का धर्म अपनाने देती है :

चंचलता लघु मीनों की
है इन नयनों में आई। (स्व-कृत)

अब 'उत्प्रेक्षा' की बारी आती है और वह प्रस्तुत पर यों अप्रस्तुत की सम्भावना—कल्पना—करने लगती है :

---

१. **अदृश्यन्त पुरस्तेन खेलत्खंजनपंक्तयः।**
अस्मर्यन्त विनिःश्वस्य प्रियानयनविभ्रमाः॥ (अज्ञात)

चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट पट झीन।
मानहु सुर सरिता विमल, जल उछरत हों जुग मीन॥ (बिहारी)

'उत्प्रेक्षा' द्वारा आरोप की पृष्ठभूमि तैयार की जाने पर 'रूपक' प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप—तादात्म्य—स्थापित कर देता है :

नैन मीन, मकराकृत कुण्डल, भुज सरि सुभग भुजंग। (सूर)

अन्त में 'अपन्हुति' द्वारा प्रस्तुत का निषेध किए जाने पर अप्रस्तुत ही प्रस्तुत के प्रतीक रूप में शेष रह जाता है और इस तरह प्रस्तुतगत गुण-क्रिया का पृथक्-पृथक् साम्य बतलाती हुई अप्रस्तुत योजना प्रतीकात्मक अध्यवसान में समाप्त हो जाती है। यही उपमा विकास का वैज्ञानिक क्रम है। इसके एक-दो छायावादी प्रकृति-चित्र और भी देखिए :

कमल पर जो चारु खंजन थे प्रथम
पंख फड़काना नहीं थे जानते,
चपल चोखी चोट कर अब पंख की
ये विकल करने लगे हैं भ्रमर को। (पंत)

यहाँ 'कमल' मुख का प्रतीक है, एवं 'खंजन' आँख का, 'पंख फड़काना' देखने के लिए पलक उठाने का, 'चोखी चोट' कटाक्ष का और 'भ्रमर' प्रियतम अथवा मन का प्रतीक है।

घिर जातीं प्रलय घटाएँ
कुटिया पर आकर मेरी,
तमचूर्ण बरस जाता था
छा जाती अधिक अँधेरी। (प्रसाद)

यहाँ 'कुटिया', 'घटाएँ', 'तम-चूर्ण' और 'अँधेरी' क्रमशः हृदय, अवसाद, उदासी और क्षोभ के प्रतीक हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि पूर्वोक्त आँख पर मीन और खंजन के अध्यवसान में अप्रस्तुत विधान रूप एवं गुण-क्रिया के साम्य पर आधारित है, क्योंकि आँख का आकार-प्रकार और क्रिया मीन एवं खंजन की-सी है, किन्तु दूसरे उदाहरण में अवसाद आदि का घटा, तम-चूर्ण और अँधेरी के रूप में अध्यवसान प्रभाव-साम्य लिये हुए है। वियोग में हृदय के भीतर काली प्रलय-घटाएँ—जैसे भीषण उदासी, अन्धकार-सा विषाद और तूफान की तरह क्षोभ, हृदय को झकझोर देने वाला नैराश्य, आकुलता आदि तीव्र भावों का संघर्ष—पैदा हो रहा है। भोजराज ने अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत की प्रतीति को समासोक्ति कहकर उसी को अन्योक्ति, अनन्योक्ति और उभयोक्ति माना है,[1]

१. 'सरस्वती-कंठाभरण', ४।४७-४६।

किन्तु अनन्योक्ति की व्याख्या वे इस तरह करते हैं : अनन्योक्ति शब्द से यहाँ अध्यास वाली तद्भावापत्ति कही जाती है ।[1] अध्यास ऐसे आरोप को कहते हैं, जिसमें प्रस्तुत निगीर्ण हो । इसमें मुख्यार्थ असंभव होने से अन्य—अप्रस्तुत—उक्त न होकर अनन्य—प्रस्तुत—ही उक्त होता है । संभवतः इसी विचार से भोज ने इसे अनन्योक्ति कहा हो । इसके उदाहरण भी उन्होंने ऐसे दिए हैं जिन्हें अन्य आलंकारिकों ने रूपकातिशयोक्ति कह रखा है, जैसे :

कमलमनम्भसि कमले कुवलये तानि च कनक-लतिकायाम् ।
सा च सुकुमार-सुभगेत्युत्पात-परम्परा केयम् ॥[2]

यहाँ 'कमल', 'कुवलय' और 'कनक-लता' क्रमशः मुख, आँखें और सुकुमार सुन्दरी के प्रतीक हैं । उभयोक्ति में अन्योक्ति और अनन्योक्ति दोनों मिश्रित रहती है । भोज की अप्रस्तुत-प्रशंसा के रूप में होने वाली अन्योक्ति का विवेचन हम आगे करेंगे ।

दीनदयाल गिरि हिन्दी के रीतियुगीन सुप्रसिद्ध अन्योक्तिकार माने जाते हैं । उन्होंने यद्यपि काव्य का लक्षण-ग्रन्थ तो कोई नहीं लिखा, तथापि वे अपने प्रसिद्ध लक्ष्य-ग्रन्थ 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' में अन्योक्ति को भिखारीदास की तरह व्यापक रूप दे गए हैं । उन्होंने अध्यवसित रूपक को भी अन्योक्ति के अन्तर्गत कर रखा है । उनकी कितनी ही अन्योक्तियाँ स्पष्टतः रूपकातिशयोक्तियाँ हैं । उदाहरण के लिए देखिए :

देखो पथी अचंभ यह जमुना तट धरि ध्यान ।
महि मैं बिहरैं कंज द्वै करैं मंजु अलि गान ॥
करैं मंजु अलि गान नील खंभा तहँ दो पर ।
पिक ध्वनि दामिनि बीच तहाँ सर हंस मनोहर ॥
बरनै 'दीनदयाल' संख पै सोम बिसेखो ।
ता ऊपर अहि तनै ताहि पर बरही देखो ॥[3]

१. अन्योक्ति-शब्देनेहाध्यासविषया तद्भावापत्तिरुच्यते ।
वही, ४।१०१ ।

२. हिन्दी रूपान्तर
बिना जल कमल, कमल पर दो कुवलय
औ' वे तीनों हैं कनक लता पर ।
वह बेचारी हा ! सुभग-सुकोमल
अनर्थ परम्परा यह क्या उस पर !

३. 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम', ४।२० ।

इसमें भगवान् कृष्ण का अध्यवसित रूपक है। भोज के कमल-कुवलय आदि की तरह यहाँ भी कंज, अलि, खम्भा, पिक, संख, बर्हि आदि सब में अंगों का प्रतीकात्मक अध्यवसान है। इसी तरह बाग के रूप में नारी का भी अध्यवसित चित्र देखिए :

> मोहै चंपक छबिन तें पथिक ! न यहि आराम।
> कुन्द कली अवली भली लसत बिंब बसु जाम ॥
> लसत बिंब बसु जाम कीर खंजन संग मिलिके।
> सजैं भौंर तित लोल बोल बिकसैं कोकिल के॥
> बरनै 'दीनदयाल' बाग यह पथ को सोहै।
> पथी ! गौन है दूरि, देख, बीचहि मति मोहै ॥[1]

विद्यापति और सूरदास ने भी अपने दृष्टकूटों में प्रतीकों द्वारा राधिका के ऐसे ही व्यंग्य-चित्र खींच रखे है, जिनको हम आगे पद्धति-प्रकरण में बताएँगे। रामदहिन मिश्र ने समष्टि-रूप में चलने वाले जायसी के 'पद्मावत' को 'रूपकातिशयोक्ति'[2] और रामबहोरी शुक्ल तथा डॉ० भगीरथ मिश्र ने 'प्रतीकात्मक अध्यवसान'[3] कहा है। चन्द्रबली पाण्डे ने नूर मुहम्मद के समष्टि-रूप को लेकर चलने वाले अध्यबसित रूपक 'अनुराग-बाँसुरी'[4] को 'परोक्ति' द्वारा रूपकातिशयोक्ति के ऊपर अन्योक्ति की स्पष्ट छाप लगा दी है। इस तरह प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत का प्रयोग अब अन्योक्ति का सामान्य-सा स्वरूप बन चला है। प्रस्तुत का बोध लक्षणा से हो या व्यजना से, यह कोई विशेष बात नहीं। इसी लिए लक्षणा को लेकर चलती हुई अध्यवसान वाली अप्रस्तुत योजना को हम अन्योक्ति की ही अन्यतम धारा मानेंगे, उससे भिन्न नहीं। डॉ० गोविन्दशरण त्रिगुणायत का भी यही विचार है। वे लिखते हैं—"रूपकातिशयोक्ति को मैं अन्योक्ति का ही एक प्रकार मानता हूँ। दोनों में ही अन्य के द्वारा प्रस्तुत का वर्णन किया जाता है। एक में अन्यपरक अर्थ (वाच्यार्थ) असंगत प्रतीत होता है, किन्तु अन्योक्ति में अन्यपरक अर्थ असंगत नही होता।"[5]

उपमा विकास की दूसरी धारा, जैसा कि शुक्लजी का विचार है, वस्तु, गुण अथवा क्रिया का साम्य न लेकर व्यापार-समष्टि का समन्वय लेकर

१. वही, ४।२३।
२. 'काव्य में अप्रस्तुत योजना', पृ० ६।
३. 'हिन्दी-काव्य का उद्‌भव और विकास', पृ० १४७।
४. उक्त ग्रन्थ की भूमिका, पृ० ७६।
५. व्यक्तिगत पत्र से।

अप्रस्तुत-प्रशंसा धारा

चलती है । यह व्यंजना-प्रधान मानी जाती है, रूपकातिशयोक्ति की तरह लक्षण-प्रधान नहीं। इसमें अप्रस्तुत रूपविधान दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि का निर्माण करता हुआ वाक्यार्थ रूप में चलता है और अप्रस्तुत-प्रशंसा के सारूप्य-निबन्धना भेद में समाप्त होता है । शुक्लजी ने संकीर्ण परिधि में इसी को अन्योक्ति कहा है । पोद्दार, दीन, रामदहिन मिश्र आदि आधुनिक आलंकारिकों का भी यही विचार है । इसमें जीवन का पूर्ण प्रसंग रहता है और शुक्लजी के शब्दों में "कल्पना की पूर्णता किसी एक प्रस्तुत वस्तु के लिए कोई दूसरी अप्रस्तुत वस्तु—जो कि प्रायः कवि-परम्परा में प्रसिद्ध हुआ करती है—रख देने में उतनी नहीं दिखाई पडती जितनी किसी एक पूर्ण प्रसंग के मेल का कोई दूसरा प्रसंग—जिसमें अनेक प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की नवीन योजना रहती है—रखने में देखी जाती है।"[1] यही कारण है कि अन्योक्तियाँ हृदय को हिला देने वाली एवं मर्मस्पर्शी होती है। यदि अन्योक्ति न होती तो सचमुच असीम, अरूप एवं अव्यक्त सारा परोक्ष जगत् अब तक काव्यानभिव्यक्त ही पड़ा रहता। अन्योक्ति को छोड़कर ऐसा कोई भी प्रकार नहीं है, जो उसे वाग्-बद्ध और रूप-बद्ध कर सके। इसलिए कबीर, जायसी, प्रसाद, पंत, महादेवी आदि का परोक्ष-विषयक सारा रहस्यवादी साहित्य अन्योक्ति ही है। उदाहरण के लिए पहले दो वाक्यों में आत्मा और हंस का परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रूप में इस धारा की अन्योक्ति का भी प्रारम्भिक रूप 'दृष्टान्त' देखिए :

तेरा साहिब है घट माहीं
बाहर नैना क्यों खोले ?
हंसा पाये मानसरोवर
ताल-तलैया क्यों डोले ? (कबीर)

पूर्व वाक्य में आत्मा को शरीर के भीतर बताकर उसका बाहर ढूँढना व्यर्थ कहा है और दूसरे वाक्य में हंस को मानस में बताकर उसके लिए 'ताल-तलैयों' में जाने का निषेध किया है। यहाँ समानान्तर प्रस्तुत और अप्रस्तुत वाक्यों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव प्रणिधान-गम्य सादृश्य में पर्यवसित होता है, अर्थात् जिस प्रकार मानस (सरोवर) में रहने वाले हंस के लिए हमें 'ताल-तलैया' नहीं ढूँढ़ने चाहिएँ, उसी तरह मानस (हृदय) में रहने वाले आत्मा को भी हम बाहर क्यों ढूँढ़ ? पूर्वार्ध-गत प्रस्तुत वाक्य को हटाते ही उत्तरार्ध-गत

१. 'रस-मीमांसा', पृ० ३५१ ।

अप्रस्तुत वाक्य

हंसा पाये मानसरोवर
ताल-तलैया क्यों डोले ?

अन्योक्ति का निर्माण कर देता है। इसी तरह प्रस्तुत रूप-विधान को हटाकर अप्रस्तुत रूप-विधान द्वारा बनी हुई अध्यात्मिक अन्योक्तियाँ और भी देखिए :

हे राजहंस ! यह कौन चाल ?
तू पिंजर-बद्ध चला होने
बनने अपना ही आप काल। (रायकृष्णदास)

हंसा प्यारे ! सरवर तजि कहँ जाय ?
जेहि सरवर बिच मोती चुनते, बहुविधि केलि कराय।
सूख ताल पुरइन जल छोड़े कमल गयो कुंभिलाय।
कह कबीर जो अब की बिछुरे, बहुरि मिले कब आय ॥ (कबीर)

यहाँ 'हंस' आत्मा का तथा 'पिंजर और सरवर' देह के प्रतीक हैं। इसी तरह का कबीर का एक दूसरा प्रकृति-चित्र भी लें :

काहे री नलिनी ! तू कुमिलानी, तेरे ही नालि सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में वास, जल में नलिनी ! तोर निवास।
ना तलि तपति न ऊपर आगि, तोर हेत कहुँ कासनि लाग।
कहै कबीर जे उदिक समान, ते नहीं मूए हमारे जान ॥[1]

इसमें 'नलिनी' और 'जल' क्रमशः जीव और ब्रह्म के प्रतीक हैं। जीव को ब्रह्म-रूप न होने के कारण बड़ी बेचैनी रहती है। किन्तु यह उसका अज्ञान है। वास्तव में वह ब्रह्म-रूप ही है और यह रहस्य कबीर-जैसे ज्ञानी पुरुषों को भली-भाँति ज्ञात है, जिन्हें ब्रह्म-साक्षात्कार हो चुका है। अध्यात्म-क्षेत्र के अतिरिक्त भी हम जीवन के किसी भी पार्श्व को अथवा सारे प्रसंग को अन्योक्तियों द्वारा अच्छी तरह उघाड़ सकते हैं। गत भारतीय स्वतंत्रता-संघर्ष में जेल से छूटकर घर आए हुए नजरबन्द वीर का द्विवेदीयुगीन सिंह की अन्योक्ति में वर्णन देखिए :

कठघरे में रोक रखता है तुम्हें कोई कहीं
तो वहाँ भी धन्य तुमको दीनता आती नहीं
छूटते ही गर्जता है पूर्व के उत्साह से,
सिंह जा निज बन्धुओं को भेंटता है चाह से। (रामचरित उपाध्याय)

अन्योक्ति में देश की स्वतन्त्रता की कामना का छायावाद-युगीन चित्र भी

१. 'कबीर-ग्रन्थावली', पृष्ठ १०८।

देखिए :

कीर का प्रिय, आज पिंजर खोल दो !
क्या तिमिर कैसी निशा है,
आज विदिशा ही दिशा है,
दूर खग आ निकटता के
अमर बन्धन में फँसा है !
प्रलय-घन में आज राका घोल दो ![1] (महादेवी)

यह अन्योक्ति देह-पिंजर-बद्ध आत्मा की मोक्ष-कामना के रूप में भी लग सकती है। इसी तरह का एक प्रगतिवादी चित्र भी देखें :

जल उठे हैं तन बदन से, क्रोध में शिव के नयन से
खा गए निशि का अँधेरा हो गया खूनी सबेरा
जग उठे मुरदे बेचारे बन गए जीवित अँगारे
रो रहे थे मुँह छिपाये आज खूनी रंग लाये।
(केदारनाथ अग्रवाल 'कोयले')

यहाँ काले-काले रंग के जलकर लाल बने कोयलों से काले रंग के क्रोध में आग-बबूले बने मजदूर विवक्षित है। इसे हम रूपकातिशयोक्ति वाले भेद के अन्तर्गत भी कर सकते हैं। जीवन के नैतिक पहलू का एक रीति-युगीन व्यंग्य-चित्र भी देखिए :

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देख विहंग ! विचार !
बाज ! पराये पानि पर तू पंछी हि न मार। (बिहारी)
('बिहारी रत्नाकर' दो० ३००)

यहाँ बाज को कहा जा रहा है कि 'तू विहंग—विशाल-गगन-विहारी—है, तेरे लिए कहीं कमी नहीं। अरे, फिर तनिक तो सोच कि तू दूसरे के हाथ पर बैठकर क्यों पक्षियों को मार रहा है। इसमें न तो तेरा स्वार्थ सिद्ध होगा, न ही पुण्य। तू वृथा ही श्रम कर रहा है। इस फटकार में बाज के प्रतीक से लक्ष्यभूत कोई ऐसा अधिकारी प्रस्तुत है, जो दूसरे का सेवक बनकर निरीह जनता की हत्या कर रहा है। वास्तव में हमारे विचार में तो बिहारी का लक्ष्य यहाँ भी पूर्वोक्त 'नहिं पराग, नहिं मधुर मधु' वाली अन्योक्ति की तरह जयपुर-नरेश ही हैं, जो मुगल-सम्राट् के हाथ की कठपुतली बनकर प्रजा का खून बहाते रहते थे; इसलिए इसे हम 'वैयक्तिक' अन्योक्ति कहेंगे। इसी तरह अन्योक्ति जीवन के अन्य क्षेत्रों को भी प्रकाशित करती है। डॉ० सुधीन्द्र के शब्दों में[2]

१. 'यामा', २३६।
२. 'हिन्दी-कविता में युगान्तर', पृ० ४८७।

"अन्योक्ति एक साधारण अलंकार नहीं है। वह मानस के किसी भी भाव को, संसार के किसी भी पदार्थ को, जीवन के किसी भी क्षेत्र को, अस्पर्श्य नहीं मानती।"

अप्रस्तुत-प्रशंसा का सारूप्य-निबन्धना वाला यह अन्योक्ति-भेद अलंकार-शास्त्रियों ने कितने ही प्रकार का माना है।[१] आचार्य मम्मट ने इसके मूल में तीन हेतु माने हैं—श्लेष, समासोक्ति और केवल सादृश्य। जब श्लेष मूल में रहता है, तो सभी शब्दों के दो अर्थ होते हैं, जिनमें एक प्रस्तुत की ओर लगता है और दूसरा अप्रस्तुत की ओर। प्रस्तुत और अप्रस्तुत का केवल शाब्दिक सादृश्य ही रहता है, आर्थिक सादृश्य नहीं। हम पीछे उल्लेख कर आए हैं कि संस्कृत-साहित्य मे शाब्दिक सादृश्य अथवा श्लेष पर आधारित अप्रस्तुत रूप-विधान पर्याप्त है। इधर जब हिन्दी की नींव पड़ रही थी, उस समय बौद्ध-सम्प्रदायों के सिद्धों से गोरख-पंथियों एवं उनके द्वारा निर्गुण-मार्गियों को दाय-रूप में जो साधनात्मक रहस्य-वाद प्राप्त हुआ है, वह भी प्रायः श्लिष्ट भाषा में ही है। इसे 'सान्ध्य भाषा' कहा करते हैं, क्योंकि इसमें एक लौकिक और एक पारिभाषिक दो अर्थों की सन्धि रहती है। किन्तु कुछ विद्वान् इसे सन्ध्या-भाषा-जैसी भाषा मानते हैं, क्योंकि जिस प्रकार सन्ध्या में कुछ प्रकाश और कुछ तिमिर मिले रहते हैं, उसी प्रकार इसमें भी दो अर्थ झिलमिलाते हैं। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे 'सन्धा-भाषा' कहा है[२], क्योंकि इसमें दूसरे अर्थ की अभिसन्धि—अभिप्राय—रहता है। जो कुछ भी हो, यह तो निश्चित है कि इसमें दो अर्थ रहते हैं। ऊपर का लौकिक अर्थ कुछ अश्लील, कुत्सित, ऊटपटाँग अथवा विरोधाभास लिये हुए रहता है, किन्तु संकेतित अर्थ साधनात्मक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। कबीर, जायसी आदि की बहुत-सी उक्तियाँ एवं उल्टबासियाँ भी इसी भाषा में लिखी हुई हैं। व्यापक रूप में होने से यह पहेली-शैली अथवा अन्योक्ति-पद्धति कहलाती है। इसका विस्तृत निरूपण हम आगे पद्धति-प्रकरण में करेंगे। रीति-युगीन कवियों की अन्योक्तियों में भी कहीं-कहीं श्लिष्ट भाषा दीखती है। उदाहरण के रूप में बिहारी की यह अन्योक्ति लीजिए :

मम्मट द्वारा सारूप्य-निबन्धना का वर्गीकरण: श्लिष्टा अन्योक्ति

---

१. **तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः। श्लेषः समासोक्तिः सादृश्यमात्रं वा तुल्यात् तुल्यस्य ह्याक्षेपे हेतुः।**

—'काव्य-प्रकाश', १०।९८ वृत्ति।

२. **'हिन्दी-साहित्य', पृ० २३।**

अज्यौं तरयौना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसर लह्यौ बसि मुक्तिन के संग॥ (बि० स० ६४०)

इस दोहे के सब शब्द श्लिष्ट हैं—'तर्योना'=तरौना, तरकी (कान का भूषण-विशेष) और 'तर्यौ ना'=तरा नहीं, अनतरा, बद्ध; श्रुति=कान और वेद; 'अंग'=अवयव और सहायक; 'नाक बास'=नाक और बैकुण्ठ धाम में निवास; 'बेसर'=नथ और बिना शिर के अर्थात् 'सीस उतारि भुइँ माँ धरे तब पैठे घर माँहि' जैसे त्यागी; 'मुक्तिनि'=मोती और जीवन्मुक्त महात्मा लोग। इनमें एक अर्थ नायिका के कान और नाक के भूषणों की ओर लगता है और दूसरा दार्शनिक सिद्धान्त की ओर। देखिए, 'तरौना' (तरकी) एक अंग 'श्रुति' (कान) का सेवन करता हुआ अब तक 'तरौना' ही रहा, किन्तु इधर 'बेसर' (नथ) ने मुक्तों (मोतियों) के साथ रहकर 'नाक' में स्थान प्राप्त कर लिया। इसका दूसरा व्यंग्य-अर्थ पं० पद्मसिंह शर्मा के शब्दों में इस प्रकार है[१]—'कोई किसी मुमुक्षु से कह रहा है कि मुक्ति चाहते हो तो जीवन्मुक्त महात्माओं की संगति करो। श्रुति-सेवा भी एक संसार-तरणोपाय है सही, किन्तु इससे शीघ्र नहीं तरोगे। अथवा कोई किसी केवल श्रुति-सेवा मुमुक्षु से कह रहा है कि एक अंग श्रुति का सेवन करते हुए तुम अब तक नहीं तरे, विचार-तरंगों में गोते खा रहे हो, और वह देखो अमुक व्यक्ति ने मुक्तों की सत्संगति से 'बेसर' (अनुपम) नाक-वास—बैकुण्ठ-प्राप्ति, सायुज्य—मुक्ति—प्राप्त कर ली। इस अन्योक्ति में विहारी ने 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इस दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर सत्संगति द्वारा प्राप्त ज्ञान को मोक्ष-साधन के रूप में महत्त्व दिया है और मोक्ष के लिए निरे वैदिक कर्मकाण्ड की विफलता बतलाई है। किन्तु ध्यान रहे कि अगर यहाँ कवि को दोनों ही अर्थ समान रूप में विवक्षित हों, तो यहाँ अभिधा ही काम करेगी और श्लेष अन्योक्ति का स्वतन्त्र कारण बनेगा। अप्रस्तुत-प्रशंसा में अभिव्यज्यमान प्रस्तुत की प्रधानता रहती है जब कि श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य एवं सन्तुलित रूप में रहते हैं। श्लेष का एक और उदाहरण लीजिए:

करि अबलन को श्री-हरण वारिवाह के संग।
घर करती जहँ चंचला आयौ समय कुढंग॥[२] (अनुवाद)

---

१. **'बिहारी सतसई', पृ० २३४।**

२. **रामदहिन मिश्र, 'काव्यालोक', पृ० ३५। यह 'रस-गंगाधर' में पण्डितराज द्वारा दिये हुए इस श्लोक का अनुवाद है :**

अबलानां श्रियं हृत्वा वारिवाहैः सहानिशम्।
तिष्ठन्ति चपला यत्र स कालः समुपस्थितः॥ (द्वितीय आनन)

इसमें 'अबलन', 'श्री-हरण', 'वारिवाह' और 'चंचला' सब श्लिष्ट शब्द हैं। कवि उस 'कुढंग' समय—कठिन वर्षाकाल—का वर्णन करता है जब कि अबलाओं की श्री (कान्ति) का हरण करती हुई चंचला (बिजली) सदा वारिवाह (बादल) के साथ घर किये रहती है, किन्तु अभिव्यज्यमान प्रस्तुत अर्थ यहाँ ऐसा बुरा समय आया हुआ बताता है जब कि चचला—कुलटा—अबलाओं—गरीबों—का धन लूट-खसोटकर जलवाहक (कहार) तक का घर नहीं छोड़ती। यदि यहाँ प्रकृति-चित्रण ही प्रस्तुत मानें, तो यह समासोक्ति के अन्तर्गत आएगा। वास्तव में किसी वस्तु का प्रस्तुत या अप्रस्तुत होना कवि की विवक्षा पर निर्भर करता है।

अन्योक्ति के दूसरे भेद का कारण समासोक्ति को कहा गया है। इसमें समासोक्ति की तरह केवल विशेषण-शब्द ही श्लिष्ट रहते हैं, विशेष्य-शब्द नहीं। संस्कृत की तरह हिन्दी में भी कुछ ऐसी अन्योक्तियाँ हैं। उदाहरण के लिए देखिए :

> **सुवरन बरन सुवास युत सरस दलनि सुकुमार।**
> **ऐसे चंपक को तजे तैं ही भौंर गँवार।।** (मतिराम)

इसमें पूर्वार्द्ध के विशेषण-शब्दों के दो-दो अर्थ हैं, किन्तु उत्तरार्द्ध के विशेष्य-शब्द अपना एक ही अर्थ रखते हैं। कोई भ्रमर को फटकार रहा है कि तुझ-जैसा भौंडा गँवार कौन होगा, जो सोने के-से रंग, अच्छी सुगन्धि एवं सरस पंखुड़ियों वाली कोमल चम्पा को छोड़ देता है। प्रतीयमान अर्थ एक ऐसा नायक है, जो अच्छे रूप-रंग और कुल की, अच्छे रहन-सहन, वसन एवं बनाव-ठनाव वाली और रसीली सखी-सहेलियों से अनुगत लड़की को छोड़ देता है; उससे विवाह नहीं करता। इसी तरह दीनदयाल की भी एक वसन्त की अन्योक्ति लीजिए :

> **हितकारी ऋतुराज, तुम साजत जग आराम।**
> **सुमन सहित आसा भरो दलहिं करौ अभिराम।।**
> **दलहिं करौ अभिराम कामप्रद द्विजगन गावैं।**
> **लहि सुबास सुखधाम बातबर ताप नसावैं।**
> **बरनै 'दीनदयाल' हिये माधव धुनि प्यारी।**
> **श्रवन सुखद सुकबैन बिमल बिलसैं हितकारी।**
>
> ('अन्योक्ति-कल्पद्रुम', ११४)

इसमें ऋतुराज (वसन्त) विशेष्य है और सुमन, आसा, दल, द्विज सुकबैन आदि शब्दों से बनने वाले विशेषण श्लिष्ट हैं। दीनदयाल के 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' में

ऐसी श्लिष्ट अन्योक्तियाँ बहुत हैं, किन्तु, जैसा हम पीछे कह आए हैं, केवल शाब्दिक सादृश्य पर ही आधारित अप्रस्तुत-रूप-योजना बौद्धिक अधिक होती है, हार्दिक कम। जिन श्लिष्ट अन्योक्तियों में कवि का हृदय ईषदपि नहीं झाँकता, और भावोत्तेजन की सामग्री नहीं रहती, उन्हें हम काव्य न कहकर वाग्-वैदग्ध्य ही कहेंगे। हिन्दी का साधनात्मक रहस्यवाद एवं पहेली-साहित्य इसी कोटि की रचनाएँ है। वस्तुतः किसी भी रचना मे काव्यत्व आधान करने वाली रसात्मकता तो प्रायः आर्थिक सादृश्य वाली योजना में ही रहती है। हम मानते है कि 'कामायनी' और 'पद्मावत' में भी 'श्रद्धा', 'इड़ा' आदि एवं 'पद्मावती', 'सिंहलद्वीप' आदि के विशेषण भी कभी-कभी स्थूल और सूक्ष्म दोनों अर्थो की ओर लगते हैं, किन्तु हमें भूल नहीं जाना चाहिए कि वहाँ शब्द-श्लेष कम और अर्थ-श्लेष अधिक है, इसलिए हृदय-स्पर्शी होकर वह अनुभूति में साधक ही होता है, बाधक नहीं। अन्योक्ति के प्रकृत भेदों में श्लेष से अभिप्रेत शब्द-श्लेष ही है, अर्थ-श्लेष नहीं।

सारूप्य-निबन्धना के श्लेष-हेतुक, समासोक्ति-हेतुक और सादृश्य-हेतुक तीन भेद बतलाकर फिर मम्मट ने प्रकारान्तर से इसके तीन और भेद किये[1]—

पूर्ण और आंशिक अध्यारोप वाली अन्योक्तियाँ

वाच्य में प्रतीयमान अर्थ का 'अनध्यारोप', 'अध्यारोप' और 'आंशिक अध्यारोप'। मम्मट के इन तीन भेदों को आनन्दवर्धन द्वारा किये गए[2] 'विवक्षित-वाच्य', 'अविवक्षित-वाच्य' और 'विवक्षिताविवक्षित वाच्य' इन भेदों का ही रूपान्तर समझिए। हम देखते है कि जब प्रकृति के उपादानों द्वारा खींचा हुआ अन्योक्ति-चित्र पदार्थो के परस्पर-सम्बन्ध में कोई बाधा उपस्थित नहीं करता, किन्तु स्वाभाविक रहता है और अन्य अर्थ के आरोप के बिना ही अभिधा द्वारा अप्रस्तुत अर्थ का ठीक-ठीक बोध करा देता है, तो वह अनध्यारोप वाली अन्योक्ति कहलाएगी। उदाहरण के लिए पीछे दी हुई हंस की छोटी-सी अन्योक्ति को ही ले लीजिए :

हे राजहंस ! यह कौन चाल ?
तू पिंजर-बद्ध चला होने
बनने अपना ही आप काल। (रायकृष्णदास)

यहाँ अभिधा-द्वारा प्रतिपादित अप्रस्तुत अर्थ सर्वथा सम्भव है, क्योंकि हंस ही

१. इयं वाच्ये क्वचित् प्रतीयमानार्थानध्यारोपेणैव भवति, क्वचिदध्यारोपेणैव, क्वचिदंशेष्वध्यारोपेण। 'काव्य-प्रकाश', १०।९८ वृत्ति।
२. 'ध्वन्यालोक' ३। का० ४१ की वृत्ति।

क्या, कोई भी पशु-पक्षी अज्ञान-वश पिंजरे के भीतर रखे हुए अन्न-कण या मांसादि के लोभ में घुसकर बन्द हो सकता है। इसी तरह इसके साथ की पूर्वोक्त अन्य अन्योक्तियाँ भी समझें। किन्तु इसके विपरीत, कुछ ऐसी जाति की अन्योक्तियाँ भी होती है, जिनमे अध्यवसित रूपक की तरह अभिधेयार्थ बाधित रहता है और जब तक अप्रस्तुत पर प्रस्तुत का आरोप न किया जाय. तब तक उसका अर्थ-बोध ही नही होता। ऐसी स्थिति मे वहाँ अध्यवसित रूपक के ठीक विपरीत अप्रस्तुत पर प्रस्तुत का आरोप करना पड़ जाता है। तब जाकर कहीं अर्थ-समन्वय होता है। आरोप वाली ऐसी अन्योक्ति को हम अध्यवसित अन्योक्ति कहते आए है। इसमे अध्यवसित रूपक वाली धारा और सारूप्य-निबन्धना की अध्यारोप वाली धारा दोनों परस्पर घुल-मिल जाती है और यही कारण है कि कुछ आलंकारिक इसे रूपकातिशयोक्ति-मूलक अन्योक्ति भी कह गए हैं। ध्वनिकार ने इसे अविवक्षित-वाच्य कहा है। उदाहरण के लिए हम मम्मट का ही श्लोक[1] लेते हैं, जिसमें एक पथिक और श्मशान-वृक्ष का परस्पर यों वार्तालाप चलता है :

'**पथिक** : अरे, तुम कौन हो ?

'**वृक्ष** : कहता हूँ, मुझे तुम दैव का मारा हुआ शाखोट (श्मशान-वृक्ष) समझो !

'**पथिक** : तुम तो ऐसा बोलते हो, जैसे तुम्हें जीवन से ग्लानि हो गई हो।

'**वृक्ष** : तुम ठीक समझे हो।

'**पथिक** : तो तुम्हें इस तरह ग्लानि क्यों हो गई ?

'**वृक्ष** : कहता हूँ, बात यह है कि यहाँ वाम-स्थित एक वट-वृक्ष है। पथिक लोग क्या तो छाया, क्या लेटना, क्या चढ़ना और क्या पत्ते व लकड़ी, सभी प्रयोजनों के लिए उसी का आश्रय लेते हैं, किन्तु मैं मार्ग-स्थित हूँ, तो भी सेवा के रूप में मुझसे कोई मेरी छाया तक नहीं लेता।'

उपर्युक्त अन्योक्ति में श्मशान-वृक्ष पथिक से बातें कर रहा है; पर क्या कभी यह संभव है कि वृक्ष-लतादि पथिकों से बातचीत करें ? इसलिए यहाँ अप्रस्तुत श्मशान-वृक्ष पर प्रस्तुत किसी एक ऐसे पुरुष का आरोप किया जाता है, जो सदाचार-संपन्न है और लोगों का उपकार भी करना चाहता है, किन्तु

१. **'कस्त्वं भोः !' 'कथयामि, दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकम्'**
'वैराग्यादिव वक्षि' 'साधु विदितम्' 'कस्मादिदम् ?' 'कथ्यते'।
'वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते,
नच्छायाऽपि परोपकार-करणे मार्ग-स्थितस्यापि मे' ॥
'काव्य-प्रकाश', दशमोल्लास, ४४७।

एक-मात्र अधम जाति का होने के कारण लोग उसकी सेवा ही स्वीकार नहीं करते, जबकि दूसरा मनुष्य (वट) दुराचारी होता हुआ भी उत्तम जाति का होने के ही कारण सभी का आश्रय बना हुआ है। यह उल्लेखनीय है कि यहाँ 'वाम' (बाईं ओर और दुराचार) एवं 'मार्ग' (रास्ता और सदाचार) शब्दों में श्लेष है, जो अधम-जातीय सत्-पुरुष की तरफ से पाठकों के हृदय में करुणा और सहानुभूति का भाव जागृत करने में सहायक होता है। इसी तरह के संस्कृत के एक-दो छोटे-छोटे उदाहरण और भी देखें :

चन्दन-कर्दम-कलहे भेको मध्यस्थतां याति।
ब्रूते पंक-निमग्नः 'कर्दम-समतां न चन्दनो लभते'॥[1] (अज्ञात)
अक्ष-धुरि सुखासीना मक्षिकैकाऽवदत् पुरा।
'उत्थाप्यते मया मार्गे पांशु-राशिरहो कियान्?'[2] (अज्ञात)

अध्यारोप वाली ऐसी अन्योक्तियाँ हिन्दी में भी होती हैं। पं० माखन-लाल चतुर्वेदी की स्वतन्त्रता-आन्दोलन के राष्ट्रकर्मी पर पुष्प की अान्योक्ति देखिए :

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं प्यारी माला में बिंध प्रेमी को ललचाऊँ
चाह नहीं सम्राटों के सिर पर हे हरि! डाला जाऊँ
मुझे तोड़ लेना वनमाली! उस पथ पर देना तुम फेंक
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।

यहाँ पुष्प का बोलना असंभव होने से उस पर प्रस्तुत राष्ट्रकर्मी का आरोप है। वनमाली ईश्वर का प्रतीक है। इसी तरह और भी लीजिए :

---

१. हिन्दी-रूपान्तर

चन्दन औ' कीचड़ में ठन गई खूब,
वह कहे 'मैं श्रेष्ठ', यह कहे 'मैं श्रेष्ठ'।
मेंढक निर्णय देता कीच में डूब,
'कीचड़ की समता में कहाँ चन्दन निकृष्ट'।

२. हिन्दी-रूपान्तर

रथ के पहिये की धुर में सुखासीन,
बोली तुच्छ मक्षिका अभिमान-पीन,
'देखो मेरा है कितना बल, प्रमाण
उड़ाती पथ में कितनी धूल महान'।

सुनहु विटप ! हम फूल हैं तिहारे,
जो पै राखो पास सोभा चौगुनी बढ़ायेंगे
तजिहो हरष विरख है न चारों कछू,
जहां तहां जैहैं तहां दूनी छबि पायेंगे,
सुरन पै चढ़ेंगे या नरन पै चढ़ेगे हम
सुकवि 'रहीम' हाथ हाथ ही बिकायेंगे,
देश में रहेंगे या विदेश में रहेंगे,
काहू भेष में रहेंगे पै तिहारे ही कहायेंगे। (रहीम)

इसी तरह "घोड़े के पैरों पर नाल लगती देख मेढक बोला, 'मेरे पैरों पर भी नाल लगनी चाहिए।' जब हथौड़े की चोट लगी तो प्राणों से हाथ धोने पड़े" इत्यादि लोक-प्रसिद्ध अन्योक्तियाँ भी समझिए। आंशिक अध्यारोप वाली अन्योक्ति में कुछ तो वाच्यार्थ आरोपित रहता है और कुछ नहीं, जैसे :

पावस देखि 'रहीम' मन, कोयल साधे मौन।
अब दादुर वक्ता भये, हमहिं पूछिहैं कौन ?

यहाँ पावस को देखकर कोयल का चुप हो जाना किसी तरह बाधित नहीं, किन्तु उसका यह कहना कि अब दादुर महाशय वक्ता हैं, हमें कौन पूछता है, बाधित है। इस अंश में आरोप है, इसलिए यह आरोप और अनारोप-मिश्रित अन्योक्ति है। इसी तरह की कबीर की भी एक अन्योक्ति देखें :

सांझ पड़े दिन बीतवे, चकवी दीन्ही रोय।
चल चकवा ! वा देश में, जहां रैन नहिं होय ॥

यहाँ भी पूर्वार्द्ध स्वाभाविक है और द्वितीयार्द्ध में अध्यारोप है। इसमें 'रैन'–विरह से डरी हुई चकवी के अप्रस्तुत-विधान से सांसारिक वियोगों और दुःखों द्वारा उत्पीड़ित आत्मा की विकलता अभिव्यक्त हो रही है। अध्यारोप वाली अन्योक्ति पद्य-रूप में ही हो, यह बात नहीं। वह गद्य-रूप में भी चलती है।

संस्कृत में 'महाभारत', 'पंचतन्त्र' आदि की पशु-पक्षी-सम्बन्धी कथाएँ अथवा अंग्रेजी की फेबल्स (Fables) और पेरेबल्स (Parables) एवं उनके आधार पर निर्मित हिन्दी का जितना भी जन्तु-कथा-साहित्य है, वह प्रस्तुत मनुष्यों का अध्यारोप किये बिना उपपन्न नहीं होता, इसलिए वह अध्यारोप-वाली अन्योक्ति के ही अन्तर्गत होता है, किन्तु प्रबन्ध-गत होने से वह पद्धति-रूप है।

मम्मट की तरह भोजराज ने भी अन्योक्ति का वर्गीकरण कर रखा है

और वह भी अपने ही ढंग का।[1] आपने अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति मे समासोक्ति मानकर उसीको अन्योक्ति, अनन्योक्ति और उभयोक्ति कहा है, यह हम पीछे देख आए है।

भोजराज का वर्गीकरण

भोज के मतानुसार अन्योक्ति वाच्य अथवा प्रतीयमान सादृश्य में होती है। वाच्य सादृश्य से शाब्दिक सादृश्य अभिप्रेत है, जिसमे विशेषण श्लिष्ट होने के कारण प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ओर समान रूप मे लग जाते है जैसा कि मम्मट ने भी स्वीकार कर रखा है। प्रतीयमान सादृश्य में आर्थिक सादृश्य रहता है, जो प्रस्तुत और अप्रस्तुत के समान इतिवृत्त—साधर्म्य—पर आधारित होता है। इसके अतिरिक्त भोज ने अन्योक्ति की चार भेद-प्रयोजक उपाधियाँ भी मानी हैं—श्लाघा, गर्हा, श्लाघा-गर्हा दोनों और श्लाघा-गर्हा दोनों का अभाव और इन सबके पृथक्-पृथक् उदाहरण दे रखे है। हिन्दी में भी ये चार प्रकार की अन्योक्तियाँ मिलती है, जैसे :

श्लाघा वाली—

> **उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिश कठोर।**
> **चितव कि चातक मेघ तजि, कबहूँ दूसरी ओर॥** (तुलसी)
> **देखत दीपति दीप की देत प्राण अरु देह।**
> **राजत एक पतंग में, बिना कपट को नेह॥** (मतिराम)

गर्हा वाली—

> **बगला बैठा ध्यान में प्रातः जल के तीर।**
> **मानो तपसी तप करे, मलकर भस्म शरीर॥**
> **मलकर भस्म शरीर, तीर जब देखी मछली।**
> **कहे 'मीर' ग्रसि चोंच समूची फौरन निगली॥**
> **फिर भी आवें शरण, वैर जो तज के अगला।**
> **उनके भी तू प्राण हरे रे, छी ! छी ! बगला॥**
>
> (अमीरअली मीर)

---

१. **प्रतीयमाने वाच्ये वा सादृश्ये सोपजायते।**
श्लाघां गर्हामुभे नोभे तदुपाधीन् प्रचक्षते॥
विशेष्यमात्रभिन्नाऽपि तुल्याकार-विशेषणा।
अस्त्यसावपराऽप्यस्ति तुल्यातुल्य-विशेषणा॥
संक्षेपेणोच्यते तस्मात् समासोक्तिरियं ततः।
सैवान्योक्तिरनन्योक्तिः उभयोक्तिश्च कथ्यते॥

'सरस्वती-कंठाभरण', ४।४७-४६।

दोनों-वाली—

कूकर उदर खलायकैं, घर घर चाटत चून।
रंगे रहत सद खून सों, नित नाहर नाखून ॥ (वियोगी हरि)
मुख मीठे मानस मलिन, कोकिल मोर चकोर।
सुजस धवल चातक नवल रह्यो भुवनि भरि तोर ॥ (तुलसी)

दोनों के अभाव वाली—

जाके एकाएक हूँ, जग व्यवसाय न कोय।
सो निदाघ फूले फले, आकु डहडहो होय ॥ (बिहारी)
सेंवर सुगना सेइया दुह ढेंढी की आस।
ढेंढी फूटी चटाक दे, सुगना चला निरास ॥ (कबीर)

इसके अतिरिक्त भोज ने अन्योक्ति के प्रकारान्तर से दो और भेद किये हैं—सजातीय और विजातीय। सजातीय अन्योक्ति में सजातीय अप्रस्तुत से सजातीय प्रस्तुत का बोध होता है, जैसे :

करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि।
रे गन्धी ! मति अन्ध तू, इतर दिखावत काहि ॥ (बिहारी)

यहाँ अप्रस्तुत गन्धी—इतर-फुलेल के व्यापारी—से प्रतीयमान अनजानों के बीच अपनी कीमती वस्तुओं और उनके गुणों को बताने वाला मूर्ख दोनों मनुष्य-जातीय हैं। इसी तरह 'कहाँ राजा भोज और कहाँ गांगू तेली' भी सजातीय अन्योक्ति है। विजातीय अन्योक्ति में प्रस्तुत और अप्रस्तुत विभिन्न जाति के होते हैं, जैसे उपरोक्त श्लाघा, गर्हा आदि की अन्योक्तियाँ, अथवा

हंस बग देखा एकरंग चरे हरियरे ताल।
हंस छीर ते जानिये बग उघड़े तत्काल ॥ (कबीर)

यहाँ अप्रस्तुत हंस और प्रस्तुत विवेकी पुरुष दोनों विजातीय प्राणी हैं।

'रसाल' का वर्गीकरण

सारूप्य-निबन्धना के उपरोक्त छः भेदों का न्यूनाधिक रूप में निरूपण संस्कृत के कुछ अलंकार-शास्त्रियों ने तो किया है, किन्तु हिन्दी के अलंकारियों का इस ओर ध्यान नहीं गया है। सच तो यह है कि उन सबने साधर्म्य-हेतुक भेद को ही अन्योक्ति माना है। इस विषय में गद्य-युगीन आलंकारिक कन्हैयालाल पोद्दार, भगवानदीन और रामदहिन मिश्र आदि भी एकमत हैं। हो सकता है कि वर्तमान में श्लेष-मूलक अन्योक्तियों का प्रचलन न रहने से ही वे चुप रहे हों अथवा उन्हें शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि मानकर अन्योक्ति-अलंकार

न स्वीकार करते हों जैसा कि शुक्लजी ने किया है।[1] हाँ, डॉ० रमाशंकर 'रसाल' ने अपने 'अलंकार-पीयूष' में अन्योक्ति का संस्कृत-आचार्यों की अपेक्षा अवश्य कुछ स्वतन्त्र विश्लेषण और वर्गीकरण किया है।[2] इन्होंने पहले इसके दो मुख्य भेद किये—वक्रान्योक्ति और काकु-अन्योक्ति। काकु-अन्योक्ति का उदाहरण न देकर वक्रान्योक्ति का ही इन्होंने निम्नलिखित उदाहरण दिया—

तुम सजनी अति कठिन हो करो सदा ही खोट।
देखहु मोहन इन दई मेरे हिय में चोट॥

इसमें हमे स्पष्ट अप्रस्तुत-विधान कोई नहीं दिखाई देता, इसलिए रसालजी इन भेदों के निरूपण में अन्योक्ति की सीमा-रेखा को सादृश्य से बाहर दूर खींच ले गए है।[3] फिर इन्होंने अन्योक्ति के तीन और भेद किये है—श्लिष्टा, स्वगता और परगता। श्लिष्टा का इन्होंने उदाहरण नहीं दिया, किन्तु हम इसका निरूपण पीछे कर आए है। स्वगता ये उसे कहते है, जहाँ अन्योक्ति का भाव कहने वाले पर ही रहे, जैसे :

ऐसो तुच्छ वारी की न कुछ परवाह चाह,
भव बीच भौरन को बाग बहुतेरे हैं।

संस्कृत की पूर्वोक्त 'चन्दन-कर्दम-कलह वाली' अन्योक्ति भी इसी जाति की है। परगता में अन्योक्ति का भाव कहने वाले पर लागू न होकर किसी दूसरे पर ही लागू होता है।[4] इसके रसालजी ने चार अवान्तर भेद किये है, जो उन्हीं के उदाहरणों सहित नीचे दिये जाते है :

(१) **वैयक्तिक :** नहि पराग नहि मधुर मधु नहिं विकास इहि काल।
(२) **व्यापक :** धन्य धन्य हे सुमन वर ! सब को देत सुवास।
(३) **नीत्यात्मक :** दीरघ साँस न लेहि दुख तू साइंहि जनि भूल।
(४) **सांकेतिक :** चातक चतुर न जाँच ही नीरस घट सों नीर।

हम अन्योक्ति में अध्यवसितरूपक और सारूप्य-निबन्धना अप्रस्तुत-प्रशंसा को उपमा-विकास की दो धाराओं की चरम परिणतियाँ कहते आ रहे है। शुक्लजी ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि में वस्तुगत गुण अथवा क्रिया की एव दृष्टान्त, अर्थान्तर-न्यास, सारूप्य-निबन्धना आदि में व्यापार-समष्टि की

उपमा-रूपक आदि में भी व्यापार-समष्टि

१. 'रसमीमांसा', पृ० ३६५।
२. 'अलंकार-पीयूष', उत्तरार्द्ध, पृ० ५६, द्वितीय सं०।
३. वही, पृ० ५६।
४. वही, पृ० ५७।

जो बात- कही है, वह विचारणीय है, क्योंकि कभी-कभी दृष्टान्त आदि की तरह उपमा, रूपक आदि भी व्यापार-समष्टि लेकर चलते हैं। उपमा का प्रस्तुत और अप्रस्तुतगत बहुत-से धर्मों को लेकर 'समुच्चयोपमा'[1] तथा लक्षणा का कार्य लेकर 'लक्ष्योपमा'[2] बनना उसकी वाक्यार्थता की ओर प्रवृत्ति का द्योतक है। 'वाक्यार्थोपमा'[3] में तो वह 'दृष्टान्त' ही की तरह बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव अपना लेती है, जैसे :

पिसुन छल्यो नर सुजन सो करत बिसास न चूकि।
जैसे दाध्यो दूध को पीवत छाछहि फूँकि॥ (वृन्द)

यहाँ 'जैसे' पद हटाते ही उपमा से 'दृष्टान्त' बन जाता है, और 'दृष्टान्त' वह अलंकार है, जिसको शुक्लजी ने व्यापार-समष्टि-विषयक माना है। रुद्रट की मानी हुई[4] वाक्योपमा में उपमा सांग बनकर चलती है अर्थात् किसी प्रस्तुत को लेकर उसके सभी अंगों का साम्य प्रतिपादन करती हुई समष्टि-रूप में चलती है। भोजराज[5] ने इसे 'समस्तोपमा' कहा है। अन्य आलंकारिकों ने रूपक को ही सांग और समस्तवस्तु-विषयक माना है, उपमा को नहीं, यद्यपि कुछेक ने उपमा के एकदेशविवर्ती भेद में उसकी व्यापकता स्वीकार कर रखी है। संस्कृत की तरह हिन्दी में हमें बहुत-सी सांगोपमाएँ मिलती है, जैसे :

सैकत शैया पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा ग्रीष्म विरल,
बैठी है श्रान्त, क्लान्त, निश्चल
तापस बाला सी गंगा कल शशि मुख से दीपित मृदु करतल
लहरें उर पर कोमल कुन्तल
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तरल-तरल सुन्दर
चंचल अंचल सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर शशि की रेशमी विभा से भर
सिमटी है वर्तुल मृदुल लहर। (पंत) 'नौका विहार'

---

१. दिव्य, सुखद, शीतल, रुचिर नव दर्शन विधु रूप।
२. बंकिम भ्रू प्रहरण पालित युग नेत्र से
थे कुरंग भी आँख लड़ा सकते नहीं।
३. वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थः कोऽपि यद्युपमीयते
एकानेकेवशब्दत्वात् सा वाक्यार्थोपमा द्विधा॥ (दंडी)
'काव्यादर्श', २।४३।
४. 'काव्यालंकार', ८।५।
५. 'सरस्वती-कंठाभरण', ४।२१।

यहाँ सादृश्यवाचक पद हटाते ही उपमा के स्थान में सांग-रूपक बन जाता है। 'निराला' की 'सन्ध्यासुन्दरी', रामकुमार वर्मा की 'रजनी बाला', प्रसाद की 'ऊषा नागरी' आदि सब छायावादी प्रकृति-रूपक सांग-रूपक हैं, जैसे :

बीती विभावरी जाग री।
अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा घट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल-सा बोल रहा
किसलय का अंचल डोल रहा
लो यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल रस गागरी।
अधरों में राग अमंद पिये
अलकों में मलयज बंद किये
तू अब तक सोई है आली।
आँखों में भरे विहाग री। (प्रसाद)

अब सांग-रूपक में यदि प्रस्तुतों को भी हटा दें, तो अन्योक्ति का प्रकृति-चित्र खड़ा हो जाता है। जैसा शुक्लजी ने भी कहा है,[1] कबीर, जायसी आदि कुछ रहस्यवादी कवियों ने जीवन का मार्मिक स्वरूप तथा परोक्ष जगत् की कुछ धुँधली-सी झलक दिखाने के लिए इसी अन्योक्ति-पद्धति का अवलम्बन किया है, जैसे :

हंसा प्यारे ! सरवर तजि कहँ जाय ?
जेहि सरवर बिच मोती चुनते, बहुविधि केलि कराय
सूख ताल पुरइन जल छोड़े कमल गयो कुँभिलाय।
कह कबीर जो अब की बिछुरै, बहुर मिलै कब आय॥

इसके बाद शुक्लजी कहते हैं कि रहस्यवादी कवियों के समान भक्त सूर की कल्पना भी कभी-कभी इस लोक का अतिक्रमण करके आदर्श-लोक की ओर संकेत करने लगती है। इसका उदाहरण यह देते हैं :

चकई री ! चलि चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग,
निसि दिन राम नाम की वर्षा, भय, रुज नहिं दुख सोग
जहाँ सनक से मीन, हंस शिव, मुनि जन नख रवि प्रभा प्रकास
प्रफुलित कमल, निमिष नहि ससिडर, गुंजत निगम सुवास
जेहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल, सुकृत अमृत रस पीजै,

1. 'रस-मीमांसा', पृ० ३५२।

सो सर छाँडि कुबुद्धि विहंगम ! इहाँ कहा रहि कीजै ![1]

हम देखते हैं कि इस पद में अप्रस्तुत-रूप-विधान व्यापार-समष्टि अथवा समस्त प्रसंग लिये हुए है। किन्तु अपरोक्षवादी सूर भला अपने उपास्य के चरण को कैसे आँखों से ओझल होने देते ! फलत वे उपमा रूपक के चक्कर में ही उलझे रह गए जिसके कारण प्रकृति-चित्र में रहस्यमयी अव्यक्तता या धुँधलापन नही आ सका। स्वयं शुक्लजी ने इस बात को स्वीकार किया है कि कवि ने 'अन्योक्ति' का मार्ग छोड़कर रूपक का आश्रय लिया।[2] सूर यदि प्रस्तुतों को गम्य ही रखते, तो शुक्लजी के विचार मे यहाँ अन्योक्ति होने में कोई बाधा न होती। वे स्वीकार करते हैं कि इसी प्रसग का दीनदयाल गिरि ने अन्योक्ति द्वारा अच्छा निर्वाह किया है :

चल चकई ! वा सर विषय जहँ नहिं रैन बिछोह।
रहत एकरस दिवस ही सुहृद हंस-संदोह ॥
सुहृद हंस संदोह कोह अरु द्रोह न जाके।
भोगत सुख अंबोह, मोह दुख होय न ताके ॥
बरनै 'दीनदयाल' भाग्य बिनु जाय न सकई।
पिय मिलाप नित रहै ताहि सर चल तू चकई ॥

इससे सिद्ध हुआ कि उपमा-रूपक कभी-कभी जीवन का पूर्ण प्रसंग लेकर चलते हैं और बाद में अन्योक्ति का निर्माण कर सकते हैं।

अध्यवसित रूपक में समस्त प्रसंग, और उसका अन्योक्तित्व

हम पीछे अन्योक्ति की वस्तुगत गुण-क्रियासाम्य प्रतिपादन करने वाली अध्यवसित-रूपक धारा के उदाहरण बता आए है। वह सारूप्य-निबन्धना की तरह समस्त प्रसंग लेकर भी चलती है। ऊपर जिस रहस्यवाद को शुक्लजी ने सारूप्य-निबन्धना माना है, उसको बहुत-से समीक्षक अध्यवसित रूपक कहते हैं। हम देख आए हैं कि अध्यवसित रूपक में उपमान का ही प्रयोग होता है, उपमेय का नहीं, और रहस्यवाद में भी यही बात होती है। पन्त की 'छाया' कविता की

हाँ सखि, आओ, बाँह खोल हम
लग कर गले जुड़ा लें प्राण
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अन्तर्धान। (पल्लव)

---

१. **'सूरसागर', प्रथम स्कंध, पद ३३७।**

२. **'रस-मीमांसा', पृ० ३५२।**

इन रहस्यात्मक अन्तिम पंक्तियों की व्याख्या करते हुए पं० रामदहिन मिश्र लिखते हैं, "इस पद्य का आध्यात्मिक अर्थ लें तो यही होगा कि छाया-रूप जगत् को जहाँ तक हो प्यार कर लिया जाय। उसके सुख-दुःख उठा लिये जायें। फिर दोनों का संयोग असम्भव है, क्योंकि आत्म-रूप मैं और तुम महाशून्य में विलीन हो जाओगी। यहाँ प्रस्तुत महाशून्य और परम प्रकाश के लिए तम और प्रियतम अप्रस्तुत की योजना है। इसमें भी इन्हें उपमान कहा जा सकता है; क्योंकि ये उपमानों के स्थानों पर हैं और इस प्रकार रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।"[1] इससे भी और अधिक व्यापक प्रसग के उदाहरण के लिए हम सूफी कवि नूर मोहम्मद की 'अनुराग-बाँसुरी' को लेते है। यह अन्योक्ति-पद्धति में लिखा हुआ एक रहस्यात्मक प्रबन्ध-काव्य है, जिसमें हमें समस्त जीवन का प्रतीकात्मक चित्रण मिलता है। शुक्लजी के ही विचारानुसार इसमें कवि ने शरीर, जीवात्मा और मनोवृत्तियों आदि को लेकर पूरा अध्यवसित रूपक (Allegory) खड़ा करके कहानी बाँधी है।[2] इसके सारे पात्र रूपक है जैसा-कि हिन्दी में प्रसाद की 'कामना', संस्कृत में कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' आदि नाटकों एवं अंग्रेजी में स्पेन्सर की 'फेयरी क्वीन' आदि रचनाओं में हम पाते हैं। टेकनीक की दृष्टि से यह अध्यवसित रूपक कौनसा काव्य है ? इस विषय में शुक्लजी के सह-सम्पादक, सूफी-साहित्य के मर्मज्ञ श्री चन्द्रबली पांडे 'अनुराग-बाँसुरी' की भूमिका में लिखते हैं,[3] "अनुराग बाँसुरी' को हम शुद्ध उपमित कथा के रूप में पाते हैं और इसे कहना भी चाहते हैं, परोक्ति। परोक्ति संकेत तो नया है, पर वस्तुतः इसमें नवीनता कुछ भी नहीं, अन्योक्ति साहित्य-शास्त्र का चिर-परिचित शब्द है। परोक्ति भी तो उसीका पर्याय है। पर नहीं, दोनों में थोड़ा अन्तर भी है। परलोक में जो भावना बसी है, वह किसी अन्य लोक में कहाँ है ? इसके अतिरिक्त एक दूसरा प्रलोभन भी है। इसमें 'परा' का भी तो संकेत है ! तो हम फिर परमार्थ की रचनाओं के लिए 'परोक्ति' को ही क्यों न प्रचलित करें और क्यों न इसे ही इस कोटि की उपमित-कथाओं अथवा निर्देशों के हित ठीक समझें ? प्रश्न उठता है 'अन्योक्ति' को क्या करें। निवेदन है, साहित्य-शास्त्र में उसे वैसे ही रहने दें और साधना के क्षेत्र में इसको महत्त्व दें।" इस तरह पांडेजी ने विषय-भेद लेकर 'परोक्ति' और 'अन्योक्ति' के मध्य थोड़ा-सा अन्तर स्थापित करके 'अनुराग-बाँसुरी' को परोक्ति माना है।

१. **'काव्य में अप्रस्तुत योजना', पृ० ६।**
२. **'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृ० १३७ (सं० १९९७)।**
३. **'अनुराग-बाँसुरी', पृष्ठ ७६।**

किन्तु उनके आगे जब जायसी के 'पद्मावत' का प्रश्न आता है, जिसमें 'अनुराग बाँसुरी' की तरह निरी कल्पना-ही-कल्पना नहीं है, प्रत्युत कुछ इतिहास भी बोल रहा है, तो पांडेजी एक और नया शब्द गढ़कर उसे 'सन्ध्योक्ति'[१] कहने लगे, क्योंकि उसमें साधनात्मक रहस्यवादियों की-सी ऐसी 'सान्ध्य भाषा' है, जिसमें दो अर्थ झिलमिलाते है—एक लौकिक और एक सैद्धान्तिक। फिर जब पांडेजी को 'पद्मावत' में दिव्य संकेत भी मिलने लगे, तो वे झट उन स्थलों को 'गर्भोक्ति' कहने लगे। इस तरह छोटे-मोटे भेद को लेकर अन्योक्ति के पृथक्-पृथक् नाम गढ़ने रहने से तो उनकी संख्या न जाने कितनी ही हो जायगी। अतएव विषय-गत 'थोड़े अन्तर' को महत्त्व न देकर हम 'अनुराग-बाँसुरी' आदि के लिए सामान्य 'अन्योक्ति' शब्द का ही प्रयोग करेंगे, जो क्या परलोक और क्या अन्य लोक—दोनों का प्रतिपादन कर देता है और जिसे पांडेजी के गढ़े हुए 'परोक्ति', 'सन्ध्योक्ति', 'गर्भोक्ति' आदि नये सिक्के अपने व्यापक प्रचलन से सीमित करने में कथमपि सफल नहीं हो सके। 'पद्मावत' के सम्बन्ध में उसके लौकिक अर्थ को महत्त्व न देते हुए पं० रामदहिन मिश्र पांडेजी से एक पग और आगे बढ गए। वे लिखते है,[२] "सारा 'पद्मावत' काव्य ही प्रस्तुत और अप्रस्तुत का रहस्य बना हुआ है। रत्नसेन, पद्मावती, सुआ आदि को अप्रस्तुत रूप में मानकर 'साधक' परमात्मा, सद्गुरु आदि प्रस्तुत की कल्पना की गई है।....इसमें भी रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।" 'पद्मावत' और 'अनुराग-बाँसुरी' को आप सन्ध्योक्ति या रूपकातिशयोक्ति या 'परोक्ति' जो चाहे कहें, किन्तु वास्तव में वे हैं अन्योक्तियाँ ही और उनके अप्रस्तुत विधानों में जीवन के समस्त प्रसंग की अभिव्यक्ति है, वस्तुगत गुण या क्रिया-विशेष की नहीं।

सारूप्य-निबन्धना में गुण-क्रिया की अभिव्यक्ति

अन्योक्ति के अध्यवसित-रूपक भेद में अप्रस्तुत रूप-विधान द्वारा वस्तु-विशेष के गुण अथवा क्रिया का अवबोधन तथा समस्त जीवन की अभिव्यक्ति भी हम बता आए हैं। सारूप्य-निबन्धना 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' के सम्बन्ध में जैसा कि शुक्लजी ने माना है—हमने पीछे व्यापार-समष्टि का ही उल्लेख किया है, किन्तु सच तो यह है कि अपने विशाल क्षेत्र में समस्त जीवन की तरह यह लघु क्षेत्र में वस्तुगत गुण या क्रिया को भी अभिव्यक्त कर सकती है। इस तरह रूपकातिशयोक्ति की तरह सारूप्य-निबन्धना का कार्य-क्षेत्र भी बड़े-से-बड़ा हो सकता है और छोटे-से-छोटा भी। अपने छोटे रूप में

१. **'अनुराग-बाँसुरी', पृ० ७७।**

२. **'काव्य में अप्रस्तुत-योजना', पृ० ६।**

यह गुण या क्रिया-विशेष को, जीवन के किसी कोने को अथवा मन की किसी वृत्ति-विशेष को आधार बनाकर परिहास, विद्रूप अथवा व्यंग्य के रूप में प्रयुक्त होती है। एकदेशी ऐसी कितनी ही अन्योक्तियाँ आज साधारण बोल-चाल में लोकोक्तियाँ बनी हुई हैं, जैसे—कल मिलने वाले मोर की अपेक्षा आज हाथ में आया हुआ कबूतर अच्छा;[1] एक ढेले से दो चिड़िया मारना; मेंढकी को भी जुकाम होना; ऊँट के मुँह में जीरा; डूबते को तिनके का सहारा इत्यादि। इन लोकोक्तियों के अतिरिक्त नाटक, उपन्यास और कहानी, सबमें वस्तुगत गुण-क्रिया बताने के लिए ऐसी फुटकर अन्योक्तियों का प्रयोग सभी भाषाओं में बराबर होता आया है, जैसे :

'**शकुन्तला :** सन्ताप को मिटाने वाले लता-मंडप, अच्छा अब तुमसे विदा लेती हूँ, फिर तुम्हारा आनन्द लेने आऊँगी।'[2]

यहाँ लता-मण्डप राजा दुष्यन्त का प्रतीक है।

इसी तरह—

'**सुहासिनी :** तुम मुझे अन्धी बना रहे हो।

'**विष्णुवर्धन :** हाँ, क्योंकि तुम्हारी दृष्टि उपवन के अनेकानेक पुष्पों और गगन के अगणित नक्षत्रों में उलझ जाती है।

'**सुहासिनी :** और तुम चाहते हो कि मैं केवल एक नक्षत्र को अपलक निहारती रहूँ ?

'**विष्णुवर्धन :** क्या किसी नक्षत्र के ऐसे नक्षत्र हैं ?

'**सुहासिनी :** हाँ, हैं, एक देदीप्यमान नक्षत्र के।

'**विष्णुवर्धन :** दर्शन कराओगी उस भाग्यवान नक्षत्र के मुझे ?

'**सुहासिनी :** दिन के प्रकाश में नक्षत्र नहीं दीखते, उसे देखने के लिए रात्रि का अन्धकार चाहिए।'[3]

इसी प्रकार—

'**कंचनी :** तुम कैसे प्रेमी हो, जो उर्वशी को आकाश में आखेट करने भेजना चाहते हो ?

'**वत्स :** हाँ, क्योंकि आकाश के अनगिनत तारकों के मध्य एक अमंगल-कारी धूम्रकेतु का उदय हुआ है। उसके विनाश में ही संसार का

---

१. वरमद्य कपोतः श्वो मयूरात्।

२. लतागृह सन्तापहर ! आमन्त्रये त्वां पुनरपि परिभोगार्थम्।

—शकुन्तला, अंक ३, कालिदास।

३. 'शपथ', पृ० ३०, हरिकृष्ण 'प्रेमी'।

मंगल है।

'कंचनी : हाँ, एक धूम्रकेतु को मैं जानती हूँ। एरण के रण-क्षेत्र में, ऐसी ही मादक चाँदनी रात में, मैंने एक विहग पर बाण छोड़ा था, किन्तु वह बाण विहग के वक्षस्थल में अवस्थित लौह-खण्ड से टकराकर खण्ड-खण्ड हो गया।'[1]

मुक्तक छन्दों में भी गुण-क्रिया का चित्र खींचने वाली अन्योक्तियाँ बहुत हैं, जैसे :

धरि सोने का पींजरा, राखो अमिय पियाइ।
विष को कीड़ा रहत है विष में ही सुख पाइ॥ (रसनिधि)
पावस देखि रहीम मन कोयल साधे मौन।
अब दादुर वक्ता भये हमहिं पूछिहै कौन॥ (रहीम)

यहाँ प्रथम में तो विष-कीट का गुण—स्वभाव—बताया गया है कि चाहे उसे सोने की डिबिया में रखकर अमृत भी क्यों न पिलाया जाया, किन्तु वह विष में रहना ही पसन्द करेगा और दूसरे दोहे में मूर्खों के बीच पण्डित का चुप रहना क्रिया की अभिव्यक्ति है। इसी तरह अन्योक्ति के सम्बन्ध में यह कहना कि वह जीवन का समस्त प्रसंग लेकर ही चलती है, वस्तु-गत गुण-क्रिया को लेकर नहीं, ठीक नहीं है। इसलिए हमारे विचार में अन्योक्ति का कार्य-क्षेत्र 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' है। डॉ० सुधीन्द्र के अन्योक्ति के सम्बन्ध में कहे गए 'वह मानस के किसी भी भाव को, संसार के किसी भी पदार्थ को, जीवन के किसी भी क्षेत्र को अस्पर्श्य नहीं मानती'[2] इन शब्दों का अभिप्राय भी अन्योक्ति में जीवन के छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े बिन्दु तक को भी चित्रण करने की क्षमता बताना है।

हम अन्योक्ति-वर्ग की अध्यवसित रूपक और सारूप्य-निबन्धना धाराओं का विस्तृत विवेचन कर आए हैं। इनके अतिरिक्त अप्रस्तुत-विधान का एक तीसरा रूप भी होता है, जिसे हम समासोक्ति धारा कहेंगे और अन्योक्ति-वर्ग के भीतर रखेंगे जैसा कि दास ने भी कर रखा है, और लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने भी माना है।[3] हम देख आए हैं कि पूर्वोक्त दोनों धाराओं में वाच्यार्थ अप्रस्तुत, गौण एवं प्रस्तुत का उपरंजक-भर रहता है और प्रधान रहता है उपलक्ष्यमाण

समासोक्ति धारा

१. वही, पृ० ६६।
२. 'हिन्दी-कविता में युगान्तर', पृ० ४८७।
३. 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', पृ० ६५।

अथवा व्यज्यमान अर्थ; अथवा यों कहिए कि अध्यवसित रूपक लक्ष्यार्थ-प्रधान होता है, और अप्रस्तुत-प्रशंसा व्यंग्यार्थ-प्रधान। किन्तु समासोक्ति-धारा में यह बात नहीं है। यहाँ तो वाच्यार्थ ही प्रधान और प्रस्तुत रहता है, लेकिन शब्द-योजना अथवा आर्थिक साम्य कुछ ऐसा रहता है कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थों के कार्य, लिंग अथवा विशेषण आपस में मिलते-जुलते रहने से प्रस्तुत पर अप्रस्तुत की छाया अथवा व्यवहार-आरोप हो जाता है और इस तरह प्रस्तुत अर्थ अप्रस्तुत अर्थ की ओर भी संकेत कर देता है। इसमें अप्रस्तुत-विधान व्यापार-समष्टि को लेकर चलता है। आधुनिक साहित्यिकों ने इसे समासोक्ति अलंकार कहा है। आचार्य मम्मट के शब्दों में श्लिष्ट विशेषणों द्वारा हुई परोक्ति समासोक्ति होती है।[1] मम्मट द्वारा 'परोक्ति' शब्द का प्रयोग हमें स्पष्टतः रुद्रट आदि आचार्यों के 'अन्योक्ति' शब्द से प्रभावित हुआ लगता है और ये दोनों शब्द वास्तव में पर्याय ही है। इस तरह मम्मट समासोक्ति को अप्रत्यक्ष रूप से अन्योक्ति मान गए हैं। रामदहिन मिश्र ने तो स्पष्ट शब्दों में कह दिया है 'समासोक्ति ही हिन्दी-संसार में अन्योक्ति के नाम से प्रसिद्ध है।'[2] समासोक्ति को अन्योक्ति कहते हुए हमें यह भूल न जाना चाहिए कि उक्ति शब्द यहाँ व्यंग्यार्थक है अर्थात् इसमें अन्य—अप्रस्तुत—की अभिव्यंजना होती है। जैसा कि हम पीछे कह आए हैं, दण्डी आदि कुछ प्राचीन आचार्यों ने इसके ठीक विपरीत सारूप्य-निबन्धना अर्थात् अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति को समासोक्ति माना है। भोजराज ने प्रस्तुत द्वारा अप्रस्तुत की प्रतीति को 'समाधि' कहा है।[3] जो भी हो, हम तो, जैसा कि आजकल साधारणतः सभी आलंकारिकों का विचार है, इसे समासोक्ति ही कहेंगे। समास संक्षेप या मेल को कहते है और संक्षेप में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत का समान रूप से कथन होने के कारण अथवा दोनों के परस्पर मिले-जुले रहने के कारण 'समासोक्ति' यह अन्वर्थ संज्ञा है।

आचार्य विश्वनाथ ने समासोक्ति के तीन भेद माने हैं—कार्य-साम्य, लिंग-साम्य और विशेषण-साम्य।[4] कार्य-साम्य में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एक-जैसा कार्य रहता है, इसलिए प्रस्तुत अप्रस्तुत की ओर संकेत कर देता है, जैसे :

समासोक्ति के भेद

१. परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः। 'काव्यप्रकाश', १०।१४८।

२. 'काव्य में अप्रस्तुत-योजना', पृ० १०५

३. समाधिम् अन्यधर्माणाम् अन्यत्रारोपणं विदुः। 'सरस्वती-कंठाभरण', ४।४४।

४. समासोक्तिः समैः यत्र कार्य-लिंग-विशेषणैः।
व्यवहार-समारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुतः॥ 'साहित्य दर्पण', १०।५२४।

देख रहे हैं सब पादप-गण
खींच रहा है वसन समीरण
लतिकाएँ हो क्रोधित क्षण-क्षण,
फेंक रही हैं सुमन विभूषण ।। (कादम्बिनी)

यहाँ समीरण एवं लतिकाओं और गुण्डों और ललनाओं में एक-जैसा कार्य अथवा वृत्तान्त होने के कारण प्रस्तुत समीरण और लताएँ किसी गुण्डे के चंगुल में फँसी स्त्रियों की ओर संकेत करते है। हम 'पद्मावत' आदि रहस्य-वादी रचनाओं में भी देखते हैं कि उनकी प्रस्तुत पद्मावती आदि नायिकाएँ अपने अद्वितीय सौन्दर्य से लोगों को यों मुग्ध कर देती हैं, जिस तरह कि पारलौकिक सत्ता अपने विराट् सौन्दर्य से निखिल विश्व को मुग्ध एवं विस्मित किये रहती है। रत्नसेन आदि भी तो उनकी प्राप्ति के लिए ऐसा ही आत्म-बलिदान करते हैं, जैसा कि साधक लोग पर-तत्त्व की प्राप्ति के लिए करते दिखाई देते हैं। यह सब प्रस्तुत और अप्रस्तुत के मध्य कार्य-साम्य ही है। लिंग-साम्य के लिए भी हम उपरोक्त पद्य ले सकते हैं, क्योंकि वहाँ समीरण पुल्लिंग है और लतिकाएँ स्त्री-लिंग, इसलिए अप्रस्तुत अर्थ भासित हो जाता है। अथवा :

अस्ताचल को रवि करता है सन्ध्या-समय गमन।
विरह-व्यथा से हो जाती है वसुधा सजल-नयन ।।

यहाँ रवि और सन्ध्या क्रमशः पुल्लिंग और स्त्रीलिंग होने के कारण उनसे अप्रस्तुत नायक-नायिका की ओर संकेत हो जाता है। विशेषण-साम्य दो तरह का होता है—श्लिष्ट विशेषण और साधारण विशेषण। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि समासोक्ति में विशेषण-मात्र ही श्लिष्ट रहते हैं, अप्रस्तुत-प्रशंसा की तरह विशेष्य कभी श्लिष्ट नहीं रहता। उदाहरण के लिए, जैसे :

सालंकार सुवर्न-युत, रस-निरभर गुण-लीन।
भाव-निबन्धित जयति जय, कवि भारती नवीन ।। (जसवन्त जसोभूषण)

यहाँ प्रस्तुत कवि की नवीन वाणी है, जो उपमादि अलंकारों, सुन्दर वर्णों, शृङ्गारादि रसों, माधुर्यादि गुणों और विविध भावों से युक्त है, किन्तु अलंकार आदि शब्द श्लिष्ट होने के कारण वे गहनों से सज्जित, सुन्दर रंग की, अनुराग-भरी, गुणों और हाव-भावों से परिपूर्ण किसी नवयुवती की ओर भी संकेत कर देते हैं। हिन्दी में आजकल श्लेष का प्रयोग बहुत कम होता है। आर्थिक साम्य पर आधारित साधारण विशेषणों वाली समासोक्तियाँ ही अधिकतर देखने में आती हैं। वास्तव में कार्य-साम्य और लिंग-साम्य भी आर्थिक साम्य

के भीतर ही आ जाते है, अतएव आधुनिक हिन्दी आलंकारिक इन दोनों भेदों को साधारण विशेषण भेद से ही गतार्थ हुआ मान लेते हैं।

भट्ट देवशंकर-जैसे कुछ संस्कृत-आलंकारिक उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त सारूप्य को भी समासोक्ति का भेद मानते हैं, जैसा कि हम पीछे सारूप्य-निबन्धना अप्रस्तुत-प्रशंसा में देख आए हैं। भेद केवल इतना ही है कि यहाँ तो अप्रस्तुत व्यंग्य रहता है जब कि अप्रस्तुत-प्रशंसा में प्रस्तुत। उदाहरण रूप में भट्टजी का ही निम्न लिखित पद्य लीजिए :

सारूप्य-निबन्धना समासोक्ति

पुरा पूर्णस्तडागो यः पद्मिनी-हंस-संकुलः
अधुना नीरसः सोऽयं कुश-काश-बकैर्वृतः ॥[1]

इसमें 'प्रस्तुत तड़ाग के वृत्तान्त से अप्रस्तुत किसी ऐसे कुटुम्बी पुरुष के वृत्तान्त की प्रतीति होती है, जो पहले तो खूब धन-धान्य-समृद्धि से पूर्ण था, किन्तु अब बुरी हालत में पड़ा हुआ है।'[2] सारूप्य निबन्धना समासोक्ति और अप्रस्तुत-प्रशंसा के मध्य प्रस्तुत और अप्रस्तुत की भेदक रेखा इतनी पतली है कि ये दोनों परस्पर एक-दूसरी की सीमा में गई, घुली-मिली प्रतीत होती हैं। कोई भी साधारण पाठक यहाँ तड़ाग को अप्रस्तुत समझकर उसके द्वारा अभिव्यज्यमान पुरुष-विशेष को प्रस्तुत मान सकता है। यही बात पूर्वोक्त समीरण और लतिकाओं एवं रवि और सन्ध्या वाले प्रकृति-चित्रों पर भी लागू हो सकती है। कारण यह है कि किसी भी वस्तु का प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत होना तो वास्तव में वक्ता के तात्पर्य पर निर्भर करता है, जिसका पता हमें प्रकरण आदि से ही लग सकता है, किन्तु कभी-कभी प्रकरण आदि का पता लगाना सरल नहीं होता। छायावाद की अप्रस्तुत-योजना में तो यह बात विशेष रूप से देखने में आती है। छायावाद-युग एक क्रान्ति-युग रहा। इसमें पहले से चली आ रही कितनी ही मान्यताओं और परम्पराओं को तोड़-फोड़कर स्वतन्त्र बने हुए कवि

१. हिन्दी रूपान्तर :

कमल-हंस-कुल-कान्ति-सुशोभित
जो सर था पहले जल-पूरित,
वही पड़ा अब जल से विरहित
घास-पात बगलों से दूषित।

२. अत्र तडाग-वृत्तान्ते प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य कस्यचित् कुटुम्बिनो धन-धान्य-समृद्धि-शालिनः सम्प्रति प्राप्तदुर्दशस्य पुंसो वृत्तान्तः प्रतीयते।

—'अलंकार-मंजूषा', पृ० ८१, उज्जैन-संस्करण।

की अनुभूति एक बिलकुल नये ही वातायन से झाँकने लगी। अब प्रकृति रीति-युग की तरह निरी उद्दीपन ही नहीं बनी रही, अपितु आलम्बन और प्रतीक बनकर भी आई। आलम्बन-रूप में प्रकृति-चित्रण ने मानवी व्यवहार के आरोपों (Personifications) से एक ओर अप्रस्तुत का संकेत करके समासोक्ति के लिए क्षेत्र बनाया, तो दूसरी ओर प्रतीक बनकर प्रस्तुत को व्यंजित करते हुए अप्रस्तुत-प्रशंसा का निर्माण किया। ऐसी स्थिति में वहाँ समासोक्ति अथवा अप्रस्तुत प्रशंसा का एकदम निर्णय करना कितना कठिन होता है, इस बात का विस्तृत विवेचन हम आगे अन्योक्ति-पद्धति के छायावाद-प्रकरण में करेंगे। यही कारण है कि समासोक्ति को हमें अन्योक्ति-वर्ग के भीतर लाना पड़ा। रीति-युगीन प्रसिद्ध अन्योक्तिकार बाबा दीनदयाल गिरि ने अपने 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' में षट्ऋतुओं के जितने भी चित्र खीचे हैं, उनमें कही श्लेष द्वारा और कही बिना श्लेष के अप्रस्तुत मानव-व्यवहार का आरोप दिखाया है, जिससे वे समासोक्तियाँ बनी हुई है; किन्तु बाबाजी ने भी उन्हे अन्योक्ति ही माना है, समासोक्ति नहीं। हम देखते हैं कि उन्होंने अन्योक्ति से भिन्न कुछ अन्य अलंकारों पर भी कविता की है, किन्तु उसके साथ उनके नाम का शीर्षक भी दे रखा है। जैसे, 'सूक्ष्मालंकार', 'लेशालंकार' इत्यादि। यदि बाबाजी को समासोक्ति अन्योक्ति से भिन्न अभीष्ट होती, तो वे अन्य अलंकारों की तरह समासोक्ति के नाम का भी पृथक् शीर्षक देते। इससे सिद्ध होता है कि उनके विचार में समासोक्ति और अन्योक्ति दो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं।

अप्रस्तुत-व्यवहारारोप के प्रकार

राजानक रुय्यक ने प्रस्तुत पर आरोपित किये जाने वाले अप्रस्तुत-व्यवहार के कितने ही भेद बताए हैं।[1] कहीं लौकिक वस्तु पर लौकिक वस्तु का ही व्यवहारारोप रहता है और कभी-कभी उस पर शास्त्रीय वस्तु का भी व्यवहारारोप हो जाता है। इसी तरह कहीं शास्त्रीय वस्तु पर शास्त्रीय वस्तु अथवा लौकिक वस्तु का व्यवहारारोप पाया जाता है। फिर लौकिक और शास्त्रीय वस्तुएँ भी तो कितनी ही तरह की होती हैं। तदनुसार समासोक्ति भी स्वभावतः कितनी ही तरह की हो जाती है। हिन्दी के अलंकार-शास्त्री अन्योक्ति की तरह समासोक्ति के इस विश्लेषण की सूक्ष्मता में नहीं गये है, यद्यपि हिन्दी के कवियों ने उल्लिखित समासोक्ति-भेदों का न्यूनाधिक रूप में अवश्य प्रयोग किया है। लौकिक वस्तु पर लौकिक ही वस्तु के व्यवहार-समारोप के उदाहरण के लिए पूर्वनिर्दिष्ट तड़ाग, रवि-संध्या अथवा

१. 'अलंकार-सर्वस्व', पृ० ११३, निर्णय सागर-संस्करण।

समीरण-लताओं वाले प्रकृति-चित्रों को ले लीजिए। ये सब प्रस्तुत लौकिक वस्तुएँ हैं और इन पर जिन अप्रस्तुत नायक-नायिका आदि का व्यवहार-समारोप है, वे भी लौकिक ही हैं। शास्त्रीय वस्तु पर लौकिक वस्तु के व्यवहारारोप के लिए पूर्वोक्त श्लिष्ट समासोक्ति का उदाहरण है। इसमें अलंकार, रस, गुण आदि सब काव्य-शास्त्र की वस्तुएँ हैं और इन पर श्लेष द्वारा जिन हार, रूप, अनुराग आदि का व्यवहारारोप एवं कवि-वाणी पर जो नवयुवती का व्यवहारारोप किया गया है, वे सब लौकिक हैं। इसके विपरीत लौकिक वस्तु पर शास्त्रीय वस्तु के व्यवहारारोप के लिए निम्नलिखित उदाहरण लीजिए :

वह अपनी आँखों के मद से सींच रही है जग फुलवारी।
उसके कभी मुस्कराते ही हँस उठती है क्यारी-क्यारी॥ (मानसी)

यहाँ लौकिक वस्तु प्रस्तुत नायिका 'मानसी' है। वह जहाँ चितवन डालती है, वहाँ सारा जगत् आनन्द-मुग्ध हो जाता है, किन्तु इससे प्रतीयमान अप्रस्तुत वस्तु यहाँ दर्शन-शास्त्र-प्रतिपाद्य वह विराट् सत्ता है, जिसके मुस्कराने पर सारा संसार मुस्करा जाता है। इस तरह प्रतीयमान वस्तु यहाँ शास्त्रीय है, इसलिए मानवीय आधार पर परोक्ष सत्ता की ओर संकेत करके चलने वाला सारा रहस्यवाद समासोक्ति के अन्तर्गत होता है। डॉ० नगेन्द्र भी जायसी और उसके सहयोगी निर्गुण सन्तों के काव्य में सांकेतिक भाषा एवं प्रतीक-पद्धति को स्वीकार करते हुए उनके समस्त वस्तु-विधान को समासोक्ति ही कहते हैं,[1] जब कि आचार्य शुक्ल और डॉ० बड़थ्वाल आदि विद्वानों ने उसे अप्रस्तुत-प्रशंसा माना है।

जैसा कि हम पीछे बता आए हैं रामबहोरी शुक्ल तथा डॉ० भगीरथ मिश्र और रामदहिन मिश्र जायसी के 'पद्मावत' को रूपकातिशयोक्ति मानते हैं।

'पद्मावत' : रूपकातिशयोक्ति, समासोक्ति या अन्योक्ति ?

मिश्रजी का रूपकातिशयोक्ति का लक्षण यह है—'जहाँ केवल उपमान द्वारा उपमेय का वर्णन किया जाय।'[2] उन्होंने इसका शब्दान्तर यों किया है—'अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना कहिए या व्यंग्य-रूपक, बात एक ही है और इसका रूप रूपकातिशयोक्ति का ही रहता है।'[3] उधर जिस सारूप्य-निबन्धना अप्रस्तुत-प्रशंसा को वे अन्योक्ति

१. 'भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका', पृ० ४३५।
२. 'काव्य-दर्पण', पृ० ४८३।
३. 'काव्य में अप्रस्तुत-योजना', पृ० १०७।

कहते हैं, उसका लक्षण भी वे यही करते हैं—'प्रस्तुत का कथन न कहकर (?) तद्रूप अप्रस्तुत का वर्णन करना'[१] और उदाहरण समन्वय में स्पष्ट करते हुए कहते हैं 'यहाँ अप्रस्तुत के सहारे प्रस्तुत किसी.......के लिए यह बात कही गई है।' समासोक्ति इन्होंने प्रस्तुत के वर्णन द्वारा अप्रस्तुत के स्फुरण में तो अवश्य मानी है,[२] किन्तु वे एकदम अपनी उसी लेखनी की नोक से 'समासोक्ति ही हिन्दी संसार में अन्योक्ति के नाम से प्रसिद्ध है,'[३] यह भी लिख बैठे। इस तरह रूपकातिशयोक्ति, समासोक्ति और अन्योक्ति का वर्णन मिश्रजी का एक प्रकार का 'शब्द-जाल' ही समझिए। अस्तु, इतना तो स्पष्ट है कि आपने श्रीमुख से 'पद्मावत' को रूपकातिशयोक्ति कहा है! किन्तु आचार्य हजारीप्रसाद का कहना है कि जो लोग पद-पद पर 'पद्मावत' में रूपक-निर्वाह की बात सोचते हैं वे गलती करते हैं।[४] 'पद्मावत' का कवि रूपक-निर्वाह के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध नहीं है। हिन्दी में सूफी-काव्य के व्याख्याता चन्द्रबली पांडे 'पद्मावत' के लिए क्या कहा जाय, यह प्रश्न उठाकर स्वयं उत्तर भी देते हैं—"उसमें तो कल्पना के साथ ही इतिहास भी बोल रहा है और वह है भी जन-सामान्य को इष्ट। अच्छा, तो इसके हेतु एक दूसरे संकेत को गढ़ लें और इसे समासोक्ति के ढंग पर 'सन्ध्योक्ति' कह लें। साधक-समाज में किसी 'सन्ध्या भाषा' का माहात्म्य है। हम इसी 'सन्ध्या' में 'उक्ति' को जोड़कर 'सन्ध्योक्ति' बनाते हैं और 'पद्मावत' को साधना के क्षेत्र में 'सन्ध्योक्ति' के रूप में पाते हैं। 'सन्ध्या' में दिन भी है, रात भी है। दोनों का उस पर समान अधिकार है। आप चाहे जिस रूप में उसे देख सकते हैं। ठीक यही बात 'पद्मावत' पर लागू है। आप चाहे उसे इतिहास अथवा लोक-रूप में देख लें, पर पहुँचा हुआ 'पंडित' तो उस लोक में परलोक ही देखता है।"[५] स्पष्ट है कि पांडेजी की 'सन्ध्योक्ति' समासोक्ति का ही एक रूपान्तर-मात्र है। 'पद्मावत' के सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचार से वस्तु-वर्णन के प्रसंग में कवि ने प्रायः इस प्रकार के विशेषणों का प्रयोग किया है, जिससे प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत परोक्ष सत्ता का अर्थ भी पाठक के चित्त में उद्भासित हो सके।[६] बाद में 'पद्मावत' से कुछ उदाहरण उद्धृत

१. 'काव्य-दर्पण', पृ० ५०२।
२. वही, ४९७।
३. 'काव्य में अप्रस्तुत-योजना', पृ० १०५।
४. 'हिन्दी-साहित्य', पृ० २७५।
५. 'अनुराग-बाँसुरी', पृ० ७७।
६. 'हिन्दी-साहित्य', पृ० २७४।

करके उनमें समासोक्ति का लक्षण-समन्वय करते हुए आचार्यजी ने अन्त में अपना यही निर्णय दिया कि "जायसी ने अपने प्रबन्ध-काव्य में इसी समासोक्ति-पद्धति का प्रयोग किया है।" यह उल्लेखनीय है कि 'पद्मावत' में निस्सन्देह ऐसे-ऐसे स्थल भी हैं, जहाँ अप्रस्तुत का संकेत प्रधान हो जाता है और प्रस्तुत प्रसंग गौण रह जाता है। किन्तु आचार्यजी ने इसे काव्यगत दोष ही माना है, जिसमें समासोक्ति-पद्धति का निर्वाह कवि द्वारा ठीक नहीं हो पाया। आचार्य शुक्ल भी 'पद्मावत' को मूलतः प्रबन्ध-काव्य ही मानते हैं।[1] क्योंकि उनकी काव्यता अथवा रसवत्ता पद्मिनी और रत्नसेन के लौकिक प्रेम-कथानक पर ही आधारित है, इसलिए ग्रन्थ में वही प्रस्तुत है। केवल बीच-बीच में कहीं-कहीं दूसरे अर्थ की व्यंजना होती है। ये बीच-बीच में आये हुए स्थल, जैसा कि कहा जा चुका है, अधिकतर कथा-प्रसग के अंग हैं—जैसे सिंहलगढ़ की दुर्गमता और सिंहलद्वीप के मार्ग का वर्णन, रत्नसेन का लोभ के कारण तूफान मे पड़ना और लंका के राक्षसों द्वारा बहकाया जाना। अतः इन स्थलों में वाच्यार्थ से अन्य अर्थ, जो साधना-पक्ष में व्यंग्य रखा गया है, वह प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से अप्रस्तुत ही कहा जा सकता है और 'समासोक्ति' ही माननी पड़ती है। किन्तु जहाँ कथा-प्रसंग से भिन्न वस्तुओं के द्वारा प्रस्तुत प्रसंग की व्यंजना होती हो, वहाँ 'अन्योक्ति' होगी। इन दोनों बातों का उद्धरणों में समन्वयपूर्वक विवेचन करते हुए अन्त में शुक्लजी ने अपना अन्तिम मन्तव्य 'पद्मावत' के सम्बन्ध में यह दिया है—"सारांश यह है कि जहाँ-जहाँ प्रबन्ध-प्रस्तुत-वर्णन में अध्यात्म-पक्ष का कुछ अर्थ भी व्यंग्य हो, वहाँ-वहाँ समासोक्ति ही माननी चाहिए। जहाँ प्रथम पक्ष में अर्थात् अभिधेयार्थ मे किसी भाव की व्यंजना नही है (जैसे मार्ग की कठिनता और सिंहगढ़ की दुर्गमता के वर्णन में) वहाँ वस्तु-व्यंजना स्पष्ट ही है, क्योंकि वहाँ एक वस्तु-रूप अर्थ से दूसरे वस्तु-रूप अर्थ की ही व्यंजना है।" यह वस्तु-व्यंजना शुक्लजी के विचार से अन्योक्ति है। इस तरह जिसे आचार्य हजारी-प्रसाद ने जायसी का काव्य-दोष माना, वही आचार्य शुक्ल के हाथों अलंकार बना हुआ है। इससे सिद्ध हुआ कि शुक्लजी के मत में 'पद्मावत' का व्यज्यमान प्रसंग समासोक्ति और अप्रस्तुत-प्रशंसा दोनों का संसृष्ट रूप है, केवल समासोक्ति अथवा अन्योक्ति नहीं। हिन्दी के नवीनतम आलोचना-ग्रन्थ 'हिन्दी महाकाव्य का विकास' के प्रणेता डॉ० शम्भूनाथसिंह 'पद्मावत' का विस्तृत और पांडित्य-पूर्ण विश्लेषण करते हुए अन्योक्ति और समासोक्ति के चक्कर में नही पड़ते, क्योंकि आपके विचारानुसार ये अलंकार हैं और अलंकारों का प्रयोग साधारणतः

१. 'जायसी-ग्रन्थावली', पृ० ५७।

सीमित ही रहता है, व्यापक नहीं। 'पद्मावत' आपको संकेत अथवा प्रतीक-पद्धति में लिखे जाने के कारण 'एलिगरी' (Allegory) प्रतीत होता है। अतएव आप इसे प्रतीकात्मक काव्य और इसकी कथा को प्रतीकात्मक कथा मानते हैं। इनका कहना है कि "जायसी ने प्रतीक-पद्धति का सहारा लेते हुए 'पद्मावत' में लौकिक कथा को बिलकुल गौण बनाकर उसके व्यंग्यार्थ (आध्यात्मिक प्रेम-कथा) को ही सब-कुछ नहीं माना है। उनका लक्ष्य आध्यात्मिक प्रेम-कथा कहना अवश्य है, किन्तु उसके लिए उन्होंने माध्यम या साधन-रूप में जो लौकिक प्रेम-कथा लिखी है, उसकी स्वाभाविकता, सौन्दर्य, साज-सज्जा और मनोहारिता की ओर इन्होंने बहुत अधिक ध्यान रखा है और इस बात की चिन्ता नहीं की है कि उनके प्रत्येक वर्णन या घटना का आध्यात्मिक अर्थ भी घटित हो। इसका कारण यह है कि सूफ़ी सिद्धान्तों के अनुरूप जायसी लौकिक जगत् को भी उतना ही महत्त्व देते हैं, जितना आध्यात्मिक जगत् को। क्योंकि लौकिक जगत् पारलौकिक सत्ता की अभिव्यक्ति या छाया ही तो है, अतः लोक-व्यवहार के रास्ते से ही आध्यामिक लोक में पहुँचा जा सकता है। इस दृष्टि से जायसी ने 'पद्मावत' को ऐसे ढंग से लिखा है कि उसकी पूरी कथा का व्यंग्यार्थ पारमार्थिक हो, किन्तु बाह्य दृष्टि से देखने पर उसकी वह कथा अपने में पूर्ण प्रतीत हो और यदि कोई उसका व्यंग्यार्थ न लेना चाहे या उसमें उसकी क्षमता न हो, तो वह भी वाच्यार्थ में ही काव्य का आनन्द प्राप्त कर सके। इस तरह 'पद्मावत' के कवि को लोकपक्ष और आध्यात्मिक पक्ष, दोनों इष्ट हैं। उसकी दृष्टि लोक के भीतर से होती हुई उसे भेदकर उसके मूल—परमार्थ—तक पहुँचाती है, अतः 'पद्मावत' की कथा अन्योक्ति-मूलक नहीं है, क्योंकि उसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों का समान महत्त्व है, यद्यपि कवि का लक्ष्य सामान्य लौकिक प्रेम के माध्यम से पाठकों के मन को आध्यात्मिक प्रेम के क्षेत्र में पहुंचाना है। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही उसने प्रतीक-योजना और सांकेतिक पद्धति का सहारा लिया है।"[१] डॉ० सिंह का यह कथन ऊपर से निस्सन्देह ठीक ही लगता है कि जायसी ने लोक या परमार्थ दोनों पक्षों को बराबर संतुलन दे रखा है, किन्तु उन्होंने इस कथा को प्रतीक-पद्धति में लिखी हुई 'एलिगरी' जो कहा है, उसका काव्य-शास्त्र की दृष्टि से विश्लेषण अवश्य होना चाहिए कि पश्चिम की आयात-वस्तु 'एलिगरी' वास्तव में क्या है। कामायनी-प्रकरण में एक स्थान पर इन्होंने फुट नोट में एक अंग्रेजी कोश के आधार पर लिखा है—"एलिगरी ऐसा लम्बा या कथात्मक रूपक है, जिसमें एक कथा दूसरी कथा के आवरण में छिपाकर कही जाती है

१. 'हिन्दी-महाकाव्य का विकास', पृ० ४७१।

और जिसकी घटनाएँ प्रतीकात्मक होती हैं और पात्र भी प्रायः मानवीकृत अथवा 'टाइप' होते हैं।"[1] इस व्याख्या के अनुसार 'एलिगरी' प्रबन्धगत सांग-रूपक ही ठहरती है और रूपक उन साम्य-मूलक अलंकारों में से है, जिनमें प्रतीक अथवा उपमान की स्थिति उपमेय की अपेक्षा अवर या गौण ही रहा करती है, प्रधान नहीं। रूपक भी यहाँ व्यंग्य ही हो सकता है, जिसे रूपकातिशयोक्ति कहते हैं और सम्भवतः इसी कारण रामदहिन मिश्र, रामबहोरी शुक्ल तथा डॉ० भगीरथ मिश्र ने 'पद्मावत' को रूपकातिशयोक्ति कहा हो। किन्तु आलोच्य ग्रन्थ के सम्बन्ध में हिन्दी के आलंकारिकों का परस्पर मतभेद देखकर हमारे मन में यह प्रश्न उठता है कि "क्या जायसी ने स्वयं अपनी रचना के विषय में कोई ऐसा अन्तरंग प्रमाण अथवा संकेत तो नहीं दिया जो हमें इस सांविधानिक कठिनाई को हल करने में सहायता दे। इसका उत्तर हमें 'हाँ' के रूप में मिलता है। हम देखते हैं कि 'पद्मावत' के उपक्रम और उपसंहार दोनों में अन्योक्ति स्पष्ट हो रही है। स्तुति के बाद प्रारम्भ की अन्योक्ति देखिए :

भँवर आइ बनखंड सन लेइ कँवल कै बास।
दादुर बास न पावई भलहि जो आछै पास॥[2] (२४)

कवि कहता है कि क्योंकि भ्रमर सौरभ और रस का पारखी है, इसलिए दूर वन-खंड से आकर कमल का सौरभ और रस लेता है, किन्तु मेंढक भी एक ऐसा भोंडा जीव है कि वह सदा पानी में कमल के पास तो रहता है, पर कमल के सौरभ एवं रस का आनन्द नहीं ले सकता। इसमें जायसी ने स्पष्ट ही कर दिया है कि उनके ग्रन्थ में प्रधान अर्थ आध्यात्मिक प्रेम का आनन्द है और मूल लौकिक अर्थ को प्रधान मानने वाले लोग निरे दादुर ही हैं। इसी तरह जब हम ग्रन्थ की समाप्ति की ओर ध्यान देते हैं, तो वहाँ यद्यपि वास्तविक रूप में अन्योक्ति तो नहीं है, किन्तु जायसी ने अपने ग्रंथ की अन्योक्ति के अप्रस्तुत-विधान में कौन-कौन किस-किस के प्रतीक हैं, यह रहस्य स्वयं यों खोल दिया है :

चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माहीं॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुद्धि पद्मिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेह पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥

---

१. "An allegory is a prolonged metaphor in which typically a series of actions are symbolic of other actions while the characters often are type or personifications."

—Websters New International Dictionary, p. 68.

२. 'जायसी-ग्रन्थावली', पृ० ६।

नागमती यह दुनिया धन्धा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।।
राघव दूत सोह सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू।।
प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु।।[1]

हमारे विचार से ग्रन्थकार की बात ही प्रामाणिक मानी जानी चाहिए। आचार्य हजारीप्रसाद उपर्युक्त चौपाइयों को मौलिक न मानकर प्रक्षिप्त मानते है[2] और इसका आधार बनाते है डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'पद्मावत' को, जिसमें ये पंक्तियाँ नही है। किन्तु आचार्य शुक्ल ने इन्हे मौलिक मान रखा है और 'जायसी-ग्रन्थावली' में मूल-पाठ में दे रखा है। डॉ० नगेन्द्र भी शुक्लजी के अनुयायी हैं।[3] हम भी इन्हें मौलिक ही मानेंगे और आगे चलकर इस पर भी प्रकाश डालेंगे कि क्यों कवि को अपनी अन्योक्ति पर से पार्थिव आवरण हटाना पड़ा। रहस्यवाद के विद्वान् डॉ० बड़थ्वाल 'पद्मावत' को ही नहीं, प्रत्युत इस जैसी सभी सूफी प्रेम-कहानियों को अन्योक्तियाँ ही मानते हैं।[4] श्री चन्द्रबली पांडे का भी यही कहना है कि सूफी-काव्य में प्रतीकों के आधार पर अन्योक्ति का विधान होता है।[5]

ऊपर जो प्रश्न 'पद्मावत' के विषय में उठे है, स्वाभाविक था कि वे प्रसाद-रचित छायावाद-युग की उत्कृष्ट कृति 'कामायनी' पर भी उठते, अर्थात् यह रूपकातिशियोक्ति है या समासोक्ति या अप्रस्तुत-प्रशंसा। किन्तु सौभाग्य से प्रसाद ने स्वयं 'कामायनी' के 'आमुख' में 'यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बडा ही भावमय और श्लाघ्य है'[6] लिखकर इसका रूपकत्व स्वीकार कर रखा है और यही कारण है कि आचार्य शुक्ल आदि सभी समीक्षक इसे 'रूपक-काव्य' ही मानते चले आ रहे हैं। प्रसाद की 'यदि' की शर्त केवल उनकी निरभिमानिता की द्योतक ही समझी जानी चाहिए, रूपक की अनिश्चयात्मकता की नहीं, अन्यथा जिस वैदिक कथानक के आधार पर उन्होंने 'कामायनी' खड़ी की है, उसके सम्बन्ध में वे क्यों इस प्रकार निश्चयपूर्वक कहते कि 'यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक

'कामायनी' का रूपकत्व

१. वही, पृष्ठ ३०१।
२. 'हिन्दी-साहित्य', पृ० २७५।
३. 'हिन्दी ध्वन्यालोक', पृ० ५६।
४. 'हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', पृ० २१।
५. 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत', पृ० १०८।
६. 'कामायनी', पृ० ४, (सम्वत् २००९)।

का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है' और क्यों उसमें इति-वृत्त-पक्ष के साथ मनो-वैज्ञानिक पक्ष को भी संतुलित रखने के लिए इतने सचेष्ट रहते ? किन्तु प्रश्न यह है कि उक्त 'रूपक' क्या वस्तु है ? डॉ० नगेन्द्र इसका यह उत्तर देते हैं—"रूपक के हमारे साहित्य-शास्त्र में दो अर्थ हैं। एक तो साधारणतः समस्त दृश्य-काव्य को रूपक कहते हैं; दूसरे, रूपक एक साम्य-मूलक अलंकार का नाम है, जिसमें अप्रस्तुत का प्रस्तुत पर अभेद आरोप रहता है। इन दोनों से भिन्न रूपक का तीसरा अर्थ भी है, जो अपेक्षाकृत अधुनातन अर्थ है और इस नवीन अर्थ में रूपक अंग्रेजी के एलिगरी का पर्याय है। एलिगरी एक प्रकार के कथा-रूपक को कहते हैं। इस प्रकार की रचना में प्रायः एक द्वयर्थक कथा होती है, जिसका एक अर्थ प्रत्यक्ष और दूसरा गूढ़ होता है। हमारे यहाँ इस प्रकार की रचना को प्रायः अन्योक्ति कहा जाता था।.... रूपक के इस नवीन अर्थ में वास्तव में संस्कृत के रूपक और अन्योक्ति दोनों अलंकारों का योग है।"[1] डॉ० नगेन्द्र का रूपक-काव्य अथवा एलिगरी का यह विश्लेषण डॉ० शंभूनाथसिंह की अपेक्षा शास्त्रीय एवं अधिक युक्तियुक्त है। इस अधुनातन अर्थ की दृष्टि से 'कामायनी' की तरह 'पद्मावत' भी सुतरां रूपक ही सिद्ध होता है। किन्तु इस तरह हमें अन्योक्ति शब्द को भी यहाँ व्यापक और नवीन अर्थ में ही लेना पड़ेगा, रूढ़ अर्थ में नहीं। कारण यह है कि डॉ० नगेन्द्र अथवा अन्य समीक्षकों ने 'कामायनी' में प्रतीयमान सूक्ष्म दार्शनिक अर्थ को अप्रस्तुत मान रखा है और वाच्य ऐतिहासिक अर्थ को प्रस्तुत। किन्तु अन्योक्ति के परम्पराभुक्त अर्थ में प्रतीयमान वस्तु सदा प्रस्तुत ही रहती है, अप्रस्तुत नहीं। अतः 'कामायनी', जैसा कि डॉ० शम्भूनाथसिंह का कहना है, अन्योक्ति हो ही नहीं सकती। किन्तु यदि अन्योक्ति को अपने व्यापक नवीन अर्थ में लिया जाय, जैसा कि हम लेते आ रहे हैं और भिखारीदास ने भी ले रखा है, तब तो कोई आपत्ति नहीं उठती। हम पीछे देख आए हैं कि आचार्य मम्मट ने समासोक्ति में प्रतीयमान गौण अप्रस्तुत अर्थ को 'परोक्ति' कह ही रखा है, जो अन्योक्ति का पर्याय-शब्द है। अतएव प्रस्तुत और अप्रस्तुत की भेद-विवक्षा न करके अन्योक्ति में सामान्यतः दूसरे अर्थ का बोध ही ग्रहण करना चाहिए और इस तरह अन्योक्ति अलंकारों की इकाई न रहकर एक वर्ग बन जाती है, जिसके भीतर रूपक, प्रतीकात्मक काव्य, समासोक्ति, श्लेष आदि सभी आ जाते हैं।

हम अभी ऊपर कह आए हैं कि डॉ० नगेन्द्र-जैसे कितने ही विद्वान् 'कामायनी' आदि में प्रतीयमान आध्यात्मिक अर्थ को अप्रस्तुत अथवा गौण मानते

१. 'साहित्य-सन्देश', जिल्द १९५०-५१, पृ० ८९।

'पद्मावत' और 'कामायनी' : प्रस्तुतांकुर ?

चले आ रहे है, किन्तु इसके विपरीत कुछ आधुनिक आलोचक ऐसे भी है, जो उसे ऐसा ही प्रस्तुत एवं प्रधान मानते हैं, जैसा लौकिक अर्थ। प्रो० क्षेम 'कामायनी' को 'रूपकात्मक कथा' स्वीकार करते हुए अन्योक्ति-कथा और समासोक्ति-कथा का इस प्रकार खण्डन करते हैं—"अन्योक्ति कथा में प्रत्यक्ष स्थूल कथा मिस-मात्र होती है; उससे ध्वनित होने वाली सूक्ष्म कथा उद्दिष्ट होती है। 'समासोक्ति-कथा' में प्रत्यक्ष स्थूल अर्थ ही प्रमुख रूप से उद्दिष्ट होता है, सूक्ष्म अर्थ गौण-रूप से यत्र-तत्र संकेतित होता चलता है। 'रूपकात्मक कथा' में दोनों ही अर्थ समतुल्य-से चलते हैं।····इसलिए 'कामायनी' को रूपकात्मक काव्य कहा जायगा।"[1] इसके अतिरिक्त हम स्वयं भी अनुभव करते हैं कि प्रसाद ने यद्यपि मनु के ऐतिहासिक वृत्त को प्रस्तुत मान रखा है, तथापि व्यवहारतः वे अपने काव्य में दार्शनिक पक्ष को भी उतनी ही तत्परता के साथ महत्त्व देते हुए पाये जाते हैं जितनी तत्परता के साथ ऐतिहासिक पक्ष को, बल्कि कहीं-कहीं, विशेषतः अन्तिम भाग में सुतरां परमार्थ अथवा दार्शनिक पक्ष लोक-पक्ष पर हावी हुआ प्रतीत होता है। वैसे तो इतिहास के अनुसार हम देखते हैं कि मनु सारस्वत नगर के रणस्थल में ही मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं। अपनी दुहिता के प्रति अनैतिक आचरण के लिए रुद्र के बाण ने वहीं उनका काम तमाम कर डाला था।[2] परन्तु प्रसाद ने उन्हें वहाँ मरणासन्न दिखाकर बाद को श्रद्धा के साथ कैलास पहुँचते हुए दोनों के अलौकिक आनन्द का जो चित्र खींचा है वह वस्तुतः दार्शनिक पक्ष को महत्त्व देने के लिए ही है। यही बात 'पद्मावत' के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। हम मानते हैं कि प्रसाद के ठीक विपरीत जायसी ने 'पद्मावत' के अध्यात्म-पक्ष को स्वमुख से प्रस्तुत कहा है, किन्तु जैसा कि सूफी-सिद्धांत है, वहाँ लोक-पक्ष भी अध्यात्म-पक्ष की अपेक्षा किसी तरह गौण नहीं है, बल्कि उत्तरार्ध में वह अध्यात्म-पक्ष को पीछे छोड़ कुछ आगे बढ़ा हुआ भी प्रतीत होता है। वास्तव में परमार्थ की झाँकी तो सूफी मत में मुख्यतः पार्थिव सौंदर्य में ही मिलती है, इसलिए उसमें लोक-पक्ष का कम महत्त्व कैसे हो सकता है ? संभवतः इसी कारण से डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'पद्मावत' को अन्योक्ति सिद्ध करने वाली जायसी की अन्तिम पंक्तियाँ प्रक्षिप्त मानकर उड़ा दी हों। डॉ० शम्भूनाथसिंह के विचारानुसार किस तरह 'पद्मावत' में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों का समान महत्त्व है और

१. 'छायावाद के गौरव-चिह्न', पृ० २६८।
२. 'ऐतरेय-ब्राह्मण', ३-३-३३।

किस तरह उसके कवि को लोक-पक्ष और अध्यात्म-पक्ष दोनों बराबर अभीष्ट हैं, यह हम पीछे देख आए हैं। ऐसी अवस्था में 'पद्मावत' और 'कामायनी' को समासोक्ति और अन्योक्ति के सीमा-बन्धनों से बाहर निकालकर रूपक-काव्य के अन्तर्गत करने वाले उक्त विद्वानों के तर्क में पर्याप्त बल है, किन्तु, जैसा हम कह आए हैं—कथात्मक और व्यापक होता हुआ भी रूपक मूलतः एक ऐसा अलंकार है, जिसमें प्रस्तुत का पलड़ा भारी ही रहता है, अप्रस्तुत के समतुल्य नहीं। अप्रस्तुत का आरोप तो प्रस्तुत का केवल उपरंजक-मात्र रहता है। ऐसी स्थिति में 'पद्मावत' और 'कामायनी' को रूपक-काव्य मानने में कठिनाई ज्यों-की-त्यों बनी रह जाती है। हम मानते हैं कि प्रसादजी अनुभूतिशील कलाकार थे। उनकी रचनाओं को परम्परागत रूढ़ि-पाश में जकड़ना ठीक नहीं। तथापि उनके सम्बन्ध में जैसे नवीन मूल्यांकन हो रहे है और नवीन दृष्टिकोणों से आलोचनाएँ निकल रही हैं, उन्हें देखकर विद्वानों के प्रति हमारा एक सुझाव है, वह यह कि कितने ही संस्कृत और हिन्दी के आलंकारिकों द्वारा स्वीकृत 'प्रस्तुतांकुर' अलंकार को भी क्यों न अन्योक्ति-वर्ग के भीतर ले लिया जाय। इससे पूर्वोक्त काव्यों के सम्बन्ध में परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों का समन्वय संभव हो जायगा। प्रस्तुतांकुर इन दोनों रचनाओं में प्रबन्ध-गत ही रहेगा।

प्रस्तुतांकुर की उद्भावना और स्वरूप

अप्पय दीक्षित (१७वीं ई०) ने प्रस्तुतांकुर की उद्भावना की और इसका स्वरूप इस प्रकार निर्माण किया है—'प्रस्तुत से प्रस्तुत का द्योतन'[1]। इसमें वाच्य और प्रतीयमान दोनों अर्थ प्रस्तुत अर्थात् तुल्य-प्राधान्य रहते हैं, समासोक्ति आदि की तरह गौण-प्रधान नहीं। प्रस्तुत के अंकुर से तात्पर्य है बीज-रूप प्रस्तुत से ही फूट निकलने वाला प्रस्तुत-प्ररोह। इसका उदाहरण दीक्षितजी यों देते हैं :

क्यों रे भ्रमर, मालती के रहते,
काँटों भरी केतकी पर उड़ते।[2] (अनुवाद)

यहाँ प्रियतम के साथ उद्यान में भ्रमण करती हुई कोई नायिका अपने सामने मालती लता से उड़कर केतकी की ओर जाते हुए भ्रमर को लक्ष्य करके कहती है। अतः भ्रमर-वृत्तान्त प्रस्तुत है, किन्तु साथ ही नायिका व्यंजना द्वारा भ्रमर-चरित्र को अपने प्रियतम की ओर भी लगा देती है कि मालती-जैसी

---

१. **प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुतांकुरः।**
२. **किं भृंग ! सत्यां मालत्यां केतक्या कंटकेद्धया।**
—'हिन्दी कुवलयानंद', डॉ० भोलाशंकर, पृ० ११५।

सवगुण-सम्पन्न मेरे रहते-रहते आप बुराइयों की खान वारांगना के पास क्यों जाया करते है ? यहाँ दोनों बातें प्रस्तुत है । इसमें सन्देह नहीं कि प्रस्तुतांकुर और अप्रस्तुत-प्रशंसा के बीच की सीमा-रेखा बड़ी सूक्ष्म एवं दुर्ग्राह्य है और सम्भवत: इसी कारण से रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ ने प्रस्तुतांकुर का खंडन किया हो। उनका यह कहना है कि 'क्यों रे भ्रमर !' इत्यादि में अप्रस्तुत-प्रशंसा ही है । थोड़ी-सी भी विचित्र उक्ति में यदि प्रस्तुतांकुर मानने लगें, तो ऐसे-ऐसे अलंकार अनन्त हो सकते है। दूसरे भ्रमर-वृत्त यहाँ अप्रस्तुत ही है, क्योंकि उसमें वक्ता का तात्पर्य नहीं है। सत्ता-मात्र से भ्रमर के प्रस्तुत होने पर भी नायिका का मुख्य तात्पर्य प्रियतम को उपालम्भ देने से ही है।[1] वास्तव में हमें पंडितराज के द्वारा दीक्षित का यह खंडन केवल खंडन के लिए किया हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि दीक्षित के भी दाक्षिणात्य होने के कारण उनके पांडित्य-उत्कर्ष के प्रति अहंवादी पण्डितराज का स्वाभाविक द्वेष था। इसीलिए यह खण्डन उतना तर्काश्रित एवं बौद्धिक नहीं जितना व्यक्तिगत है। जब पण्डितराज ने नायक-वृत्त की तरह भ्रमर-वृत्त को भी प्रस्तुत मान ही लिया, तब फिर उन प्रस्तुतों में भी मुख्य प्रस्तुत और गौण प्रस्तुत का भेद करना एक नया ही तर्क है। इस तरह प्रस्तुतांकुर और अप्रस्तुत-प्रशंसा का पारस्परिक भेद यदि सूक्ष्म होने के कारण मिटाया जा सकता है, तब तो, जैसा कि हम देख आए हैं, अप्रस्तुत-प्रशंसा, समासोक्ति और रूपकातिशयोक्ति के मध्य का सूक्ष्म भेद भी मिट जायगा। इन सूक्ष्म-सूक्ष्म भेदों-उपभेदों को लेकर ही तो भरत-काल के चार अलंकार रस-गंगाधरकार के काल तक डेढ़ सौ तक पहुंचे हैं। इसके अतिरिक्त हमें पता है कि प्रकृति-सम्बन्धी पुरानी मान्यताओं को मिटाकर प्रतिष्ठित छाया-वाद के प्रकृति-चित्रों में पहले तो यह विवेचन करना ही कितना कठिन रहता है कि यहाँ प्रस्तुत प्रकृति है या मानव, तुल्य प्रस्तुतों में मुख्य प्रस्तुत या गौण प्रस्तुत के पता लगाने की बात तो दूर रही। तर्क के लिए मान भी लें कि दीक्षित के उल्लिखित 'भ्रमर-चरित्र' में प्रकृति गौण प्रस्तुत है और मानव मुख्य प्रस्तुत, परन्तु 'पद्मावत' और 'कामायनी'-जैसी रचनाओं में जहाँ, जैसा कि पूर्वोक्त कतिपय आधुनिक विद्वानों ने कहा है और कुछ-कुछ हम भी मानते हैं, दोनों कथा-तन्तुओं में एक जैसी रचना और एक जैसी प्रस्तुतता है, मुख्य प्रस्तुत

१. अत्राप्यप्रस्तुतप्रशंसैव । किंचिदुक्तिवैचित्र्येण तत्कल्पने अलंकारानन्त्यात् । किंचात्र भृंगवृत्तस्याप्रस्तुतत्वमेव मुख्यतात्पर्यविषयीभूतार्थारिक्तत्वात् । भृंगादेः सत्तामात्रेण प्रकृतत्वेऽपि नायकाद्युपालम्भे एव तात्पर्यात् ।
—'रसगंगाधर', द्वितीय आनन ।

और गौण प्रस्तुत का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में वहाँ प्रबन्धगत प्रस्तुतांकुर माने बिना और क्या समाधान हो सकता है? हम देखते हैं कि रस-गंगाधरकार के बाद के अलंकार-शास्त्री 'कुवलयानन्द' के पद-चिह्नों पर चले और सभी ने प्रस्तुतांकुर के सम्बन्ध में अप्पय दीक्षित की सूक्ष्म सूझ-बूझ एवं नये आविष्कार का अभिनन्दन ही किया है। भट्ट देवशंकर ने प्रस्तुतांकुर को पृथक् अलंकार स्वीकार करते हुए समासोक्ति एवं अप्रस्तुत-प्रशंसा की तरह ही उसके भी श्लिष्ट और साधारण भेद मान रखे हैं।[1] उन्होंने श्लिष्ट का उदाहरण यह दिया है :

मित्रेण मित्र-वर्गेण बहुलेन विरोधिनः।
पंचदश-दिनं वृद्धिश्चन्द्र ! ते नियतः क्षयः !![2]

किसी राजा के पास एक तरफ तो अपने अन्तरंग कर्मचारी के सम्बन्ध में शिकायत पहुँची कि वह अपने इष्ट-मित्रों और उनके साथियों, सभी को तंग किया करता है, दूसरी तरफ एक रात को अपने उसी अन्तरंग कर्मचारी के साथ उद्यान में बैठे हुए राजा के सामने चाँद था, जिसके उदय होने पर तालाब के कमल मुरझा गए थे। राजा प्रस्तुत चाँद को सम्बोधित करता है, साथ ही व्यंग्य द्वारा प्रस्तुत कर्मचारी को भी फटकार देता है। यहाँ मित्र शब्द में श्लेष है; चन्द्र की तरफ इसका अर्थ है सूर्य एवं सूर्य के साथी कमल और कर्मचारी की तरफ है सुहृद् और सुहृद्-वर्ग। 'साहित्यसार' के रचयिता अच्युतराय ने भी प्रस्तुतांकुर को स्वतन्त्र अलंकार मानकर स्वोपज्ञ टीका में प्रबल तर्कों से इसका समर्थन कर रखा है।[3] हिन्दी के अलंकार-शास्त्र का उद्भव-काल भी यही है और शुक्लजी के शब्दों में 'हिन्दी के अलंकार-ग्रन्थ अधिकतर 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के अनुसार निर्मित हुए।' आदि-आचार्य केशव के बाद हिन्दी में जसवन्तसिंह का प्रमुख स्थान है। इन्होंने अपने 'भाषा-भूषण' में अप्पय दीक्षित

१. **प्रस्तुतार्थे निगदिते प्रस्तुतं द्योत्यते यदि।**
तदालंकारनिपुणा वदन्ति प्रस्तुतांकुरम् ॥ (काव्यमंजूषा, ४४)

२. वही, उदा० १५८।

हिन्दी-रूपान्तर

चन्द्र ! मित्र औ मित्र-वर्ग से
क्या विरोध तूने ठाना है ?
पन्द्रह दिन की तेरी चढ़ती,
फिर क्षय निश्चय हो जाना है।

३. ८।१९४।

का प्रस्तुतांकुर ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर रखा है। दास कवि ने अपने अन्योक्ति-वर्ग के छः अलंकारों में प्रस्तुतांकुर को भी गिन ही रखा है :

> अप्रस्तुत परसंस औ प्रस्तुत अंकुर लेखि।
> **समासोक्ति, व्याजस्तुत्यौ, आच्छेपै अबरेखि॥**
> **परजाजोक्ति समेत किय, षट भूषण इक ठौर।**
> **जानि सकल 'अन्योक्ति' में सुनो सुकवि सिर मौर॥**[1]

हिन्दी के गद्य-युगीन अलंकार-शास्त्री दीन, केडिया और रामदहिन मिश्र आदि अधिकतर मम्मट, और विश्वनाथ के अनुकरण पर चले हैं, इसलिए वे जब अप्रस्तुत-प्रशंसा [अन्योक्ति] का ही अपेक्षित विश्लेषण नहीं कर पाए, तब वे प्रस्तुतांकुर को क्यों छूने ! किन्तु नवीन दृष्टि से मूल्यांकन करने वाले आलोचकों द्वारा अब 'कामायनी'-जैसी रचनाओं में वाच्य और व्यंग्य दोनों सन्तुलित रूप में प्रस्तुत रहने की बात चलाई जाने पर हमारे विचारानुसार प्रबन्धगत प्रस्तुतांकुर मान लेने में साहित्यकारों की कठिनाई जाती रहेगी, यद्यपि 'समासोक्ति', 'अन्योक्ति' और 'रूपक-काव्य' के सामने 'प्रस्तुतांकुर' शब्द अवश्य अपरिचित और विचित्र-सा लगेगा। प्रस्तुतांकुर को अन्योक्ति-वर्ग के भीतर लाने में हम सर्वथा दासजी से सहमत हैं।

श्लेष

रूपकातिशयोक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा, समासोक्ति और प्रस्तुतांकुर के अतिरिक्त श्लेष भी कभी-कभी 'अन्योक्ति' का निर्माण करता हुआ देखा गया है। वैसे तो हम देख आए हैं कि श्लेष किसी अवस्था में अप्रस्तुत-प्रशंसा आदि अलंकारों का अंग बना हुआ रहता है, स्वतन्त्र नहीं। किन्तु, जैसा कि हम पीछे देख आए हैं, जहाँ कवि दोनों अर्थों को प्रकृत रखकर अभिधा द्वारा ही बताना चाहे वहाँ श्लेष की अपनी स्वतन्त्र सत्ता रहेगी और वह निस्सन्देह अन्योक्ति-वर्ग के भीतर आएगा। संस्कृत में ऐसा बहुत देखने में आता है, किन्तु हिन्दी में कम। उदाहरण के लिए पं० गिरिधर शर्मा की 'कलंकी को ऐड्रेस' शीर्षक वाली निम्न अन्योक्ति लीजिए :

> **रे दोषाकर ! पश्चिम-बुद्धि !**
> **कैसे होगी तेरी शुद्धि ?**
> **द्विज-गण को कोने बैठाया.**
> **जड़ दिवान्ध को पास बुलाया॥**[2]

---

१. काव्य-निर्णय, १२ वाँ उल्लास।

२. सरस्वती (फरवरी १६०८)।

इसमें सभी शब्द श्लिष्ट हैं; एक तरफ तो वे पश्चिम दिशा में स्थित 'दोषाकर' [दोषा+कर]=चन्द्रमा की ओर लगते हैं, जो द्विजगण (पक्षियों) को घोंसलों में बिठाता हुआ जड दिवान्ध (उल्लू) को बाहर बुलाता है, तो दूसरी ओर पाश्चात्य विचार-धारा अपनाये हुए उस व्यक्ति को प्रतिपादित करता है, जो 'दोषाकर' (दोष+आकर)=दोषों की खान है और द्विजगण (ब्राह्मणों) का तिरस्कार करता हुआ सदा जड़ दिवान्धों (मूर्खों) को साथ लिये रहता है। बिहारी की पूर्वोक्त 'अजौं तरचौना ही रह्यौ' वाली अन्योक्ति भी इसी जाति की है। बाबा दीनदयाल गिरि ने भी कुछ श्लिष्ट अन्योक्तियाँ लिखी हैं। किन्तु ध्यान रहे कि किसी एक अर्थ के प्रधान होने की अवस्था में ये श्लेष-मूलक अप्रस्तुत-प्रशंसा या समासोक्ति के भीतर आ जायेंगी।

व्याजस्तुति आक्षेप और पर्यायोक्ति में दास-सम्मत अन्योक्तित्व का अभाव

भिखारीदास ने व्याजस्तुति, आक्षेप और पर्यायोक्ति को भी अन्योक्ति-वर्ग में गिनाया है। लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' का भी यही मत है।[1] इस पर हमारा मतभेद है। हम पीछे बता चुके हैं कि अन्योक्ति साम्य-मूलक अलंकारों के विकास का चरम उत्कर्ष है, किन्तु उक्त अलंकारों में हमें साम्य के ही दर्शन नहीं होते, उत्कर्ष तो दूर रहा। दासजी के ही शब्दों में 'व्याजस्तुति' 'स्तुति निन्दा के व्याज कहुँ, कहुँ निन्दा स्तुति व्याज' होती है[2] अर्थात् स्तुति का निन्दा में और निन्दा का स्तुति में पर्यवसान होता है। इसी तरह 'आक्षेप' का अर्थ होता है व्यंग्य या विद्रूप। यह दासजी के शब्दों में वहाँ होता है 'जहाँ किसी बात का प्रत्यक्षतः तो निषेध हो, किन्तु व्यंग्यतः विधान अथवा, इसके ठीक विपरीत, प्रत्यक्षतः तो विधान हो, किन्तु व्यंग्यतः निषेध।[3] कुछ अलंकार-शास्त्री वामन के 'उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः' सूत्र की 'उपमानस्य आक्षेपतः प्रतिपत्तिः'[4] यों व्याख्या करते हैं। तदनुसार उपमान की अभिव्यंजना में आक्षेपालंकार होता है, किन्तु ऐसी स्थिति में वह समासोक्ति अलंकार कहलाएगा और समासोक्ति को हमने अन्योक्ति-वर्ग में ले ही रखा है। सम्भवतः आक्षेप के सम्बन्ध में दासजी को उपरोक्त व्याख्या का ही भ्रम रहा हो। अब रही बात पर्यायोक्ति की। वह वहाँ

१. 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', पृ० ६५।
२. 'काव्य-निर्णय' (जवाहरलाल द्वारा सम्पादित) पृ० ३१४।
३. जहाँ बरजिए कहि इहै, अबसि करौ ये काज।
मुकर परत जिहिं बात कों, मुख्य वही जहाँ राज ॥ वही, पृ० ३१७।
४. 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति': ४, ३, २७।

होती है जहाँ किसी अभीष्ट बात को यों घुमा-फिराकर कहा जाय कि वह व्यंग्य न रहकर वाच्य की तरह स्पष्ट हो जाय। इसमें भी साम्य-विधान का नाम नहीं। इसलिए उपरोक्त तीनों अलंकार अन्योक्ति-वर्ग के भीतर नहीं आ सकते।

भिखारीदास के अन्योक्ति-वर्ग में से हमें अप्रस्तुत-प्रशंसा, प्रस्तुतांकुर और समासोक्ति ये तीन अलकार ही मान्य है।

अन्योक्ति-वर्गीय अलंकार इनके अतिरिक्त, जैसा कि बाबा दीनदयाल गिरि के 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' मे हम पीछे देख आए है, रूपकातिशयोक्ति को भी अन्योक्ति के मध्य लेने की मान्यता चल पड़ी है। इसलिए रूपकातिशयोक्ति और श्लेष को भी जोड़कर हमारे विचारानुसार रूपकातिशयोक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा, समासोक्ति, प्रस्तुतांकुर और श्लेष—ये पाँच अलंकार ही अन्योक्ति वर्ग के भीतर आते हैं।

कहना न होगा कि अन्योक्ति-वर्ग में कवि-कल्पना द्वारा उपस्थापित अप्रस्तुत-योजना प्राण-स्थानीय है। अप्रस्तुत प्राय: उपमान को कहा करते हैं। कुछ हद तक प्रतीक एवं संकेत उसीके आधुनिक नाम हैं।

प्रतीक और संकेत वैसे तो प्रतीक शब्द बड़ा प्राचीन है और वेदों में भी प्रयुक्त मिलता है। 'दधाते ये अमृते सुप्रतीके'[1] मन्त्र के भाष्य में सायण ने इसका अर्थ 'रूप' किया है। 'अमरकोष' में इसका अर्थ 'एक देश' है।[2] परमात्मा के एकदेश सूर्य, चन्द्र अथबा प्रतिमा आदि की उपासना को प्रतीकोपासना कहते ही हैं। इसी तरह 'संकेत' शब्द का साधारण अर्थ इशारा होता है; यद्यपि काव्य-शास्त्र में यह शब्द अर्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध के लिए रूढ़ है।[3] यह संस्कृत के सम्+कित् (ज्ञाने) धातु से बनकर 'ज्ञापक' अर्थ का प्रतिपादक है। प्रो० क्षेम 'प्रतीक' शब्द की व्युत्पत्ति प्रति+इण् (गतौ) से करते हैं।[4] तदनुसार 'प्रतीक' का अर्थ वस्तु है, जो अपनी मूल-वस्तु में पहुँच सके अथवा वह चिह्न जो मूल का परिचायक हो। प्रतीक और संकेत शब्दों का यौगिक अथवा रूढ़ अर्थ जो भी हो, इनका अधुनातन अर्थ उन्नीसवीं शती में फ्रान्स में उद्भूत तथा समस्त पाश्चात्य साहित्य में संक्रमित 'स्कूल आफ सिम्बालिज्म' से प्रभावित है, जिसका छायावाद, रहस्यवाद एवं प्रयोगवाद के निर्माण में काफी हाथ है। इसमें प्रस्तुत को छिपा हुआ रखकर प्रतीक के द्वारा

१. 'ऋग्वेद', १।१८५।६।
२. प्रतिकूले प्रतीकस्त्रिष्वेकदेशे तु पुंस्ययम्, २३।७।
३. 'संकेतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च', 'साहित्यदर्पण', २।
४. 'छायावाद के गौरव चिह्न', पृ० २२६।

ही अभिव्यक्त किया जाता है अथवा प्रस्तुत को वाच्य बनाकर अप्रस्तुत की ओर संकेत-भर कर देते हैं। हमारे यहाँ यह प्रतीकवाद अथवा संकेतवाद अन्योक्ति-पद्धति के अन्तर्गत होता है। जब प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का अभेदारोप हो और प्रस्तुत स्वयं निगीर्ण रहे, तब अप्रस्तुत ही प्रस्तुत का स्थानापन्न बनकर प्रतीक का काम देता है। काव्य-परिभाषा में इसे उपचार-वक्रता कहते हैं। उपचार विश्वनाथ के शब्दों में "बिल्कुल विभिन्न दो पदार्थों के मध्य परस्पर सादृश्यातिशय की महिमा के कारण भेद-प्रतीति के स्थगन को कहते हैं; जैसे अग्नि और ब्रह्मचारी में।"[1] यह गौणी लक्षणा का विषय है, क्योंकि यहाँ प्रस्तुत वस्तु का बोध लक्षणा द्वारा होता है। व्यंजना का कार्य यहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत के मध्य गुण, क्रिया अथवा व्यापार-समष्टि का साम्य-मात्र बताना होता है। इस तरह प्रतीक हमें गुणी द्वारा गुण तक पहुँचाता है। शास्त्रीय भाषा में इसे हम व्यंग्यरूपक, अध्यवसित रूपक अथवा रूपकातिशयोक्ति कह सकते हैं। किन्तु प्रतीक जब बीच में लक्षणा का आश्रय न लेकर सीधा व्यंजना द्वारा प्रस्तुत की अभिव्यक्ति कराता है, तब वह अप्रस्तुत-प्रशंसा का विषय बन जाता है। कभी-कभी प्रतीक की उक्त दोनों स्थितियाँ घुल-मिलकर परस्पर अंगांगिभाव बनाए रहती हैं। सूक्ष्म और रहस्यमय वस्तु का ज्ञान कराने के लिए साहित्य में प्रतीकों की बड़ी प्रयोजनीयता रहती है। इसके विपरीत, संकेत समासोक्ति का निर्माण करते हैं। क्योंकि इसमें स्थूल प्राकृतिक अथवा मानविक आधार वाच्य बनकर किसी अप्रस्तुत परोक्ष वस्तु की अभिव्यंजना रहती है, फलतः यहाँ वाच्य प्रस्तुत प्रधान रहता है और अभिव्यज्यमान वस्तु गौण। प्रतीक और संकेत के मध्य परस्पर भेद डा० जुग के अनुसार डॉ० [illegible] ने इस तरह स्पष्ट किया है, "जब परोक्ष या अज्ञात वस्तु का चित्रण किया जाता है, वहाँ उस चित्र को प्रतीक कहा जाता है और जब किसी प्रत्यक्ष किन्तु सूक्ष्म और भावात्मक सत्ता की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक सामान्य और स्थूल वस्तु के चित्रण द्वारा होती है, तो उसे संकेत कहते हैं।"[2] किन्तु आजकल साधारणतः प्रतीक और संकेत को पर्याय मानने लगे है यद्यपि, जैसा हम कह आए हैं, प्रतीक में मूलतः आरोप्य वस्तु का प्राधान्य रहता है जब कि संकेत में आरोप्य-विषय का; अथवा शब्दान्तर में यों कह लीजिए कि प्रतीक प्रस्तुत का स्थानापन्न

१. उपचारो नामात्यन्तं विशकलितयोः शब्दयोः (१ शब्दार्थयोः) सादृश्यातिशय-महिम्ना भेद-प्रतीतिस्थगन-मात्रं यथा अग्निमाणवकयोः ('साहित्य-दर्पण, परि०, २)।

२. 'छायावाद युग', पृ० १२७।

होता है जब कि संकेत प्रस्तुत द्वारा अप्रस्तुत की ओर इंगित-मात्र होता है।

कहना न होगा कि प्रतीक और संकेत वस्तुगत गुण और क्रिया का साम्य बतलाते हुए बहुत कुछ अंश में उपमान का कार्य करते हैं, जैसे :

राते कंवल करहिं अलि भवां,
घूमहिं माति चहहिं अपसवां। (जायसी)

यहाँ कमल और अलि क्रमशः नेत्र और उसके भीतर की काली पुतली के प्रतीक हैं, जो रूप-साम्य लिये हुए हैं। इसी तरह :

ग्रास करने नौका स्वच्छन्द
घूमते फिरते जलचर वृन्द,
देखकर काला सिन्धु अनन्त
हो गया हा ! साहस का अन्त। (महादेवी)

यहाँ नौका, जलचर एवं सिन्धु क्रमशः जीवन, वासनाओं और संसार के प्रतीक हैं। इनका क्रिया-साम्य बतलाने में तात्पर्य है। व्यापार-समष्टि अथवा समस्त जीवन-प्रसंग के लिए नूर मोहम्मद की 'अनुराग-बाँसुरी' और कृष्ण मिश्र का 'प्रबोध-चन्द्रोदय' आदि रचनाएँ ली जा सकती है। गुण-क्रिया-साम्य के अतिरिक्त प्रभाव-साम्य को लेकर भी प्रतीक-विधान चलता है, जैसा कि छायावाद में हम बहुधा पाते हैं। प्रभाव-साम्य से अभिप्राय यह है कि इसमें प्रतीक-विधान प्रस्तुत और अप्रस्तुत का समान रूप-रंग, आकार-प्रकार, अथवा क्रिया-व्यापार लेकर नहीं चलता, प्रत्युत उसमें यह देखना पड़ता है कि उसका हमारे हृदय अथवा भावना पर कैसा प्रभाव पड़ता है। छायावाद में प्रेयसी के लिए मुकुल, नवयौवन के लिए उषा और यौवन-सुख के लिए मधु इत्यादि प्रतीक प्रभाव-साम्य पर आधारित हैं। वे हमारे भीतर शृंगार की मधुर भावना को उद्दीप्त कर देते है। रहस्यवाद का सारा-का-सारा प्रतीक-विधान भी तो प्रभाव-साम्य ही लिये हुए रहता है, अन्यथा अरूप-रूप, निष्क्रिय, 'नेति-नेति'-प्रतिपाद्य परोक्ष सत्ता के साथ भला किसका स्वरूप अथवा गुण क्रिया-साम्य हो सकता है ? उसके प्रतिपादक शब्द और प्रतिनिधि-भूत पदार्थ केवल संकेत-मात्र ही हैं। छायावादी कवियों द्वारा प्रकृति के चित्र-पट पर उतारे हुए उसके रूप भी उसकी निरी स्थूल रेखाएं हैं, जिनसे हृदय में उसका हल्का-सा आभास अथवा प्रभाव पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में प्रतीक अथवा संकेत गुण-क्रिया-साम्य पर आधारित उपमान की सीमा से निकलकर अपना विस्तृत क्षेत्र बना लेता है और हृदय पर प्रभाव डालने वाले किसी भी स्थानापन्न वस्तु अथवा चिह्न (Symbol) भर का रूप धारण कर लेता है। काव्य-जगत् से बाहर व्यावहारिक जीवन में

भी प्रतीक भावोद्बोधक एवं प्रेरणा-दायक एक चिह्न ही तो रहता है, यह हम प्रत्यक्ष ही देखते है। इसके अतिरिक्त प्रतीक-योजना कभी-कभी विरोधमूलक भी होती है। इसमें विरोध, विषम, विभावना, असंगति आदि विरोध-वर्गीय अलंकारों का योग रहता है। साधनात्मक रहस्यवाद की उल्टबासियाँ विरोध-मूलक प्रतीक-योजना पर ही खड़ी हुई हैं। छायावाद में भी ऐसी विरोधी प्रतीक-योजना यत्र-तत्र दिखाई देती है, जैसे :

मैंने सबको गंगा जमुना दे डाली।
पर फिर भी सब ने आग हृदय में पाली॥

(रमानाथ अवस्थी, 'आग-पराग')

यहाँ 'गंगा-जमुना' पवित्रता और निर्मलता की प्रतीक हैं और 'आग' ईर्ष्या, द्वेष आदि भावों की। इसी तरह :

शीतल ज्वाला जलती है,
ईंधन होता दृग जल का।
यह व्यर्थ श्वास चल-चल कर,
करता है काम अनिल का॥ (प्रसाद, 'आँसू')

यहाँ शीतल ज्वाला प्रेम अथवा वियोग का प्रतीक है।

प्रतीकों की लाक्षणिकता एवं व्यंजकता का लोप

यह उल्लेखनीय है कि प्रतीक जब सतत प्रयोग से गुणक्रिया अथवा विरोध बताने में रूढ़ हो जाता है, तब उनकी लाक्षणिकता और व्यंजकता जाती रहती है, और अभिधा ही वहाँ काम करने लग जाती है। यह बात प्राचीन काल से चली आ रही है। संस्कृत के प्रवीण, कुशल, द्विरेफ आदि लाक्षणिक शब्द इसके प्रत्यक्ष निदर्शन हैं। दंडी ने 'उसकी सुन्दरता चुराता है', 'उससे लोहा लेता है', 'उसके साथ तराजू पर चढ़ता है' इत्यादि कितने ही मुहावरों—लाक्षणिक प्रयोगों—को सादृश्य-प्रतिपादन में रूढ़ हो जाने के कारण वाचक ही माना है, लाक्षणिक नहीं।[1] विश्वनाथ को भी आचार्य मम्मट की 'कर्मणि कुशलः' में रूढ़ि-लक्षणा की मान्यता का खण्डन करना पड़ा, क्योंकि कुशल शब्द 'कुश लाने वाला' अर्थ न बताकर अब रूढ़ि से सीधा दक्ष-

१. तस्य मुष्णाति सौभाग्यं, तस्य कीर्ति विलुम्पति।
तेन सार्धं विगृह्णाति, तुलां तेनाधिरोहति॥
तत्पदव्यां पदं धत्ते, तस्य कक्षां विगाहते।
तमन्वेत्यनुबध्नाति, तच्छीलं तन्निषेधति॥
तस्य चानुकरोतीति शब्दाः सादृश्यवाचकाः॥ ('काव्यादर्श', २।६३-६५)

रूप अर्थ का वाचक बन गया है, लक्षक नहीं रहा। वैसे विश्वनाथ मम्मट का खण्डन तो कर बैठे हैं, परन्तु वे स्वयं भी तो 'अश्व: श्वेतो धावति' (सफेद घोड़ा दौड़ता है) इत्यादि में लक्षणा कर रहे हैं जैसे उन्हें मालूम ही न हो कि श्वेत शब्द 'श्वेत गुण' के साथ-साथ 'श्वेत गुण वाले' अर्थ में भी कभी का रूढ़ होकर लक्षक के स्थान में वाचक बना हुआ चला आ रहा है।[1] वास्तव में शब्दार्थों की छायाओं में क्रमिक परिवर्तन की यह बात सभी भाषाओं पर लागू होती है। अज्ञेय के शब्दों में[2] "यह क्रिया भाषा में निरन्तर होती रहती है और भाषा के विकास की एक अनिवार्य क्रिया है। चमत्कार मरता रहता है और चमत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है। यों कहें कि कविता की भाषा निरन्तर गद्य की भाषा होती जाती है। इस प्रकार कवि के सामने हमेशा चमत्कार की सृष्टि की समस्या बनी रहती है; वह शब्दों को निरन्तर नया संस्कार देता चलता है और वे संस्कार क्रमशः सार्वजनिक मानस में पैठकर फिर ऐसे हो जाते हैं कि उस रूप में कवि के काम के नहीं रहते। 'बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।' " स्पष्टतः निर्गुण-पंथियों के हंस, ठगिनी, घट, सागर आदि संकेत भी क्रमशः आत्मा, माया, शरीर और संसार आदि अर्थों में रूढ़-से हो जाने के कारण अपनी व्यंजकता में शिथिल हो पड़े थे। इसीलिए अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए छायावादी कवियों को चिर-प्रयोग एवं निरन्तर अभ्यास से घिसे-पिटे उपमानों और प्रतीकों के स्थान में अपना नया ही प्रतीक-विधान निर्माण करने की आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसने छायावाद में एक विलक्षण लाक्षणिक भंगिमा एवं नवीन भाव-व्यजना भरी है। पन्त ने निर्गुण-पंथियों के सागर, दरिया-रूप उसी परासत्ता का 'मोती', 'ज्योत्स्ना', 'मेघ' आदि नये प्रतीकों में चित्रण किया, तो निराला ने 'अचल', 'हीरे की खान', 'माँ' आदि में। निर्गुण-पंथियों की 'ठगनी' को पन्त ने 'छाया' और 'अन्धकार' का बाना पहनाया। इसी तरह छायावाद के साँचे में साधारणतः हृदय वीणा बना और भाव-तरंग वीणा की झंकार, उषा और प्रभात नवयौवन और मधु यौवन-सुख। इसी प्रकार झंझा, अंधेरी रात, सूना तट आदि छायावादी प्रतीक बिलकुल नये ढले हुए हैं। वास्तव में समस्त छायावाद है ही नये विधान का प्रतीकवाद, यद्यपि इसके प्रतीक भी अपने चिर-प्रयोग के कारण रूढ़ बन गए हैं और यही कारण है कि प्रयोगवादी अब पुराने प्रतीकों पर नया मुलम्मा चढ़ाने में लगे हुए हैं और अपना नया प्रतीक-विधान भी गढ़

१. गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति। 'अमरकोश', ५।१७।
२. 'दूसरा सप्तक', भूमिका, पृ० ११।

रहे हैं। इस तरह प्रतीक साहित्य की नित्य-परिवर्तनशील वस्तु है, स्थिर-शाश्वत नहीं।

संकेत एवं प्रतीक-विधान में परिपार्श्व

अप्रस्तुत-विधान के सम्बन्ध में हम अभी कह आए हैं कि प्रतीक और संकेत सर्वत्र और सदा एक-से नहीं रहते। एकान्ततः सार्वभौम गुण एवं क्रिया के प्रकाशक सूर्यचन्द्र आदि कुछ इने-गिने व्यापक संकेतों को छोड़कर शेष सभी संकेत देश, काल और परि-पार्श्व के अनुसार बनते तथा बदलते रहते हैं। प्रयोक्ताओं एवं उनके चरित्रों से सम्बन्धित देश-काल, परिवेश, सामाजिक स्तर और सैद्धान्तिक एवं सांस्कृतिक आदर्शों का संकेतों और प्रतीकों के निर्माण में पर्याप्त हाथ रहता है। हमारा वैदिक साहित्य आरण्यक जीवन वाले ऋषियों के परिस्थित प्रकृति-उपकरणों—वायु, सूर्य, अग्नि, वृक्ष, लता और पत्र-पुष्प आदि—के प्रतीक अपनाये हुए है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि संस्कृत-कवियों ने भी अपने प्रतीकों के लिए अधिकतर प्रकृति का ही आँचल पकड़ा है। हिन्दी के आदि कवि भी संस्कृत के उपजीवी रहे। बनवासी साधनात्मक रहस्यवादी सिद्धों ने अपनी साधना की अन्तर्भूमियों की विरोधा-भासात्मक अभिव्यक्ति के लिए वनों में सुलभ पर्वत, अहेरी, शबरी, मोर-पंख, गुंजा-माला एवं गंगा-जमुना, साँप, मेढक आदि को अपनाया। सन्त कवियों का सामाजिक धरातल अपेक्षाकृत निम्न कोटि का होने के कारण उनका प्रतीक-विधान भी तदनुरूप ही रहा। कबीर जुलाहे थे, इसलिए उनके लिए अपनी बहुत-सी आध्यात्मिक अनुभूतियों को चरखा, जुलाहा, करघे का शब्द, सूत, ताना-बाना, चदरिया आदि प्रतीकों में अभिव्यक्त करना स्वाभाविक ही था :

अस जुलहा का मरम न जाना, जिन्ह जग आनि पसारिन्हि नाना।
महि अकास दोउ गाड़ खँदाया, चाँद सुरज दोउ नरी बनाया।
सहस तार ले पूरन पूरी, अजहूँ बिनब कठिन है दूरी।
कहहिं कबीर करम से जोरी, सूत-कुसूत बिनै भल कोरी।[1]

यहाँ जुलाहा=कोरी जीव का प्रतीक है एवं मही और आकाश पिंड तथा ब्रह्माण्ड के; चांद और सूरज इड़ा और पिंगला के एवं सूत-कुसूत शुभ-अशुभ कर्मों के प्रतीक हैं। इसीलिए कबीर के खसम, राँड आदि प्रतीकों में ग्राम्यता भी आई हुई है। छायावाद अपने उठे हुए सांस्कृतिक स्तर के कारण नव-परिवर्तित रूप में काव्य का प्रकृत्यात्मक प्रतीकवाद की ओर परिष्कृत प्रत्यावर्तन है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में मार्क्सवादी आदर्शों के होने के कारण उनमें

1. बीजक, रमैनी, २८।

हम विदेशी प्रतीकों का आयात पाते है। उनका लाल रंग, हथौड़ा, कुदाली, हँसिया आदि प्रतीक निस्सन्देह रूस से प्राप्त हुए है। काले और जोश में आग-बबूले मार्क्सवादी मजदूरों का जलते कोयलो के नये प्रतीक मे प्रयोगवादी चित्र देखिए :

जल उठे हैं तन बदन से, क्रोध में शिव के नयन से
खा गए निशि का अँधेरा, हो गया खूनी सवेरा
जग उठे मुरदे बेचारे, बन गए जीवित अंगारे
रो रहे थे मुँह छिपाए, आज खूनी रंग लाए।

(के० अग्रवाल 'कोयले')

इसी तरह देश-भेद से एक ही प्रतीक अपनी विभिन्न अभिव्यंजना भी रखता है। हम देखते है कि गधे के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण सदा उसकी मतिमन्दता और मूर्खता की ओर रहता है। यही कारण है कि हमारे साहित्य में मतिमन्द का चित्रण गधे के प्रतीक से किया जाता है और उसके पीछे भोज के पूर्वोक्त अन्योक्ति-वर्गीकरण के अनुसार काव्य की गर्हात्मक अभिव्यंजना रहती है, श्लाघात्मक नहीं। किन्तु इसके ठीक विपरीत, अमेरिकन लोगों का दृष्टिकोण गधे के प्रति दूसरा ही रहता है। उनकी दृष्टि उक्त पशु की मतिमन्दता की ओर न जाकर उसकी सतत श्रमशीलता और कार्यपरता की ओर जाती है, अतएव उनके देश में गधे के पीछे श्लाघात्मक अभिव्यंजना रहती है, गर्हात्मक नहीं। वहाँ की वर्तमान सत्तारूढ रिपब्लिकन पार्टी का दल-चिह्न (Symbol) स्वयं गधा ही है। इसी तरह हमारे यहाँ 'गधे' का भाई 'उल्लू' अँग्रेजी साहित्य में ज्ञान का प्रतीक है और वह 'ज्ञान-विहंगम' (Wisdom bird) कहलाता है। यही बात रीछ, गीध, कबूतर, साँप आदि प्रतीकों की अभिव्यंजना में भी समझ लें। इस तरह हम देखते हैं कि प्रतीक-विधान देश-काल और परिवर्तमान परि-पार्श्व द्वारा व्यवस्थित रहता है, एक-सा नहीं होता।

प्रतीक और संकेत की व्यापकता

हम अब तक प्रतीकों और संकेतों को काव्य की पृष्ठ-भित्ति पर ही अंकित हुआ देखते आ रहे हैं, किन्तु वे काव्य के अन्य उपकरणों की तरह काव्य तक ही सीमित रहते हों, सो बात नहीं। प्रतीकवाद काव्य के अतिरिक्त अन्य ललित कलाओं—चित्र, मूर्ति, स्थापत्य एवं संगीत—में तथा दर्शन, धर्म आदि जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी अपना आधिपत्य जमाये हुए है। चित्र-कला के मुख्य उपादान-भूत रंगों को ही ले लीजिए। भारतीय दृष्टि से उनका चयन ही अपना पृथक्-पृथक् महत्त्व रखता है। काले अथवा नीले रंग की

अनांगलिकता एवं पापरूपता, श्वेत की सात्विकता एवं लाल की शृंगारिकता सर्व-विदित ही है। संस्कृत का राग शब्द स्वयं अपने क्रोड़ में चित्र-कला ही नहीं, बल्कि भाव-जगत् को भी समेटे हुए है। चित्रकारों तथा साहित्यकारों ने बाद को उसी राग की कुसुम्भ, मंजिष्ठ आदि अवान्तर छायाएँ अपने चित्रों और काव्य-रचनाओं में अच्छी तरह उघाड़ रखी हैं, जो कि व्यंग्यपूर्ण रहती हैं। रंगों के अतिरिक्त प्रभाकर माचवे के शब्दों में "पश्चिम में चित्र-कला, शिल्प या स्थापत्य कला में 'फूल-पत्ती, पशु-पक्षी, त्रिकोण-चतुर्भुज' आदि आकार केवल अलंकरण की भाँति प्रयुक्त होते है, परन्तु पूर्व में ये केवल अलंकरण नहीं हैं, बल्कि इनके पीछे कोई ध्वनि है, संकेत है, प्रतीक है, अर्थ है। संकेत समझे बिना जब तक गूढ़ अर्थ समझ में न आए, तब तक इन्हें निरे अलंकरणों के रूप मे ग्रहण करना अन्याय है।"[1] उदाहरण के लिए हमारे यहाँ चकवा-चकवी का जोड़ा अथवा सारस-मिथुन अनन्य दाम्पत्य-प्रेम-निष्ठा का प्रतीक है।[2] इसके लिए पूर्व में कहीं-कहीं बत्तख-जोड़ी अंकित करते हैं। कालिदास के दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के चित्र में हंस-मिथुन को अंकित करवाने में भी यही रहस्य है।[3] इसी तरह उसने 'मेघदूत' में भी यक्ष द्वारा मेघ को अपने घर का परिचय देते हुए बाहरी द्वार पर अंकित शंख और पद्म के चित्रों का उल्लेख करवाया है, जिन्हें हम समृद्धि एवं मंगल का प्रतीक मानते हैं।[4] यही बात अष्टदल कमल, मत्स्य आदि के सम्बन्ध में भी समझिए। वास्तव में यह भारतीय चित्रात्मक अथवा स्थापत्यगत प्रतीकवाद बौद्ध धर्म द्वारा ही पूर्व में फैला और अब पश्चिम की यथार्थवादी कलाओं पर अपनी भाव-व्यंजकता और ध्वन्यात्मकता की छाप लगा रहा है। वर्तमान समाचार-पत्र-जगत् में यह चित्रात्मक संकेतवाद कार्टूनों, व्यंग्यचित्रों के रूप में खूब लोकप्रिय बना हुआ है। इसमें 'पंचतन्त्र' की जन्तु-कथाओं की भाँति प्रायः जीव-जन्तुओं के प्रतीकात्मक रेखा-चित्रों द्वारा किसी राष्ट्र या राष्ट्र-नेता की हरकतों और जीवन के नैतिक, राजनीतिक आदि सभी पहलुओं पर खूब चुभता-चोखा व्यंग्य कसा जाता है। इन चित्रगत अन्योक्तियों में भी भावों की इतनी अधिक समाहार-शक्ति

१. 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', २१ अगस्त, १९५५ में प्रकाशित 'प्रतीक-योजना' लेख।

२. अथर्ववेद में दम्पति की चक्रवाक और चक्रवाकी से यों तुलना की गई है—'इहेमामिन्द्र संनुद चक्रवाकेव दम्पती।' १४।२।६४।

३. 'शाकुन्तल', ६।१९।

४. 'उत्तर मेघ', २०।

रहती है कि जिस भाव को व्यक्त करने के लिए समाचार-पत्र के सम्पादक को कितने ही सम्पादकीय लेख लिखने पड़ते है, उसे उसी पत्र का निपुण व्यंग्य-चित्रकार अपने छोटे-से रेखा-चित्र से ही स्पष्ट कर देता है। अब रही बात संगीत-कला की। उसके मुख्य तत्त्व स्वरों और ध्वनियों के सम्बन्ध में भी भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में स्पष्ट निर्देश कर ही रखा है कि किस तरह करुण, निर्वेद आदि भावनाओं की अभिव्यंजना के लिए स्वरों की सरगम-व्यवस्था रखनी होती है। स्वयं राग-रागिनियों की आरम्भिक ध्वनियाँ ही करुणादि भावों की ओर संकेत कर देती है। सवाक् चित्रपट-कला में तो अब संगीत को कथानक की प्रस्तुत घटना के साथ अन्योक्ति-मुखेन जोड़कर व्यंग्य-रूप से ही उसे अभिव्यक्त करने की प्रथा खूब चल पड़ी है। 'उड़ जा रे पंछी अब यह देश हुआ बेगाना' आदि चित्रपट के अन्योक्ति-गीत जन-मुख में गूँजते हुए सर्वत्र सुनाई देते हैं। स्वयं काव्य के अन्योक्ति-गीत भी जब संगीत-रूप में हमारे सामने आते हैं तो उन्हें भी हम सूर के पदों की तरह संगीत-कला के भीतर ही समाहित करेंगे। इस तरह प्रतीकवाद सभी ललित कलाओं में व्याप्त है, काव्य-मात्र में नहीं। इसीलिए क्रोचे का अभिव्यंजनावाद काव्य-कला ही नहीं, प्रत्युत सभी ललित कलाओं को अपने क्रोड़ में लिये हुए है।

कहना न होगा कि हमारा सारा व्यावहारिक जीवन भी प्रतीकों और संकेतों से भरा पड़ा है। हमारा राष्ट्र-ध्वज, उसके त्रिरंग, अशोक-चक्र आदि चिह्न राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, धर्मशीलता एवं शान्तिप्रियता के प्रतीक हैं। हमारे धार्मिक जीवन का उपासना-काण्ड तो सारा-का-सारा मानो प्रतीकों और संकेतों से भिन्न कुछ है ही नहीं। हमारे यज्ञोपवीत, शिखा आदि भी प्रतीकात्मक हैं। स्वयं ब्रह्मा, विष्णु, महेश—यह देवताओं की बृहत्त्रयी—विश्व-नियन्ता की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक-रूप में मानी जाती है; यहाँ तक कि ब्रह्मा के चार मुख तथा शिव का नाग-धारण आदि पौराणिक बातें भी प्रतीकमय हैं, जिनका दिग्-मात्र विश्लेषण हम आगे अन्योक्ति-पद्धति में पुराण-ग्रन्थ-प्रकरण में करेंगे। तन्त्र-शास्त्र की सारी प्रक्रिया प्रतीक-रूप ही होती है। अधिक क्या, जिस भाषा को हम नित्य-प्रति बोलते-सुनते हैं, उसका भाषित और लिखित रूप दोनों अपनी ध्वनि और लिपि के रूप में संकेत ही तो हैं, जो देश और काल-भेद से बदलते चले आ रहे हैं।

साहित्य-समालोचना के इतिहास में वक्रोक्ति-सम्प्रदाय एक विशिष्ट सम्प्रदाय है। इसके प्रवर्तक आचार्य कुन्तक हैं। इन्होंने वक्रोक्ति को ही सकल

अन्योक्ति और कुन्तक की वक्रोक्ति

काव्य-कला को अनुप्राणित करने वाला एक-मात्र मूल-तत्त्व मान रखा है। वैसे तो वक्रोक्ति शब्द संस्कृत-साहित्य में बड़ा प्राचीन है। अलंकार-सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को सभी काव्यालंकारों का पृष्ठाधार मान रखा था। इसीको वे अतिशयोक्ति भी कहा करते थे, क्योंकि उसमें 'लोकातिक्रान्त वचन' रहता है और लोकातिक्रान्त वचन ही काव्यत्व का निर्माण एवं काव्य में सौन्दर्याधान करता है। दंडी ने भी भामह की वक्रोक्ति को स्वीकार किया है। किन्तु कुन्तक ने वक्रोक्ति को एक सिद्धान्त के रूप में लिया है, अलंकारवादियों की वक्रोक्ति की तरह शब्द और अर्थ के अलंकरण-मात्र के रूप में नहीं। वे वक्रोक्ति को काव्य का आत्म-तत्त्व मानते है। उनकी वक्रोक्ति का स्वरूप है 'एक विचित्र प्रकार की अभिधा'।[1] वैचित्र्य कवि-कर्म के कौशल को कहते हैं। इसमें लक्षणा, व्यंजना एवं ध्वनि और रस आदि सभी काव्यांग समाहित हो जाते हैं। उनकी उपचार-वक्रता लक्षणा एवं अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि को, रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य ध्वनि को और प्रबन्ध-वक्रता एवं प्रकरण-वक्रता रस आदि को अपने में समेट लेती है। इस तरह कुन्तक का वक्रोक्तिवाद अपने में सभी काव्य-तत्त्वों का संग्राहक है। वास्तव में देखा जाय तो यह कुन्तक का अतिवाद है। हमारे विचार में तो कुन्तक का वक्रोक्तिवाद अलंकार-सम्प्रदायों के ऊपर आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनिवाद की प्रतिष्ठापना का प्रतिक्रिया-रूप है और यही कारण है कि ध्वनि-तत्त्व की व्यापकता के अनुकरण पर ही कुन्तक को भी 'तुल्य-न्याय' से अपनी वक्रोक्ति व्यापक रूप में ढालनी पड़ी, अन्यथा अभिधा में भला इतना साहस और सामर्थ्य कहाँ जो सभी काव्यांगों पर अपना अधिष्ठान करके सारे काव्य पर हावी हो जाय। हमारे लिए यह अप्रासंगिक ही होगा कि हम यहाँ अभिधा के विरुद्ध उठाए गए तर्कों का विस्तार से उल्लेख करें कि किस तरह लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ सर्वथा उसकी सीमा से बाहर हैं। प्रायः सभी साहित्यकारों ने वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थों का परस्पर इतना अधिक भेद माना है कि वह शब्द की पृथक्-पृथक् तीन शक्तियाँ माने बिना अभिधावाद में किसी प्रकार भी समन्वित नहीं हो सकता। दूसरे, कुन्तक का वक्रोक्तिवाद मूलतः वर्णना को प्रधानता देता है, चर्वणा को नहीं; जो काव्य का जीवातु है। यही कारण है कि कुन्तक की वक्रोक्ति आनन्दवर्धन के ध्वनि-

१. **प्रसिद्धाभिधान-व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरुच्यते।**

—'वक्रोक्तिजीवित', १।१० की वृत्ति।

वाद का सामना न कर सकी। किन्तु अन्योक्ति के सम्बन्ध में हमारे आगे ऐसी कोई कठिनाई नहीं आती। इसमें अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों शक्तियाँ अपना-अपना कार्य करती रहती है। इन्हीं शक्तियों के आधार पर तो हमें अन्योक्ति का वर्गीकरण करना पड़ा। हम पीछे बता आए हैं कि किस तरह श्लिष्ट अन्योक्ति अभिधा द्वारा ही अन्य अर्थ का प्रतिपादन करती है, अन्योक्ति की अध्यवसान वाली धारा लक्षणा-प्रधान रहती है और सारूप्य-निबन्धना धारा व्यंजना-प्रधान। इसके अतिरिक्त अन्योक्ति अलंकार-रूप भी होती है और अलंकार्य-रूप भी। अलंकार्य रूप प्राप्त करने में इसके शिर पर आनन्द-वर्धन का वरद हस्त रहा है। अलंकार्य रूप में यह ध्वनि के अन्तर्गत होती है, जिसका विवेचन हम ध्वनि-प्रकरण में करेंगे। इसके विपरीत वक्रोक्ति को सभी साहित्यकारों ने अलंकार-रूप में ही ग्रहण किया है। वक्रोक्ति और अन्योक्ति के मध्य एक और भी भेद है और वह यह कि कुन्तक व्यक्ति-वैचित्र्य-वादी है। उनका वक्रोक्तिवाद व्यक्ति-वैचित्र्यवाद है और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद पूँजीवादी, जैसे व्यक्तिवादी समाज की वस्तु है, लोकवादी समाज की नहीं। डॉ० शम्भूनाथसिंह के कथनानुसार 'छायावादी कविता पूँजीवादी है इसलिए उसमें वक्रोक्ति की प्रवृत्ति अधिक दिखलाई पड़ती है।'[१] किन्तु अन्योक्ति के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात नहीं उठती। वह यदि व्यक्तिवादी समाज में रही है, तो उसे अब समाजवाद पर आधारित प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के युग में भी भय नहीं, यद्यपि उसने हाल ही में अपनी आँखों के सामने व्यक्तिवादी छायावाद की स्वप्निल दुनिया ढहती देख ली है और उसे अब अपना नया ही अप्रस्तुत-विधान गढ़ना पड़ रहा है। इस तरह कुन्तक की वक्रोक्ति की अपेक्षा अन्योक्ति की आधार-शिला अधिक दृढ़ और सुस्थिर है और साहित्य के किसी वाद से नहीं टकराती।

अन्योक्ति और क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

इटली के प्रसिद्ध सौन्दर्य-समीक्षक क्रोचे का यूरोप के सौन्दर्य-शास्त्र के इतिहास में आजकल प्रमुख स्थान है। वे काव्य में अभिव्यंजना (Expression) को ही सौन्दर्य और कला मानते हैं। उनके विचार से काव्य स्वयं-प्रकाश्य बोध (Intuition) की वस्तु है और इस तरह काव्यीय सौन्दर्य का सम्बन्ध सीधा अन्तर्जगत् से रहता है, प्रत्यक्ष जगत् से नहीं, अर्थात् लौकिक वस्तु स्वतः सुन्दर नहीं होती, बल्कि कवि का स्वयं-प्रकाश्य बोध कल्पना द्वारा उसे सौन्दर्य का बाना पहनाता है। आचार्य शुक्ल

१. 'छायावाद युग', पृ० २४८।

ने कुन्तक की वक्रोक्ति की आलोचना के प्रसंग में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को कुन्तक की वक्रोक्ति का पश्चिमी संस्करण कहा है। इसमें संदेह नहीं कि कुन्तक के वक्रोक्तिवाद और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में दोनों विद्वानों के नामों में ककार की-सी यह समानता तो अवश्य है कि दोनों कवि-व्यापार अथवा अभिव्यक्ति-प्रकार को महत्त्व देते हैं, वस्तु को नहीं, किन्तु इतनी थोडी समानता की अपेक्षा दोनों में भेद बहुत अधिक है। वर्णन-परक होता हुआ भी कुन्तक का वक्रोक्तिवाद अन्य वादों की तरह भारतीय आदर्शों की धरा पर खड़ा है जब कि क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में यह बात नही है। कुन्तक ही क्या, कोई भी भारतीय साहित्यकार क्रोचे की तरह यह मानने को तैयार नहीं कि सौन्दर्य केवल कवि के मन की वस्तु है, प्रत्यक्ष जगत् की नहीं। हमारे यहाँ यदि सौन्दर्य कवि-कल्पना रूप अर्थात् कवि-कर्म भी है तो वह वस्तुगत गुण भी माना जाता है। सच तो यह है कि वस्तु के स्वगत सौन्दर्य में ही कलाकार को अपनी काल्पनिक सौन्दर्य-सृष्टि रचने की स्फूर्ति अथवा प्रेरणा मिलती है। हम मानते हैं कि छायावाद और रहस्यवाद अपनी सौन्दर्य-सर्जना में कल्पना और अभिव्यंजना-प्रधान हैं, किन्तु विराट् सौन्दर्य की छवि हृदय-पटल पर उतारने के लिए उनमें कवि-तूलिका को सुन्दर-सुन्दर रंग तो बाह्य प्रकृति के तत्त्वों से ही प्राप्त हुए हैं। यही कारण है कि अन्योक्ति के अधिकतर चित्र प्रकृति के उपादानों से ही बनते हैं, जिनमें वह अपने नाना रूपों और क्रिया-कलापों से जीवन के अनेक रहस्यों को उघाड़ती है। सोचने की बात है, यदि प्रस्तुत में अपने ही सौन्दर्यादि गुण न रहें, तो विना गुण-साम्य के किस आधार पर कवि अप्रस्तुत योजना की कल्पना कर सकता है? प्रस्तुत और अप्रस्तुत के गुण-क्रिया-साम्य अथवा समान व्यापार-समष्टि पर आधारित अप्रस्तुत रूप-विधान ही तो अन्योक्ति का निर्माण करता है। दूसरी बात जो क्रोचे की हमसे मेल नहीं खाती, वह है उसके अभिव्यंजनावाद में सौन्दर्य की निरपेक्ष सत्ता, अर्थात् 'कला कला के लिए'। इस पश्चिमी दृष्टिकोण के अनुसार वे कला का सम्बन्ध सौन्दर्य तक ही सीमित रखते हैं, उससे आगे नहीं जाते। समाज या जन-जीवन पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होती हैं, इस माप-दंड से वे काव्य का मूल्यांकन नहीं करते। उनका कला-निकेत एक मात्र 'सुन्दरम्' तत्त्व के आधार पर खड़ा रहता है। 'सत्यम्' और शिवम्' तत्त्वों को वे दर्शन, धर्म, या नीति-शास्त्र के लिए छोड़ देते हैं। किन्तु हमारे यहाँ यह बात नहीं। काव्यीय सौन्दर्य द्वारा र[illegible] आनन्द की प्राप्ति—मानता हुआ भी भारतीय कलाकार, आनुषंगिक-रूप में ही सही, उसके भीतर 'सत्यम्' और 'शिवम्' को भी झाँकता रहता है। इसीलिए काव्य-

प्रकाशकार ने काव्य-ध्येयों में 'सद्यः परनिर्वृतये' और 'शिवेतर-क्षतये' दोनों समाविष्ट करके काव्य के बुद्धि-पक्ष और भाव-पक्ष को पूरा महत्त्व दिया है। साहित्यदर्पणकार ने तो 'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः काव्यात्' कहकर काव्य का जीवन से, जीवन का धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस पुरुषार्थ-चतुष्टय से घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ दिया है। 'पद्मावत' और 'कामायनी' आदि अन्योक्ति-ग्रन्थ अपने सौन्दर्य-चित्रों द्वारा पाठकों को रस-मग्न करते हुए भी अन्ततः उनका ध्यान उस शाश्वत दार्शनिक सत्य की ओर आकृष्ट कर देते हैं, जो जीवन का परम पुरुषार्थ अथवा गन्तव्य स्थान है। मुक्तक अन्योक्तियाँ तो ऐसी कितनी ही मिलेंगी, जिनमें जीवन के कठोर-से-कठोर सत्य का भी चित्र खींचा जाता है जो मानव को अपना अन्तर्निरीक्षण करने को बाध्य कर देती हैं। भ्रमर, चन्द्र, चकोर आदि को उपलक्षण बनाकर उनके द्वारा जीवन की कितनी ही उलझी गुत्थियाँ सुलझाई जा सकती हैं, भूली-भटकी मानवता को कर्तव्य का पाठ पढाया जा सकता है और उसमें पावन एवं उदात्त चरित्र का निर्माण किया जा सकता है। हम पीछे जयपुर-नरेश के सम्बन्ध में दिखा आये हैं कि जो कार्य महानिपुण राजनीतिज्ञ मन्त्रियों और गुरुजनों द्वारा न हो सका, वह जादू की छड़ी की तरह बिहारी की एक ही भ्रमर-अन्योक्ति ने कैसे कर दिखाया। इसलिए 'सत्यम्' और 'शिवम्' अंश तो अन्योक्ति-साहित्य की रीढ़ हैं। उन्हें कैसे हटाया जा सकता है? उनके बिना काव्य जीवन की भला क्या आलोचना करेगा?

हमारे विचार में यहाँ यह अप्रासंगिक न होगा कि हम पाश्चात्य साहित्य के अन्योक्ति-तत्त्व पर भी थोड़ा-सा विचार कर लें। वैसे तो पाश्चात्य साहित्य

पाश्चात्य और अंग्रेजी साहित्य में अन्योक्ति-तत्त्व

में अन्योक्ति का अलंकार और मुक्तक रूप में प्रयोग कभी से होता चला आ रहा है और किसी भी युग के साहित्यकारों की रचनाओं में से इसके कितने ही उदाहरण दिए जा सकते हैं, किन्तु व्यापक बनकर पद्धति के रूप में यह मध्य-युग में प्रयुक्त हुई है। 'पश्चिम के विद्वानों का तो यह मत है कि यूरोप के प्रायः सभी उन्नत देशों में प्रारम्भिक नाटक मिस्टिक प्लेज़ (Mystic plays) के रूप में आविर्भूत हुए। अनेक देशों में इन मिस्टिक प्लेज़ में नाम और रूप दोनों में साम्य पाया जाता है'।[1] हमारी रास-लीलाओं की भाँति ईसा के जीवन तथा बाईबल की कहानियों के आधार पर रहस्यात्मक नाटकों (Mystic plays) का निर्माण हुआ। अंग्रेजी साहित्य में मोरेलिटी प्लेज़ (Morality plays) अर्थात् पद्यों में मध्ययुगीय

१. डॉ० दशरथ ओझा, 'हिन्दी-नाटक', भूमिका, पृ० ३।

आचार-रूपकों की रचना हुई, जिनमें कृष्णमिश्र के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की तरह अमूर्त भावों—धर्माधर्मों—का मानवीकरण हुआ पड़ा है। सर डेविड लिंड्से के 'Ane Pleasant Satyre of Three Estates', 'Lusty Juventus' (असंयम और कामुकता का दण्ड), 'The Cradle of security (सम्राटों के कदाचार-विषयक) Republics' (धर्मादाय से अपने को सम्पन्न बनाने वालों के विरोध-विषयक एवं सम्राज्ञी मेरी के अधीन १९५३ में अभिनीत) तथा स्केल्टन का 'Magnificence' आदि नाटक प्रतीकात्मक ही हैं।

पिलग्रिम्स प्रोग्रेस, फेयरी क्वीन, और वीज़न ऑफ मिर्ज़ा

कहना न होगा कि १६वीं और १७वीं सदियाँ इंग्लैण्ड में धार्मिक उत्कंठा, उत्तेजना एवं उत्थान का युग मानी जाती हैं, इसीलिए अन्योक्ति के सबसे उत्कृष्ट ग्रन्थ बनियन के 'ग्रेस अवाउंडिंग' और 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' स्पेन्सर की 'फेयरी क्वीन' तथा स्विफ़्ट का 'गुलिवर्स ट्रेवल्स' इसी युग की उपज है। बनियन की रचनाएँ उपन्यास-ग्रन्थ हैं : 'पिल-ग्रिम्स प्रोग्रेस' का तो आज विश्व-साहित्य में बड़ा ऊँचा स्थान है। इसमे कलाकार एक स्वप्न देखता है, जिसमें वह वैयक्तिक तथा रहस्यात्मक तत्त्वों को मिलाकर मानवी आत्मा और उसकी अकथनीय यातनाओं के मध्य सतत चलते हुए संघर्ष के विराट् दृश्य के सामने हमें खड़ा कर देता है, जिसे देखकर हम अवाक्-से रह जाते हैं। हमारे संस्कृत-कलाकारों के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' आदि रूपक-नाटक भी एतद्विषयक ही हैं, किन्तु उन सबमें 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' की-सी सजीवता एवं साहित्यिकता नहीं है। उन सबमें सिद्धान्त-प्रतिपादकता तथा नैतिक और धार्मिक उपदेशात्मकता है, अतएव उनमें मध्ययुगीन इंगलिश आचार-रूपकों-जैसी रोचकता नहीं बनने पाई है; केवल ऊपर-ऊपर की ही समता है। स्पेन्सर का 'फेयरी क्वीन' सात सर्गों में एक रूपक-काव्य है, जिसमें जायसी के 'पद्मावत' की तरह महारानी एलिज़ाबेथ से सम्बन्धित, ऐतिहासिक तथ्यों की पृष्ठ-भित्ति पर प्रताप (Magni ficence) का प्रतीक-भूत 'राजकुमार आर्थर' कीर्ति (Glory) की प्रतीक 'परियों की रानी' का स्वप्न देखता है और बाद को उसकी खोज में निकले हुए कितने ही 'वीरों' (Knights) के सामूहिक कार्यों द्वारा सफलता प्राप्त कर लेता है। ये सभी वीर प्रतीकात्मक हैं। प्रतीक-पद्धति में लिखी जाने वाली रचनाओं में से सबसे बाद का एडिसन का 'मिर्ज़ा का स्वप्न' (Vision of Mirza) है। यह पौर्वात्य अरबी वातावरण का एक रूपक-उपन्यास है। मिर्ज़ा एक स्वप्न देखता है, जिसमें मानव-जीवन ६८ वृत्त-खण्डों—मेहराबों—वाले एक पुल के रूप में

चित्रित है। पुल में से होकर मानवों के समूह-के-समूह जाते हुए दिखलाई देते हैं, जिनमे से कुछ तो पार पहुँच जाते हैं और कुछ गिरकर अदृष्ट छल-कपाटों (Trap-doors) द्वारा नीचे जल-प्रवाह मे बह जाते है। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ी में कुछ विद्रूपात्मक स्वतन्त्र अन्योक्ति-कविताएँ तथा अन्योक्ति-कहानियाँ भी हैं, जिनमें ड्रायडन की 'Absalom and Achitophel' और 'The Hind and the Panther' एवं स्विफ़्ट की 'The Tale of a Tub' उल्लेखनीय हैं।

प्रकृतिवादी तथा रहस्यवादी वर्ड्सवर्थ, कीट्स, शेली आदि गीत-लेखक

यूरोप मे उन्नीसवीं शती के रोमांटिक आन्दोलन के बाद अंग्रेज़ी साहित्य मे स्वच्छन्दतावाद आया, जिसके भीतर छाया-चित्रों का प्राधान्य है। वह सब प्रतीक-पद्धति पर ही आधारित है। इस युग के वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, कीट्स, शेली, ब्लैक, यीट्स आदि सब इसी पद्धति के कलाकार है, जिनकी रचनाओं ने बाद को हिन्दी के छायावाद और रहस्यवाद को कुछ तो साक्षात् और कुछ बंगला के माध्यम से बहुत प्रभावित किया। प्रसिद्ध छायावादी कविवर पंत को कुछ लोग हिन्दी का शेली कहते ही हैं। टी० एस० इलियट अंग्रेजी साहित्य के आजकल सबसे बड़े प्रतीकवादी कवि माने जाते है।

अन्योक्ति की उपादेयता

कहना न होगा कि अन्योक्ति सदैव व्यंग्य-प्रधान रहा करती है। व्यंग्य ही काव्य का प्राण-तत्त्व है, यह सर्व-सम्मत सिद्धान्त भारतीय समीक्षा में कभी से चला आ रहा है। इसके प्रस्थापक आचार्य आनन्दवर्धन का युग इतिहास में साहित्य का स्वर्ण-युग कहलाता है। ये अलंकार और रीति-सम्प्रदायों के स्थान में ध्वनिवाद की स्थापना करके काव्य-जगत् को जो दिशा बता गए हैं, उसीकी ओर हम अभी तक चलते आ रहे हैं। पीछे से कुन्तक ने वक्रोक्ति-वाद के रूप में एक प्रतिगामी पग अवश्य उठाया था, किन्तु वह आगे न बढ़ सका। आचार्य क्षेमेन्द्र का औचित्यवाद भी काव्य के सभी तत्त्वों का केवल परस्पर समन्वयात्मक होने के कारण आनन्दवर्धन की व्यंजना-पद्धति का कुछ न बिगाड़ सका, बल्कि उसे स्वीकार करके ही चला। फिर तो आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि महारथियों के भी साथ में मिल जाने से ध्वनिवाद की सार्वभौम सत्ता की छाप अब सदा के लिए साहित्य-क्षेत्र में अमिट हो गई है। ध्वनि-प्रधान होने के कारण ही आनन्दवर्धन ने किस तरह अन्योक्ति को अलंकारों की पंक्ति से हटाकर ध्वनि के उच्चासन पर बिठाया, यह हम आगे अन्योक्ति के ध्वनि-प्रकरण में बताएँगे। ध्वनि 'अनु-

रणन' न्याय से वाच्यार्थ का अतिशय करने वाले 'व्यंग्य' को कहते हैं। 'अनु-रणन' रणन—घड़ियाल आदि पर चोट मारने से उत्पन्न स्थूल शब्द—के बाद क्रमशः सूक्ष्म-सूक्ष्मतर होने वाली ध्वनियों के सिलसिले को कहते हैं। अनुरणन की तरह ही शब्द के स्थूल वाच्यार्थ के बाद प्रतीयमान सूक्ष्म अर्थ को व्यंग्य (Suggestion) कहते हैं। यह व्यंग्य-तत्त्व ही उत्तम काव्य का निकष होता है। व्यंग्य सदा दूर और छिपा हुआ ही रहता है और जो जितना दूर और छिपा हुआ रहेगा, वह उतना ही अधिक सुन्दर और कौतूहलजनक होगा, क्योंकि उसमें पाठक को कल्पना का जोर लगाना पड़ता है। अंग्रेजी की 'कला को छिपाने में ही कला का कलातत्त्व निहित है' (Art lies in concealing art) इस लोकोक्ति का भी यही भाव है। छायावाद और 'कामायनी' आदि छायावादी रचनाओं की सफलता का रहस्य भी कल्पना के बल पर खड़ी हुई उनकी सौन्दर्य-सर्जना ही तो है। काव्य-जगत् में ही यह बात होती हो, सो बात नहीं, प्रत्यक्ष जगत् में भी हम यही बात पाते हैं। यही कारण है कि आचार्य मम्मट ने व्यंग्य की प्रच्छन्नता एवं गूढ़ता में सौन्दर्य-समृद्धि का लौकिक दृष्टान्त 'कामिनीकुचकलश' दिया है।[1] पर्वत भी दूर से ही रम्य दिखलाई पड़ते हैं। इसी तरह दूर के ढोल भी सुहावने होते हैं। अपने भीतर विद्यमान गूढ़ दूरगामी व्यंग्य अथवा व्यंग्यों की परम्परा ही अन्योक्ति में सौन्दर्य और आनन्दानुभूति प्रदान करती है। इसी कारण कुवलयानन्दकार और पं० पद्मसिंह शर्मा अन्योक्ति को 'गूढ़ोक्ति' भी कहते हैं।[2] अन्योक्ति की अप्रस्तुत योजना द्वारा प्रस्तुत पर कल्पना का आवरण पड़ते ही उसमें अन्तस्तल को स्पर्श कर देने वाला एक विचित्र प्रकार का निखार आया; यही निखार काव्य में चेतनता लाता है। इसके अतिरिक्त अन्योक्ति में हम भावों की समाहार-शक्ति और भाषा की समास-शक्ति भी गूढ़ पाते हैं। इसके भीतर कलाकार भावों का जो समाहार करता है, उसे वह इतना तनुतर बना देता है कि वह अणु-रूप बन जाता है और जब खुलता है तो वह घनीकृत (Compressed) रुई की तरह इतना विशाल और व्यापक बन जाता है कि उसकी पृष्ठभूमि में एक पूरी जीवन-कहानी खड़ी हो जाती है। इसके लिए बिहारी का यह छोटा-सा उदाहरण लीजिए :

---

१. कामिनीकुचकलशवत् गूढं चमत्करोति। 'काव्य-प्रकाश,' उ० ५ सूत्र ६६ वृत्ति।

२. 'बिहारी की सतसई', पृ० ३८९

पटु पाँखें भखु काँकरें, सदा परेई संग।
सुखी परेवा! जगत में, एकै तुही बिहंग॥[1]

"हे पारावत (कबूतर)! वस्तुतः संसार में एक-मात्र तू ही सुखी है। तू विहंग है; जब मन करे, विशाल गगन में जहाँ-कहीं जा सकता है; कोई रोक-टोक नहीं। पंख तेरा पट (वस्त्र) है, जो स्वाभाविक है, और कंकड़ तेरा भक्ष्य है, जो सर्वत्र सुलभ है। इससे भी बड़ी बात यह है कि 'सदा परेई संग' अर्थात् प्रियतमा से तेरा कभी वियोग नहीं होता। इससे अधिक सुखी जीवन भला क्या हो सकता है!" यहाँ परेवा-परेई का सारा प्रसंग अप्रस्तुत है। प्रस्तुत एक ऐसा पुरुष है, जो परेवा की तरह स्वतन्त्र नही है। चारो ओर प्रतिबन्ध-ही-प्रतिबन्ध हैं। पहनने के लिए साधारण वस्त्र से उसका काम नही चलता। उसको तो नित नये-नये डिज़ाइन के वस्त्र चाहिएँ; एक ही वस्त्र फैशन के विरुद्ध है। भोजन भी ऐसा नहीं कि जो कुछ मोटा-झोटा मिल जाय, उसी पर संतोष कर ले। जिह्वा-लौल्य बढ़ गया है। नित नया भोजन, नई-नई 'डिश' चाहिए। पत्नी तो है, पर विविध व्यवसायों में फँसे रहने के कारण सदा साथ नहीं रह सकती, प्रायः वियोग ही रहता है। इस तरह पारावत के सादे, यदृच्छालाभ-सन्तुष्ट, स्वाभाविक जीवन द्वारा अभिव्यज्यमान प्रस्तुत चित्र पारावत के चित्र से बिलकुल प्रतीप है। यहाँ वक्ता को भौतिक भोगवाद के कर्दम से लिप्त अपने कृत्रिम जीवन के प्रति जहाँ ग्लानि है, वहाँ परेवा के सादे स्वाभाविक जीवन के प्रति एक तरफ हृदय में प्रशंसा का भाव है, तो दूसरी तरफ स्वयं प्रिया-वियुक्त होने के कारण उससे ईर्ष्या भी हो रही है। इसके अतिरिक्त परेवा-युगल के दर्शन से हृदय मे अपनी प्रियतमा की स्मृति भी अंकित हो रही है, जो एक मधुर टीस और मिलन की उत्सुकता उभारकर वियोग-शृंगार का पूरा चित्र सामने खड़ा कर देती है। देखिए, एक छोटी-सी अन्योक्ति में कवि ने कितना भाव-समाहार कर रखा है! कवि का 'विहंग' शब्द भाषा की समास-शक्ति पर भी प्रकाश डाल रहा है। भाषा की समास-शक्ति का विशेष प्रभाव श्लिष्ट अन्योक्तियों में देखने को मिलता है। हम पीछे बिहारी की 'अज्यो तर्‌यौना ही रह्यौ' वाली अन्योक्ति में देख आए है कि किस तरह कवि ने एक ही शब्दावली में एक तरफ तो नायिका के गहनों की शृंगार-छटा का और दूसरी तरफ समस्त वेदान्त-शास्त्र का गूढ़ रहस्य छिपा रखा है। किन्तु समास-शक्ति के लिए श्लिष्ट भाषा अनिवार्य नहीं। अश्लिष्ट शब्दों से भी समास-शक्ति दूर-दूर तक अर्थों का प्रतिपादन करती चली जाती है। छाया-

१. 'बिहारी रत्नाकर', पृ० ६१६।

वाद और रहस्यवाद को गौरव प्रदान करने में अन्योक्ति-पद्धति के भाव-समाहार एवं भाषा-समास-शक्ति का बड़ा हाथ रहा है। इस समास-शक्ति के कारण ही हम पीछे समासोक्ति को अन्योक्ति कह आए हैं।

वर्तमान काल के कुछ समीक्षक अन्योक्ति को वस्तुध्वनि अथवा सिद्धान्त-प्रतिपादन तक सीमित मानकर भावोत्तेजन की दृष्टि से उसे कुछ भी महत्त्व नही देते। हम उनसे सहमत नहीं हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्रस्तुत वस्तु व्यंग्य रहने से अन्योक्ति वस्तु-ध्वनि होती है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें भाव-पक्ष न हो। सच तो यह है कि अप्रस्तुत-योजना की चरम परिणति-रूप अन्योक्ति में जितनी तीव्र और गम्भीर भाव-व्यंजना रहती है, उतनी शायद ही अन्यत्र कहीं मिलती हो। भाव और रस की अभिव्यंजना तो अन्योक्ति का मुख्य कार्य है। उसमें प्रेषणीयता लाने के लिए कलाकार प्रकृति में ऐसे अप्रस्तुत उपादानों को ढूँढ़ता है, जो उसके स्वगत भाव को पाठकों का हृदयंगम बना सके। इसलिए अन्योक्ति में व्यंजित वस्तु तो निरा साधन ही है, साध्य उसमें भाव-व्यंजना होती है। बिना भाव-पक्ष के वस्तु-व्यंग्य-परक अन्योक्ति न तो जीवन में ही कोई स्थायी प्रभाव डाल सकती है, न वह मर्मस्पर्शी हो सकती है। हम अभी ऊपर एक छोटे-से उदाहरण में अन्योक्ति के भाव और रस-पक्ष को दिखा आए हैं। इस तरह हमारे विचार से तो अन्योक्ति में काव्य की पूरी प्राणवत्ता है। अन्योक्ति का यह भाग्य-दोष ही समझिए जो यह आज तक आलोचक आचार्यों की उपेक्षा-पात्र बनी रही। अन्यथा क्या बात है कि एक साधारण से अभिव्यक्ति-प्रकार 'वक्रोक्ति' को लेकर तो आचार्य कुन्तक 'वक्रोक्तिः काव्य-जीवितम्' का तूफान खड़ा कर दें, अंग को अंगी बना दें और जिसका रूप ही ध्वनि है, जो वास्तव में काव्य का जीवित है, वह बेचारी अन्योक्ति अप्रस्तुत-प्रशंसा की कारा में बन्दी बनकर अज्ञात ही सिसकती रहे। किन्तु वह समय गया। अन्योक्ति अब उन्मुक्त हो गई है। साहित्यकारों का ध्यान आज इसकी ओर जाने लगा है। जैसा कि हम पीछे संकेत कर आए हैं, भरत मुनि तो बहुत पहले अन्योक्ति अथवा अन्यापदेश को काव्य का आन्तरिक धर्म स्वीकार कर चुके थे। किन्तु मध्य-युग के अन्धकार से निकलकर अब इसका भाग्य फिर उज्ज्वल दिखाई पड़ने लगा है। डॉ० सुधीन्द्र इसका नव मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं :

"अन्योक्ति-विधान में वस्तुतः एक बड़ी शक्ति है और वह है व्यंजना; उसे हम ध्वनि भी कह सकते हैं। इसी ध्वनि का उपयोग कवि जब करता है

तो कविता में एक आभा छलछला उठती है। अर्थ-गौरव भी बढ़ जाता है।[1] रामदहिन मिश्र अन्योक्ति को सारूप्य-निबन्धना अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार का पर्याय-शब्द मानते हुए भी अन्योक्ति के भीतर की अप्रस्तुत-योजना के सम्बन्ध में लिख गए हैं कि "यह काव्य का प्राण है, कला का मूल है और कवि की कसौटी है।"[2] और इस तरह वे भी अन्योक्ति का असली स्वरूप पहचानने लगे हैं। डॉ० वी० राघवन के शब्दों में "काव्य यदि जीवन की समीक्षा है, तो अन्यापदेश (अन्योक्ति) काव्य के अन्य सभी प्रकारों में से उत्कृष्ट है।"[3]
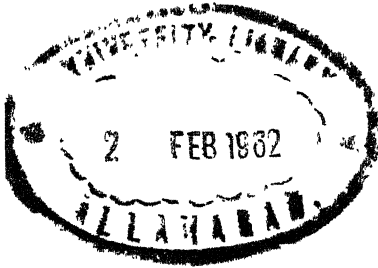
१. 'हिन्दी कविता में युगान्तर', पृ० ३६४।

२. 'काव्य में अप्रस्तुत-योजना', पृ० ७३।

३. 'If poetry is a criticism of life, Anyapadesh is poetry above all other types.—'Some Concepts of the Alankar Shastra.' Page 83.

३ : अन्योक्ति : अलंकार

अन्योक्ति को अलंकार-रूप में बताने से पहले हम यह आवश्यक समझते हैं कि अलंकार-तत्त्व पर थोड़ा-सा विचार कर लिया जाय। हम देखते हैं कि मनुष्य स्वभावतः सौन्दर्य-प्रिय प्राणी है। वह प्रत्येक सुन्दर वस्तु की ओर आकृष्ट होता है। वह वन-उपवन, नदी-नद, चन्द्र-नक्षत्र-मंडल एवं पर्वत आदि सुन्दर दृश्यों को देखकर प्रसन्न होता रहता है। उसकी सौन्दर्येषणा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। प्रत्यक्ष जगत् के जड़-चेतन पदार्थ जब उसकी सौन्दर्येषणा को परितृप्त नहीं कर सकते, तो उसकी परितृप्ति के लिए ही लोक में काव्य-कला का आविर्भाव होता है। सौन्दर्य के सर्वांगीण चित्रण एवं सम्यक् आस्वादन के लिए काव्य ही सर्वोत्तम साधन बना। यह चिर-नवीन सौन्दर्य पर आधारित होने से स्वयं भी चिर-नवीन है। इसीलिए काव्य मानव-जीवन का अनिवार्य अंग बना हुआ है।[1] काव्य को समग्र कलाओं का शिरोमणि—परा कला—कहलाए जाने का कारण इसमें निहित सौन्दर्य ही है, जो आत्मा को परमानन्द-लीन कर देता है।[2] काव्य की ओर से उदासीन मानव का जीवन एक प्रकार से पाशविक जीवन ही समझिए। प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे के शब्दों में जिस मनुष्य के कान कविता सुनने को उत्सुक नहीं होते, वह बर्बर है चाहे वह कोई भी क्यों न हो।[3] शब्दान्तर में यही बात संस्कृत-कवि भर्तृहरि ने भी कही है—'साहित्य और संगीत-कला से विहीन मनुष्य बिना सींग-पूँछ के साक्षात् पशु है। तृण न खाता हुआ भी वह जी रहा है, यह उसकी परम भाग्यवत्ता ही समझो।'[4]

अलंकारों की प्रयोजनीयता

---

१. क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। 'शिशुपालवध', ४।१७।

२. लीयते परमानन्दे ययाऽऽत्मा सा परा कला।

३. He, who has no ear for poetry is a barbarian be he who may.

४. साहित्य-संगीतकला-विहीनः, साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानः, तद् भागदेयं परमं पशूनाम्॥ 'नीतिशतक', १२।

प्रश्न उठता है कि काव्य में सौन्दर्य-संचार कैसे होता है ? वे कौनसे साधन अथवा उपादान हैं, जो काव्य में रमणीयता लाते हैं ? इसके उत्तर में अलंकारों का नाम लिया जाता है। हमारे प्राचीन साहित्य-शास्त्री अलंकारों की शोभा को 'अलम्' अर्थात् पूर्ण करने वाला मानते हैं। 'अग्नि पुराण' में अलंकार-रहित वाणी की तुलना विधवा नारी से की गई है, जो सदा हत-श्री रहती है। भामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रट आदि आचार्यों ने अलंकार को काव्य का अनिवार्य अंग माना है। दण्डी ने इसे बाह्य आगन्तुक पदार्थ न स्वीकार करके 'काव्यशोभाकर-धर्म' कहा है। जयदेव तो अलंकारों की महिमा पर मुग्ध होकर यह कहते हुए सबसे आगे बढ गए कि 'जो विद्वान् अलंकारहीन शब्दार्थ को काव्य मानता है, वह यह भी क्यों नहीं मान लेता कि आग गरम नही होती ?'[१]

इसके विपरीत कुछ आधुनिक विद्वान् ऐसे भी हैं जो काव्य में अलंकार-तत्त्व को महत्त्व नहीं देते। उनके कानों में कालिदास के ये शब्द गूँजते रहते हैं—'सुन्दर आकृतियों को अलंकारों की अपेक्षा नहीं हुआ करती।'[२] वे अपने पक्ष के समर्थन में प्रमाण-रूप बिहारी का निम्नलिखित दोहा भी देते हैं :

पहिर न भूषन कनक के, किमि आवहिं इहिं हेत।
दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देत॥

इसमें कवि ने स्वाभाविक सौन्दर्य-छटा में दीप्यमान नायिका की देह पर पहने जाने वाले भूषण दर्पण में लगे ज़ंग की भाँति दिखाई देते हुए बताए हैं। एक उर्दू कवि भी बिहारी के स्वर-में-स्वर मिलाकर कह देता है—'नहीं मोहताज ज़ेवर का जिसे खूबी खुदा ने दी।' ऐसे आलोचक अलंकार को कवि की प्रतिभा में बाधक मानते हैं, क्योंकि उनको काव्य में लाने के लिए बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। उनकी दृष्टि में वे एक प्रकार के ऐसे बन्धन हैं, जो कवि को उन्मुक्त होकर काव्यांगण में विहार नहीं करने देते; इसीलिए वे हेय हैं।

उक्त दोनों परस्पर प्रतीप दृष्टिकोणों का समन्वय करने से पूर्व हमें यह विचार कर लेना चाहिए कि वस्तुतः अलंकार क्या वस्तु है और काव्य में उसका क्या स्थान है। 'सौंदर्यम् अलंकारः' (वामन) मानने वाला अलंकारवादी दृष्टिकोण अलंकार को कटक-कुण्डल आदि की भाँति काव्य-शरीर की ऊपरी वेश-भूषा अथवा प्रसाधन तक सीमित न करके व्यापक रूप में लेता है। वह काव्य में जो कुछ भी सौंदर्य अथवा सौंदर्य-उपादान है, चाहे वह बहिरंग हो या अन्तरंग,

१. **अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।**
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥ 'चन्द्रालोक', १।८।

२. **किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्। 'शाकुन्तल', १।२०।**

सभी को अलकार-कोटि में ले लेता है। अतएव ध्वनि-सम्प्रदाय वालों के रस और ध्वनि भी अलंकार के अन्तर्गत आ जाते है और इस तरह का अलंकार एवं अलंकार्य के मध्य कोई भेद ही नहीं रह जाता। अभिव्यंजनावादी पाश्चात्य विद्वान् क्रोचे का भी यही मत है, क्योंकि वे काव्य-सौंदर्य को एक पूर्ण अखंड अविभाज्य वस्तु मानते हैं। अलंकार शब्द के इस व्यापक अर्थ के आधार पर पहले समग्र काव्य-शास्त्र को अलंकार-शास्त्र कहा जाने का कारण भी यही था। दूसरा दृष्टिकोण अलंकारों को काव्य के शरीर-भूत शब्द-अर्थ की शोभा के बहिरंग साधनों तक उसी तरह सीमित रखता है जिस तरह कामिनी की वेश-भूषा अथवा आभूषण को। हमारे विचार से अलंकार-सम्बन्धी दोनों दृष्टिकोणों में अतिवाद हुआ पड़ा है। सच्चाई तो यह है कि साधारणतः अलंकार 'अलंक्रियते अनेन' साधन-रूप वस्तु है। उससे पृथक् किसी अलकार्य वस्तु की सत्ता माने बिना अलंकार की अलंकारिता ही सिद्ध नहीं होती। काव्य में अलंकार्य वस्तु रस या भाव ही होता है, जिसकी अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ द्वारा हुआ करती है। इस तरह शब्द और अर्थ में रहते हुए भी अलंकारों का असली प्रयोजन रस अथवा भावना को उद्दीप्त करना और प्रेषणीय बनाना है। उनको कवि की प्रतिभा में, प्रतिभा के स्वच्छन्द विहरण में बाधक समझना अनुचित है। इसके विपरीत वे तो प्रतिभा की प्रगति में सहायक ही होते है। हृदय की अनुभूति अभिव्यक्त करने में जब कलाकार अपने-आपको असमर्थ पाता है, तब वह अलंकारों को ही अपनाता है। अलंकारों की निवार्यता पर जोर देने वाले आलोचकों को हम आगे बताएँगे कि किस तरह आधुनिक-कालीन छायावाद और रहस्यवाद का सारा काव्य-कलेवर ही अलंकार पर खड़ा हुआ रहता है। निस्सन्देह कुछेक अलंकार ऐसे हों भी, जिनसे कभी-कभी उक्त प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और जो रसानुभूति के अनुकूल नहीं बैठते, जैसे यमक, अनुप्रास आदि शब्दालंकार। यही बात उन अर्थालंकारों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, जिनमें कवि का ध्यान रस-निरपेक्ष होकर मस्तिष्क के प्रयास-साध्य व्यायाम-प्रदर्शन में रहता है। हिन्दी का रीति-युग इस बात का निदर्शन है। किन्तु अलंकारों का वास्तविक कार्य सहृदयों के हृत्तल को स्पर्श करके भावोद्दीपन एवं रसानुभूति में सहायता देना है, न कि बाधा पहुँचाना। रचना में कठिन दिखाई देने पर भी प्रतिभावान रस-सिद्ध कवि को अलंकार लाने के लिए कोई भी बाहरी पृथक् प्रयास नहीं करना पड़ता। वे तो उसके सामने आत्म-प्रकाशन के लिए होड़-सी लगाए रहते है और भावों की अभिव्यक्ति के अंग बन जाते हैं। रसाभिव्यक्ति के अंग-भूत बने अलंकारों का काव्य में स्थान क्या

कटक-कुण्डल आदि का-सा है, जैसा कि बहुत-से विद्वान् मानते हैं? आनन्दवर्धनाचार्य उन्हें उस जैसा बहिरंग नहीं मानते।[१] पं० रामदहिन मिश्र का भी यही मत है।[२] इस सम्बन्ध में क्रोचे के प्रश्नोत्तर भी उल्लेखनीय है—'कोई भी प्रश्न कर सकता है कि अलंकार का अभिव्यंजना के साथ किस तरह का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है ? क्या बहिरंग रूप से ? ऐसी अवस्था में वह सदा पृथक् ही रहेगा। क्या आन्तरिक रूप से ? ऐसी अवस्था में या तो वह अभिव्यक्ति का सहायक न होकर विघातक हो जायगा या उसीका अंग बन जायगा और अलंकार नही रहेगा, किन्तु अभिव्यक्ति का निर्मापक तत्त्व बनकर अंगी भाव अथवा समूहात्मक अनुभूति से अभिन्न हो जायगा।'[३] वास्तव में ध्वनिकार के अनुसार अलकार रस-भावपरक ही हुआ करते हैं[४] और उनका रस के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध रहता है। इसीलिए डॉ० राघवन के शब्दों में 'ऐसे अलंकार काव्य में बहिरंग नहीं समझे जा सकते और केवल कटक-केयूर की तरह पृथक् होने वाले आभूषणों से उनकी तुलना नही हो सकती। उनकी तुलना तो कामिनियों के उन अलंकारों से की जानी चाहिए, जिन्हें भरत ने सामान्याभिनय-प्रकरण में हाव-भाव आदि कहा है, कटक और केयूर से नहीं।'[५] कामिनियों के मनोगत अभिप्राय

१. अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति।...तस्मान्न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ।
—'ध्वन्यालोक', २।१६ वृत्ति।

२. 'काव्य-दर्पण', पृ० ४१९।

३. One can ask oneself how an ornament can be joined to expression ? Externally ? In this case it must always remain separate. Internally ? In this case either it does not assist expression and mars it or it does not form part of it and is not ornament but a constituent element of expression, indistinguishable from the whole —'Aesthetics', page 113.

४. रसभावादि-तात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्॥ 'ध्वन्यालोक, २।६।

५. Such figures can hardly be considered 'Bahiranga' in Kavya, and comparable to the 'kataka' and 'keyura' the removable ornaments. .....They should properly be compared to the Alankaras of damsels, which Bharat speaks of under Sāmānyabhinaya, Bhāva, Hāva etc. and not to the kataka and keyura.—N. S., XXII, K. M. Edn. Some Concepts of Alankar Shastra, Page 51.

को अभिव्यक्त करने वाले उनके स्वाभाविक हाव-भावों की तरह अलंकार ही पाठकों को कवि के हृदय की थाह का पता देते हैं। छायावाद और रहस्यवाद से यदि हम अन्योक्ति को हटा दें तो आत्म-विषयक अभिव्यक्ति भी स्वतः हट जायगी। इस तरह हमारे विचार से ऐसे 'अपृथक्-यत्न-निर्वर्त्य' अलंकार भाव की अभिव्यक्ति से पृथक्-सिद्ध कैसे हो सकते है? यदि इन्हें कटक-कुण्डल आदि की तरह ही मानने का आग्रह है, तो गुलाबराय के शब्दों में 'महात्मा कर्ण के कवच और कुण्डलों की भाँति सहज'[1] मान लें।

अलंकारों का भाव-व्यंजना में स्थान एवं प्रयोजनीयता बताकर हमें अब अन्योक्ति की अलंकारिता पर भी थोड़ा-सा विचार कर लेना चाहिए। भाव-व्यंजना से अधिकतर सम्बन्ध अर्थालंकारों का रहता है, जिनका अप्रस्तुत-विधान द्वारा अन्तिम पर्यवसान हमें अन्योक्ति में हुआ मिलता है। हम पीछे देख आए हैं कि अन्योक्ति अप्रस्तुत-योजना की परिनिष्ठा की अवस्था है, जिसमे मुक्ति में जीव-ब्रह्म की तरह प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ऐकात्म्य को प्राप्त हुए रहते हैं। यही कारण है कि जीव-ब्रह्म-विषयक एकरूपता-तथ्य की अनुभूति को अभिव्यक्ति देने के लिए कवियों को अन्योक्ति का ही आँचल पकड़ना पडता है। टैगोर की 'गीतांजलि', जायसी का 'पद्मावत' तथा प्रसाद की 'कामायनी' आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। साहित्य में ऐसी कविता का ही महत्त्व है। यह सत्य है कि यदि अन्योक्ति न होती, तो सारा-का-सारा अध्यात्म-जगत्, वाचाम्-अगोचर, रहस्यमय, अरूप-रूप परमार्थ तथा उसकी सूक्ष्म अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ आज तक काव्य-कला में अनभिव्यक्त ही पड़ी रहतीं। इसी तरह छायावादी कवि जिस विशाल अन्तर्जगत् को, अन्तर्जगत् की सूक्ष्म और गहरी अनुभूतियों को तथा उन अनुभूतियों की विविध छायाओं को, काव्य-पटल पर उतारने में सफल हुआ है, उसका अधिकतर श्रेय रूपक और अन्योक्ति को ही है। लक्षणा की वक्रिमा को अपने भीतर रखकर अभिव्यंजना की जितनी मार्मिकता इन अलंकारों में रहती है, उतनी शायद ही अन्यत्र हो। छायावाद के लाक्षणिक और व्यंजनात्मक वैचित्र्य के लिए पृष्ठभूमि अन्योक्ति की ही तो बनाई हुई रहती है। कुछ समीक्षक अन्योक्ति का भाव-व्यजना अथवा रसानुभूति में योग न मानकर उसको वस्तु-ध्वनि और सिद्धान्त-प्रतिपादन तक सीमित रखते हैं, किन्तु उनके इस विचार को हम एकदेशी कहेंगे। अन्योक्ति में किस तरह रस की अभिव्यक्ति होती है, यह हम उदाहरण देकर पीछे स्पष्ट कर आए हैं, किन्तु

अन्योक्ति की अलंकारिता

१. **'सिद्धान्त और अध्ययन', पृ० ३५।**

ध्यान रहे कि रस को काव्यात्मा कहते हुए संस्कृत के साहित्य-शास्त्रियों ने रस शब्द को व्यापक अर्थ में लिया है, संकुचित रूढ अर्थ में नहीं। इसलिए इसके भीतर अनुभूतियोग्य रस, भाव आदि काव्य की सभी आन्तरिक वृत्तियाँ आ जाती हैं। हाँ, कुछ अन्योक्तियाँ अवश्य ऐसी भी होती है, जिनमें प्रयोक्ता का अभिप्राय प्रस्तुत वस्तु को छिपाकर दुरूह प्रतीकों द्वारा ही अभिव्यक्त करना होता है। उनमें कोई हृदय की अनुभूति अथवा रागात्मक सम्बन्ध नहीं रहता, केवल बुद्धि का चमत्कार रहता है। ऐसी अन्योक्तियों को हम पहेली-वर्ग के भीतर रखेंगे। संस्कृत का 'विदग्ध-मुख-मंडन', हिन्दी का साधनात्मक रहस्यवाद एवं सन्त-कवियों की उलटबासियाँ इसी जाति की अन्योक्तियाँ कहलाएँगी। संस्कृत तथा बौद्ध-साहित्य के तान्त्रिक प्रतीकवाद का भी यही रूप समझिए। प्रतीकों द्वारा किसी वस्तु के व्यंग्य बना देने मात्र से काव्य का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। व्यंग्य को सदा सौंदर्यपूर्ण और अनुभूति-प्रधान होना चाहिए। तभी वह ध्वनि-कोटि में आएगा, जो काव्य का प्रमुख तत्त्व कहलाती है। इसलिए अन्योक्ति की अप्रस्तुत योजना ऐसी होनी चाहिए, जिससे रस-दीप्ति हो और वह पाठकों को आनन्द-विभोर कर दे। अन्योक्ति की अलंकारिता इसी में है। केवल अलंकार के लिए अलंकार का प्रयोग काव्य में कोई महत्त्व नहीं रखता और न वह कवियों को अच्छा लगता है।[1]

वेदों में अन्योक्ति

हिन्दी-साहित्य अपने संविधान एवं मूल-प्रणुदनों के लिए संस्कृत पर आधारित है, इसमें सन्देह की बात नहीं। संस्कृत के आदि-ग्रन्थ वेद हैं, जिनके सम्बन्ध में अधिकतर भारतीयों की यही धारणा है कि वे अपौरुषेय अथवा ईश्वरीय हैं। तदनुसार उनका सम्पूर्ण विद्याओं—ज्ञान, विज्ञान और कला आदि—का मूल उद्गम ठहरना स्वाभाविक है। इस आधार पर मानव-जाति के कल्याण के लिए भावों का परस्पर आदान-प्रदान तथा व्यवहार की साधन-रूप भाषा भी एक ईश्वरीय कृपा समझिए। सम्भवतः इसी कारण से भाषा एवं भावों के परिष्कारक अलंकार-तत्त्व को ईश्वरीय देन मानते हुए राजशेखर ने काव्य-शास्त्र को ईश्वर-प्रणीत कहा है।[2] वेद ईश्वरीय कविता है। अतएव संसार के आदि-

१. **रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।**
अलंकारनिबन्धो यः स कविभ्यो न रोचते।
—भोज, 'सरस्वती-कण्ठाभरण', ५।१७५।

२. **काव्यं मीमांसिष्यामहे यथोपदिदेश श्रीकंठः (ईशः) परमेष्ठि-वैकुण्ठादिभ्यश्चतुःषष्ठये शिष्येभ्यः। सोऽपि भगवान् स्वयंभूरिच्छाजन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः। —'काव्य-मीमांसा', प्र० अध्याय।**

काव्य वेदों मे हमें उपमा, रूपक, समासोक्ति और अन्य अलंकार अथवा अन्य काव्यांग सभी के दर्शन होते हैं। जहाँ तक अन्योक्ति का सम्बन्ध है, वह भी अपने सभी रूपों मे वेदों में पर्याप्त मिलती है। आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक अथवा पहेली-पद्धति का श्रीगणेश हमें वेदों में ही हुआ मिलता है। उदाहरण के लिए आत्मा और परमात्मा का परस्पर भेद प्रकट करता हुआ 'ऋग्वेद' का यह प्रकृति-चित्र देखिए :

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।[1] (१।१६४।२०।)

यहाँ श्लेष द्वारा दो सुपर्णों—विहगों—के प्रतीक में जीव और परमात्मा विवक्षित हैं। विहगों की तरह वे भी सुपर्ण हैं, सुपतनशील शरीर में रहते हैं, सयुज—समान योग वाले—हैं। योग सम्बन्ध को कहते है। जीवात्मा से माया का सम्बन्ध प्रसिद्ध ही है। परमात्मा का अपना ही रूप जीवात्मा है। इस तरह दोनों का अभेद-सम्बन्ध है। दोनों सखा समान ख्यान (नाम) वाले है। आत्मा दोनों का समान नाम है। 'ख्यान' से यहाँ सायण के अनुसार ज्ञान अर्थ भी लिया जा सकता है, क्योंकि परमात्मा और जीवात्मा दोनों ज्ञान अथवा चिद्रूप हैं। औपाधिक भेद के कारण ही द्वैत-बुद्धि बनती है। दोनों एक ही वृक्ष—संसार—में रहते हैं। संसार को वृक्ष इसलिए कहते हैं कि वह वृश्च्यते 'विनश्यति' अर्थात् नाशवान है। इन दोनों में एक जीवात्मा तो फलों—कर्म-फलों—को भोगता है, किन्तु दूसरा परमात्मा कोई फल नहीं खाता, क्योंकि वह तो आप्तकाम है, साक्षी-मात्र बनकर संसार को देखता रहता है। इस तरह विहगों की अन्योक्ति द्वारा यहाँ आध्यात्मिक रहस्य की विवेचना की गई है। प्रसिद्ध छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पन्त ने उपर्युक्त वैदिक अन्योक्ति को 'द्वा सुपर्णा' शीर्षक देकर यों लिखा और खोल भी दिया :

दो पक्षी हैं, सहज सखा, संयुक्त निरन्तर,
दोनों ही बैठे अनादि से उसी वृक्ष पर।

---

१. हिन्दी रूपान्तर :

दो विहगों का एक रूप, एक नाम
एक वृक्ष पर दोनों का नित निवास।
एक चाखता रहता मधुर फलों को,
अन्य देखता रहता बैठा पास।

एक ले रहा पिप्पल फल का स्वाद प्रतिक्षण,
बिना अशन, दूसरा देखता अन्तर्लोचन !
दो सुहृदों से मर्त्य अमर्त्य सयोनिज होकर
भोगेच्छा से ग्रसित भटकते नीचे ऊपर ।
सदा साथ रह, लोक लोक में करते विचरण,
ज्ञात मर्त्य सबको, अमर्त्य अज्ञात चिरन्तन ।
कहीं नहीं क्या पक्षी ? जो चखता जीवन फल,
विश्व-वृक्ष पर नीड़, देखता भी है निश्चल !
परम अहम् औ' द्रष्टा भोक्ता जिसमें सँग-सँग,
पंखों में बहिरन्तर के सब रजत स्वर्ण रँग !
ऐसा पक्षी, जिसमें हो सम्पूर्ण सन्तुलन,
मानव बन सकता है, निर्मित कर तरु जीवन !
मानवीय संस्कृति रच भू पर शाश्वत शोभन,
बहिरन्तर जीवन विकास की जीवित दर्पण !
भीतर बाहर एक सत्य के रे सुपर्ण द्वय,
जीवन सफल उड़ान, पक्ष सन्तुलन जो विजय ![1]

विहग और वृक्ष के प्रतीकों में वेदगत इन सूक्ष्म आध्यात्मिक अभि-व्यक्तियों ने हिन्दी-अन्योक्ति-साहित्य को बड़ा प्रभावित कर रखा है । उदाहरण के रूप में दीनदयाल गिरि की विरोधाभासात्मक अन्योक्ति लीजिए :

देखो पथी उघारिकै नीके नैन विवेक ।
अचरजमय इहि बाग में राजत है तरु एक ॥
राजत है तरु एक मूल ऊरध अध साखा ।
द्वै खग तहाँ, अचाह एक, इक बहु फल चाखा ॥
बरनै दीनदयाल खाय सो निबल विसेखो ।
जो न खाय सो पीन रहै अति अदभुत देखो ॥[2]

इसी प्रकार कबीर का भी 'तरवर'-चित्र देखें :

तरवर एक अनन्त मूरति, सुरता लेहु पिछांणीं ।
साखा पेड़ फूल फल नाहीं, ताकी अमृत बांणीं ॥
पुहप बास भवरा एक राता, बारा ले उर धरिया ।
सोलह मझैं पवन झकोरै, आकासे फल फलिया ॥

---

१. 'स्वर्ण-किरण', पृ० ६४ ।
२. 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम', ४।१६ ।

सहज समाधि बिरष यहु सींच्या, धरती जल हर सोष्या,
कहै कबीर तास मैं चेला, जिनि यहु तरवर पोष्या ।।[1]

सांख्य के अनुसार अज और अजा के प्रतीकों में प्रकृति-पुरुष की भी एक श्लिष्ट अन्योक्ति लीजिए :

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।।[2]

बकरा और बकरे का यह सारा वर्णन प्रतीकात्मक है । अजा (बकरी) से यहाँ प्रकृति विवक्षित है । 'न जायते इति अजा' इस व्युत्पत्ति के आधार पर अनादि होने से प्रकृति अजा है । बकरी के तीन रंग—लाल, श्वेत और काला—से प्रकृति के रज, सत और तम ये तीन गुण अभिप्रेत है, क्योंकि प्रकृति को त्रिगुणात्मक माना गया है ।[3] अज (बकरे) से यहाँ बद्ध पुरुष अथवा जीवात्मा की ओर संकेत है, क्योंकि वह अजन्मा है और संसार के माया-मोह में फँसा हुआ है । जीवात्मा द्वारा उपभुक्त प्रकृति ही पुष्कल उत्पत्ति—अपनी कार्य जगत्—करती जाती है । इस तरह अप्रस्तुत बकरी-बकरा तथा उनकी प्रजा से यहाँ प्रकृति, पुरुष एवं संसार का बोध होता है । भुक्त-भोगी अन्य अज से यहाँ मुक्त आत्मा विवक्षित है । वेदों में केवल आध्यात्मिक अन्योक्तियाँ ही हों, ऐसी बात नहीं । पहेली के रूप में एक अन्य प्रकार की अन्योक्ति भी देखिए :

चत्वारि शृंगास्त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।

---

१. 'कबीर ग्रन्थावली', पृ० १४३ । चतुर्थ सं०, २००८ वि० ।

२. 'श्वेताश्वतरोपनिषद्', ४।५ ।

हिन्दी रूपान्तर :

लाल-श्वेत-काली एक अजा को,
जो करती एक-रूप बहु प्रजनन,
छोड़ देता अज एक भोगकर,
दूसरा करता उसका अनुगमन ।

३. सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, 'सांख्य दर्शन' ।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥[1] (ऋग्वेद, ४।५८।३)

उलटबासियों जैसा यह बैल का वर्णन प्रतीकात्मक है। वेदभाष्यकार सायणाचार्य के अनुसार वृषभ से यहाँ 'वर्षतीति वृषभः' इस व्युत्पत्ति द्वारा फलों का देने वाला यज्ञ अभिप्रेत है, जो मनुष्यों के लिए परमात्मा ने कर्तव्य के रूप मे भेजा है। इस यज्ञ के चार सींग है—चार ऋत्विक्—होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा। प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और सायं सवन इसके तीन पैर—अग— हैं। गायत्री आदि सात छन्द—हाथ—है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ये तीन इसके बन्धन है, क्योंकि यज्ञ-कर्म इन तीनों वेदों की व्यवस्था के ही आधार पर सम्पन्न होता है। स्तोत्र और शास्त्र-पाठ से यह खूब मुखरित है। यह देवता है।[2] इस तरह यहाँ अप्रस्तुत बैल से प्रस्तुत यज्ञ का बोध होता है। पतञ्जलि मुनि के अनुसार उक्त मन्त्र में प्रस्तुत वाक् है।[3] चार सींगों से अभिप्रेत चार प्रकार के शब्द हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ; तीन पैर है—भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल ; दो सिर है—सुप् और तिङ् प्रत्यय ; सात हाथ है—सात विभक्तियाँ ; और तीन बाँधने के स्थान हैं—हृदय, कण्ठ और मुख। कुछ[4] विद्वान् इस अन्योक्ति को अध्यात्म-पक्ष की ओर ही लगाते है। अध्यात्मज्ञान वृषभ है। सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप होने के कारण वह त्रिधाबद्ध है। साधन-चतुष्टय उसके चार सींग हैं। श्रवण, मनन और निदिध्यासन उसके तीन पैर हैं। जीवन और मोक्ष उसके दो सिर हैं। चिदनुभूति की अविद्या, आवरण, विक्षेप, परोक्ष ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान, शोकापगम और तृप्ति, ये सात अवस्थाएँ सात हाथ हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अहं धन्योऽस्मि' ऐसी उच्चारण-ध्वनियाँ उसका रव हैं। कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने भी वैदिक वृषभ वाली इस अन्योक्ति को अपनी 'ज्योति वृषभ' शीर्षक कविता में यों अध्यात्मपरक ही खोला है :

१. हिन्दी रूपान्तर, :

चार सींग हैं, तीन पैर, दो सिर, सात हाथ,
तीन तरह से बँधा हुआ है दृढ़ शृंखल में।
महाकार वृषभ देवता हंभा रव भरता,
करने जन मंगल आया है मर्त्य-लोक में।

२. 'विष्णुर्वै यज्ञः', 'निरुक्त' दुर्गाचार्य-भाष्य, पृ० ३४६।

३. 'महाभाष्य', १।१।

४. डॉ० गोविन्दशरण त्रिगुणायत : 'कबीर और जायसी का रहस्यवाद', भूमिका, पृ० १५।

स्वर्ण शिखर-से चतुर्भृंग हैं उसके शिर पर,
दो उसके शुभ शीर्ष : सप्त रे ज्योति हस्त वर !
तीन पाद पर खड़ा, मर्त्य इस जग में आकर
त्रिधा बद्ध वह वृषभ, रँभाता है दिग्ध्वनि भर !
महादेव वह : सत्य : पुरुष औ' प्रकृति शीर्ष द्वय,
चतुर्भृंग सच्चिदानन्द विज्ञान ज्योतिमय !
सप्त चेतना-लोक, हस्त उसके निःसंशय,
महादेव वह : सत्य : ज्योति का वृषभ वह निश्चय !
सत् रज तम से त्रिधा बद्ध पद अन्न प्राण मन,
मर्त्य लोक में कर प्रवेश वह करता रेभण ।
महादेव वह : सत्य : मुक्ति के लिए अनामय
फिर फिर हंभा रव करता : जय, ज्योति वृषभ जय ![1]

इसी तरह संसार की भी चक्र, नदी आदि के रूप में कितनी ही अन्योक्तियाँ उपनिषदों[2] में भरी पड़ी हैं। किन्तु ध्यान रहे कि वे अन्योक्तियाँ यहाँ अपने रूपकातिशयोक्ति रूप में हैं।

लौकिक संस्कृत में अन्योक्ति

लौकिक संस्कृत-साहित्य में आदि-कवि वाल्मीकि द्वारा प्रणीत रामायण, एवं व्यास-रचित महाभारत तथा अष्टादश पुराण-महाकाव्यों (Epics) का प्रमुख स्थान है। इनके रचयिताओं ने इनमें यत्र-तत्र बहुत-सी अन्योक्तियाँ मुक्तक के रूप में दे रखी हैं। वाल्मीकि एक प्रकृति-कवि थे, इसलिए आधुनिक छायावाद की तरह प्रकृति के मानवीकरण के चित्र हमें रामायण में बहुत मिलते हैं। वहाँ हम गंगा को 'फेन-निर्मल-हासिनी'—फेन के रूप में अपना निर्मल हास प्रकट करती हुई—पाते हैं और संध्या का चित्र निम्न रूप में देखते हैं :

चञ्चच्चन्द्र-कर-स्पर्श-हर्षोन्मीलित-तारिका ।
अहो ! रागवती सन्ध्या जहातु स्वयमम्बरम् ॥[3]

यह श्लेष-गर्भित समासोक्ति है। कर का अर्थ किरण और हाथ, तारिका का अर्थ आँख की पुतलियाँ और तारे, राग का अर्थ लाली और प्रणय एवं अम्बर का अर्थ वसन (साड़ी) और आकाश है। यहाँ वाच्य अर्थ निम्न है—थिरकती हुई

१. 'स्वर्णधूलि', पृ० २, सं० १९५८ ।
२. 'श्वेताश्वतरोपनिषद्', १।४-५ ।
३. 'किष्किन्धा काण्ड', सर्ग ३०, श्लो० ४५ ।

चन्द्रमा की किरणें सर्वत्र दिखाई देने लगीं, साथ ही तारे भी टिमटिमाने लगे, अब तो लाली लिये हुए सन्ध्या (साँझ) को आकाश छोड़ना ही पड़ेगा। इस प्राकृतिक घटना के पीछे विलास-मग्न प्रियतम के हाथ के स्पर्श को प्राप्त करके आँखों में आनन्द की मस्ती लिये हुए किसी प्रणयिनी का स्वयमेव 'विगलित-वसना' होना इस मानवीय प्रतिबिम्ब की कितनी सरस और मार्मिक अभिव्यंजना है ! हिन्दी का साधारण छायावादी कवि इस श्लोक के अनुसार अमूर्त्त सन्ध्या को चेतनता प्रदान करके उसका चित्र यों रखता :

> **विलसमान शशि के कर का मृदु स्पर्श,**
> **ताराएँ उन्मीलित, हृद् अपार हर्ष।**
> **क्यों अनुराग-भरी सन्ध्या यह सत्वर**
> **छोड़ेगी अब अपने-आप न अम्बर !** (अनुवाद)

इसी तरह नदी, भ्रमर आदि के वर्णनों में भी वाल्मीकि ने प्रकृति को मानवी रूप दे रखा है।[1] सुन्दर काण्ड में हम लंका का भी मानवीकरण पाते हैं।[2] इस तरह हमको आदि-महाकाव्य रामायण में समासोक्ति-रूप में अन्योक्ति के दर्शन हो जाते हैं। महाभारत में भी अन्योक्तियों की कमी नहीं। वेदों और उपनिषदों में मुक्तक के रूप से जिस अश्वत्थ वृक्ष की अन्योक्ति आई है, वह महाभारत के ही अंशभूत गीता के पन्द्रहवें अध्याय में इस प्रकार उल्लिखित है :

> **ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।**
> **छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥**[3]

इस वृक्ष को ऐसा कहते हैं कि इसकी जड़ें तो ऊपर गई हुई हैं, किन्तु शाखाएँ नीचे हैं, पत्तों से यह खूब ढका हुआ है, यह अव्यय—अविनाशी—है। इसे जानने वाला ही सच्चा वेदवेत्ता—ज्ञानी—है। यह 'अश्वत्थ' वृक्ष का वर्णन कबीर की उलटबासियों की तरह पहेली है। यहाँ मूल, अश्वत्थ और छन्द शब्दों में श्लेष है, जैसा कि अन्योक्तियों में हुआ करता है। मूल का एक ओर अर्थ जड़ है और दूसरी ओर कारण। अश्वत्थ एक जाति का वृक्ष (पीपल) होता है।

१. 'किष्किन्धा काण्ड', सर्ग ३०, श्लो० ४६, ५८।

२. सर्ग २, श्लो० १८, २०, ५०।

३. हिन्दी-रूपान्तर :

> **'अश्वत्थ' एक अविनाशी हैं कहते,**
> **शाखा नीचे, मूल ऊर्ध्व है जाता।**
> **'छन्दस्' उस तरु के होते हैं पत्ते**
> **जो जाने, वही वेद का विज्ञाता॥**

इसका दूसरा अर्थ है श्वः तिष्ठति इति श्वत्थः न श्वत्थः अश्वत्थः—आगामी कल तक न टिकने वाला अर्थात् अस्थायी, विनश्वर। इसी तरह छन्द कहते हैं 'छादयतीति छन्दः'—ढकने वाले को और वेद को। इस प्रकार अप्रस्तुत अश्वत्थ वृक्ष से प्रस्तुत संसार विवक्षित है। यूरोप की पुरानी भाषाओं में भी इसका नाम 'विश्व-वृक्ष' या 'जगत्-वृक्ष' है। तिलक के शब्दों में 'यह रूपक न केवल वैदिक धर्म में ही है, प्रत्युत अन्य प्राचीन धर्मों में भी पाया जाता है।'[1] संसार का एकमात्र मूल कारण ईश्वर है, जो ऊपर नित्यधाम में है। उसकी अनन्त शाखाएँ—प्रसार—नीचे अर्थात् मनुष्य-लोक में हैं। वह अव्यय—कभी नाश न होने वाला—है। यद्यपि 'अश्वत्थ' शब्द से उसकी विनश्वरता व्यक्त होती है, तथापि वह विनश्वरता सांसारिक पदार्थों में व्यक्तिगत ही समझनी चाहिए। समष्टि से तो यह विश्व धारावाहिक रूप में अनादि काल से चला ही आ रहा है और इसी तरह आगे भी चलता रहेगा। प्रवाह-नित्यता के कारण ही इसे सदा रहने वाला अविनाशी कहा है। वेद—विधि-शास्त्र—इसके पत्ते हैं और यह इसलिए कि वेदों में उल्लिखित अपने कर्त्तव्य कर्मों के सम्यक् अनुष्ठान द्वारा ही मानव समाज की रक्षा और वृद्धि कर सकता है। अधर्म से संसार में अव्यवस्था फैल जाती है और उसका सन्तुलन भंग हो जाता है। 'धारणाद् धर्म इत्याहुः' का अभिप्राय भी यही है। इस श्लोक के आगे के दो-तीन श्लोकों में इस विश्व-वृक्ष का स्वयं गीताकार ने और विस्तार किया,[2] किन्तु अप्रस्तुत की तरह प्रस्तुत को भी वहाँ वाच्य बना देने से वह अन्योक्ति का विषय न रहकर शुद्ध रूपक बन जाता है। हिन्दी के सन्त कवियों ने गीता की इसी अन्योक्ति के आधार पर आंशिक रूप में अपनी नाना उलटबासियाँ बनाई हैं :

तलि करि साखा उपरि करि मूल,
बहुत भाँति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद को बूझै,
ताकूँ तीन्यूँ त्रिभुवन सूझै॥ (कबीर)

१. 'गीता-रहस्य', पृ० ८००, सं० १९७३।

२. अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखाः गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥२॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढ़मूलमसंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा॥३॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम् यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥४॥ [अध्याय १५]

दरखत एक है उल्टा।
कभी होवे नहीं सुल्टा॥
अगर वह पेड़ अड़बड़ का।
तले डाली अधर जड़ का॥ (तुलसी साहब)

परवर्ती संस्कृत-साहित्य में कालिदास का विशेष स्थान है, जिन्हें आज विश्व-कवि पुकारा जाता है। खण्ड-काव्य, महाकाव्य और नाटक, उनकी सभी रचनाओं में अन्योक्तियाँ बिखरी पडी है। कालिदास के चूडान्त नैपुण्य वाली कृति 'शकुन्तला' नाटक को ही लीजिए। इसकी 'या सृष्टिःस्रष्टुराद्या' यह प्रारम्भिक मंगल-गीतिका ही अन्योक्ति है।[1] इसमें आठ मूर्तियों से युक्त ईश (शिव) से रक्षा की मंगल-कामना करता हुआ नाटककार व्यंग्य-रूप में नाटक की सारी कथावस्तु पर भी हल्का-सा प्रकाश डाल देता है जैसा कि कुशल कलाकार किया ही करते हैं। ईश का संकेत नाटक के नायक राजा दुष्यन्त की ओर है। उसके आगे भी जीवन की घटना आठ रूपों में आती है—सौन्दर्य की आदि-सृष्टि, (शकुन्तला) से साक्षात्कार, उसका विधिवत् (काम)यज्ञ की हवि (गर्भ) का धारण तथा होत्रीत्व (तपोमय जीवन), साथ में दो सखियों का होना जो शाप-काल को जानती हैं, सौन्दर्य में शकुन्तला की विश्व-भर में ख्याति, उसका भारतीयों के बीज-रूप भरत की माँ बनना और अन्त में पति के साथ राजधानी में वापस आकर सारी दुःखी प्रजा को 'प्राणवन्त' (आनन्दित) कर देना। इसमें जिस तरह मंगल-गान प्रस्तुत है, उसी तरह नाटक के कथानक की भी व्यंजना प्रस्तुत है। इसीलिए अन्योक्ति का यह प्रस्तुतांकुर रूप है। कवि की आगे भी प्रतीक-योजना देखिए। नाटक प्रारम्भ होने पर मृग पर बाण मारने को उद्यत हुए दुष्यन्त को जब वैखानस कहता है—'यह आश्रम का मृग है, इसे न मारो', तब उसमें प्रो० मेंहदले के अनुसार, 'मानो कालिदास यह अन्योक्ति से कहना चाहता है कि शकुन्तला आश्रम-कन्या है, तू उससे अस्थिर प्रणय का प्राणलेवा खेल मत खेल!'[2] इसी तरह भ्रमर-बाधा में कवि ने राजा के लिए भ्रमर का प्रतीक अपनाया है। विदूषक कितनी ही बार राजा को भ्रमर-जैसा कहता ही रहता है। स्वयं राजा ने ही अपनी तुलना भ्रमर से की है। पाँचवें अंक में रानी हंसपदिका मधुकर के

१. या सृष्टिः स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः, श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति, यया प्राणिनः प्राणवन्तः,
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥ १।१॥

२. प्रभाकर माचवे, 'व्यक्ति और वाङ्मय', पृ० २०।

प्रतीक में राजा को यों उपालम्भ देती है :

अभिनवमधुलोलुपो भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूतमंजरीम् ।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर ! विस्मृतोऽस्येनां कथम् ? ।८।[1]

यहाँ रसाल-मंजरी शकुन्तला का प्रतीक है और कमल रानी का । तपोवन में शकुन्तला का नव-यौवन भोगकर बाद को राजधानी में रानी के सहवास-मात्र से सन्तुष्ट हुए राजा को सहसा शकुन्तला को भुला देने का उलाहना दिया जा रहा है ।

कालिदास के समान अन्य संस्कृत-कवियों की रचनाओं में भी अन्योक्ति का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ मिलता है । कुमारी प्रतिभा दलपतिराय त्रिवेदी द्वारा सम्पादित 'अन्योक्त्यष्टक-संग्रह' में विभिन्न-कवि-रचित १७ अन्योक्त्यष्टकों का संकलन किया हुआ है । हंसविजय गणी (१६७६ ई०) की 'अन्योक्ति-मुक्तावली' में १२ अन्योक्त्यष्टक हैं, जो ग्रन्थकार की स्वतन्त्र रचनाएँ है । भट्ट भल्लट के 'अन्योपदेश-शतक' तथा नीलकण्ठ दीक्षित आदि के 'अन्यापदेश' प्रसिद्ध ही हैं । परवर्ती अन्योक्तिकारों में पण्डितराज जगन्नाथ का नाम परम प्रसिद्ध है, जिनका 'भामिनी-विलास' संस्कृत में आज अन्योक्ति-साहित्य की सर्वोत्कृष्ट रचना है । उसके भी एक-दो उदाहरण देखिए :

पुरा सरसि मानसे विकच-सारसालि-स्खलत्-
पराग-सुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः ।
स पल्वल-जलेऽधुना मिलदनेक-भेकाकुले,
मराल-कुल-नायकः कथय रे ! कथं वर्तताम् ।।[2]

यहाँ हंस के प्रतीक में पहले उच्च, समृद्ध जीवन व्यतीत करने वाले पुरुष के

१. **हिन्दी-रूपान्तर :**

नवमकरंद-लोभ में अन्धे,
चूम रसाल-मंजरी वैसे ।
कमल-वास में ही रत मधुकर,
भूल गया अब उसको कैसे ?

२. **'भामिनीविलास', प्रा० वि० २ ।**

हिन्दी रूपान्तर :

विकच-कमलवन-पराग-चय से नित सुरभित,
मानस के जल में जिसके दिन हैं बीते ।
वह मरालपति अब रे क्यों रह सकता है
पोखर में, जहाँ भेक-कुल कर्दम पीते ?

लिए बाद को निम्नस्तरीय जीवन बिताना कितना कठिन होता है, यह बात बताई गई है। तुलना के लिए, प्राय: इसी भाव को लेकर रीतियुगीन मतिराम कबि की हिन्दी अन्योक्ति भी देखिए :

अब तेरौ बसिबौ इहाँ, नाहिन उचित मराल।
सकल सूखि पानिप गयौ, भयौ पंकमय ताल ।।[1]

इसी तरह समृद्धि की अवस्था में सदा घेरे रहने वाले स्वार्थी मित्रों की मधुर-मधुर चाटु-उक्तियों में आत्म-विभोर हुआ व्यक्ति किस तरह अपने असली मित्रों को भी भूल जाता है, इस अर्थ की व्यंजना मे पण्डितराज की निम्नलिखित अन्योक्ति भी देखिए :

अयि दलदरविन्द ! स्यन्दमानं मरन्दं,
तव किमपि लिहन्तो मंजु गुञ्जन्तु भृङ्गाः।
दिशि-दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्,
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः।[2]

तुलना के लिए अरविन्द, भृङ्ग और समीरण के मध्य उपर्युक्त परस्पर-सम्बन्ध के ठीक विपरीत हिन्दी के रीतियुगीन प्रसिद्ध अन्योक्तिकार दीनदयाल गिरि की भी अन्योक्ति देखें :

दीने ही चोरत अहो ! इन सम चोर न और।
इन समीर तें कंज ! तुम सजग रहो या ठौर ।।
सजग रहो या ठौर भौंर रखिए रखवारे।
नातो परिमल लूटि लेहिंगे सबै तिहारे ।।
बरनै दीनदयाल रहो हो मित्र अधीने।
भली करत हो रैन कपाट रहत हो दीने ।।[3]

मित्र शब्द यहाँ श्लिष्ट है, जो सूर्य और सुहृद् दोनों ओर लगता है।

संस्कृत-साहित्य की तरह प्राकृत-साहित्य भी अन्योक्ति-तत्त्व से खूब भरा

१. 'मतिराम-सतसई', 'सतसई-सप्तक', १२६।

२. 'भामिनीविलास', प्रा० वि० ३।

हिन्दी-रूपान्तर :

तुझसे झरता मकरन्द पान करके,
अरविन्द ! भृङ्ग मीठा क्यों नहीं बोले ?
सच्चा बन्धु समीरण ही यह जानो,
तव परिमल फैलाता दिग्-दिग् डोले ।।

३. 'अन्योक्ति कल्पद्रुम', १।४७।

हुआ है। प्राकृत का मुक्तक-साहित्य अन्योक्तियों के कारण ही विशेष सरस एवं ख्याति-प्राप्त हुआ है। 'गाथा-सप्तशती' प्राकृत-काव्य का प्राचीन प्रसिद्ध ग्रन्थ है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से भी यह अपने वर्ग की रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसी के आधार पर गोवर्धनाचार्य ने संस्कृत में अपनी 'आर्या सप्तशती' की रचना की है। हिन्दी के सतसईकार भी 'गाथा-सप्तशती' के पर्याप्त ऋणी हैं। बिहारी की 'नहिं पराग, नहिं मधुर मधु' वाली प्रसिद्ध अन्योक्ति, जिसने महाराज जयसिंह के जीवन की काया ही पलट दी थी, गाथा-सप्तशती की निम्नलिखित अन्योक्ति की छाया-मात्र है :

प्राकृत में अन्योक्ति

जाव ण कोस-विकासं पावइ ईसीस मालई-कलिआ।
मअरन्द-पाण-लोहिल्ल भमर ! ताविच्चअ मलेसि ॥[1]

बिहारी ने 'आगे कौन हवाल' कहकर भावना को अवश्य तीव्रतर कर दिया है, किन्तु बाकी बातें स्पष्टतः 'गाथा-सप्तशती' की ही हैं। इसी तरह कितने ही संस्कृत-कवियों ने भी इसकी छाया लेकर विविध अन्योक्तियाँ रची हैं। उदाहरणार्थ श्रीमती विकटनितम्बा की निम्नलिखित अन्योक्ति देखिए :

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग !
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले,
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥[2]

यहाँ कवियित्री ने 'रज' शब्द में श्लेष रखकर जहाँ अधिक चमत्कार उत्पन्न किया है, वहाँ 'मुग्धा' शब्द का प्रयोग करके विषय को विस्तृत एवं स्पष्ट भी कर दिया

१. 'गाथा-सप्तशती', ५।४४।

हिन्दी-रूपान्तर :

मालती-कली में थोड़ा भी जब तक,
कोस-विकास न होने में आता है।
मकरन्दपान-लोभी मधुकर, तब ही,
क्यों इसको तू व्यर्थ मसल देता है ॥

२. हिन्दी-रूपान्तर :

मधुकर ! तेरा भार वहन करने में समर्थ,
सुमन-लताओं में तुम चंचल मन बहलाओ।
पर भोली-भाली, रज-रहित चमेली की इस
कलिका को रे ! यों ही तुम असमय न सताओ ॥

है । प्राकृत की एक-दो अन्योक्तियाँ और भी लीजिए :

केसर रअ विच्छड्डे मअरन्दो होइ जेन्तिओ कमले ।
भ्रमर ! तेन्तिओ अण्णहिंपि ता सोहसि भमन्तो ।।[१]

इसमें पतिव्रता पत्नी को छोड़कर अन्यासक्त किसी ऐसे खल नायक की ओर संकेत है, जिसे मनुष्य की पहचान नहीं। इसी तरह अशिक्षित पारखियों के पल्ले पड़े हुए मरकत को प्रतीक बनाकर मूर्ख-मण्डली में फँसकर दिन-दिन क्षीण होते हुए किसी गुणी पुरुष को लक्ष्य करके कहा जाता है :

दुस्सिक्खिअ-रअण-परिक्खएहिं घिट्टोसि पत्थरे तावा ।
जा तिलमेत्तं वट्टसि मरगअ ! का तुज्झ मुल्ल कथा ।।[२]

इसी भाव को लेकर रीतियुगीन अन्योक्तिकार दीनदयाल गिरि तथा गिरिधर 'कविराय' की तुलनात्मक रूप में ये अन्योक्तियाँ भी देखिए :

मरकत पामर कर परी तजि निज गुन अभिमान ।
इतै न कोऊ जौहरी ह्याँ सब बसैं अजान ।।
ह्याँ सब बसैं अजान काँच तो को ठहरावैं ।
तदपि कुसल तू मान जदपि यहि मोल बिकावैं ।।
बरनै दीनदयाल प्रवीन ह्वै लखि दरकत ।
अहो करम गति गूढ़ परी कर पामर मरकत ।।[३]

× × ×

हीरा अपनी खानि को बार-बार पछिताय ।
गुण कीमत जाने नहीं तहाँ बिकानो आय ।।

---

१. 'गाथा-सप्तशती', ४।८७ ।
हिन्दी-रूपान्तर :

केसररज-समूह में संभृत
जितना है कमल में मकरंद ।
उतना अन्य किसी में यदि तो
घूम खुशी से मधुकर ! स्वच्छन्द ।

२. हिन्दी रूपान्तर :

अकुशल रत्नपरीक्षक तुझको यों ही
पत्थर पर घिसते-घिसते जायेंगे ।
तिलमात्र शेष रह जायगा मरकत !
फिर तो शून्य मूल्य तेरा आँकेंगे ।

३. 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम', २।३ ।

तहाँ बिकानो आय छेद करि कटि में बाँध्यो।
बिन हरदी बिन लौन माँस ज्यों फूहर राँध्यो ॥
कह गिरिधर कविराय कहाँ लगि धरिये धीरा।
गुण कीमत घटि गई यहै कहि रोयो हीरा ॥[1]

प्राकृत संस्कृत से अनुबन्धित भाषा है, किन्तु अपभ्रंश संस्कृत से मुक्त सर्वथा एक दूसरी ही भाषा है, जिसका विकास प्राकृतों से हुआ। राहुल सांकृत्यायन इसे आदि-हिन्दी कहते हैं। यह अपने समय में (द्राविड़-क्षेत्रों को छोड़कर) सम्पूर्ण भारत-वर्ष की राष्ट्रभाषा बनी रही। मूलतः सार्वदेशिक रूप रखती हुई भी प्राकृत भाषा-विज्ञान शास्त्रियों के अनुसार अपने प्रान्तीय रूप-भेदों को लेकर स्वतन्त्र अपभ्रंशों में विकसित हुई। इस तरह पैशाची, व्राचड़, नागर, शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री आदि अनेक अपभ्रंश है।[2] अपभ्रंश-साहित्य का निर्माण-काल ८वीं से १३वीं शती तक माना गया है। इसमें सन्देह नहीं कि अपभ्रंश-साहित्य बहुत समय तक अन्धकार के गर्त्त में विलीन रहा, किन्तु अब इसकी प्रकाशित अथवा अप्रकाशित सामग्री अधिक मात्रा में ज्ञात हो चुकी है। श्री नामवरसिंह ने अपने 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' नामक ग्रन्थ में अपभ्रंश की १३८ पुस्तकों की सूची दी है।[3] अपभ्रंश में वज्रयानियों की साधनात्मक रहस्योक्तियों के अतिरिक्त स्वयंभूदेव-रचित रामायण (पउमचरिउ) जैसे महाकाव्य भी हैं, जिन पर प्रत्येक भाषा एवं साहित्य को गर्व हो सकता है। 'पउमचरिउ' अपभ्रंश का आदिकाव्य है, जिसकी तुलना 'वाल्मीकि रामायण' से की जा सकती है। इसी तरह पुष्पदन्त का 'हरि-पुराण', 'नागकुमार-चरित' आदि रचनाएँ भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसलिए हिन्दी की मूल-भूत अपभ्रंश की कथमपि उपेक्षा नहीं की जा सकती। बहुत से विद्वान् तो अपभ्रंश को हिन्दी-साहित्य के ही अन्तर्गत कर लेते है।

अपभ्रंश में अन्योक्ति

कहना न होगा कि अपभ्रंश-साहित्य जहाँ विशाल एवं विविधात्मक है, वहाँ सरसता एवं अनुभूति की दृष्टि से भी कम महत्त्व का नहीं। इसमें सूक्ति तथा अन्योक्ति-काव्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। हैम व्याकरण, देवसेन का 'सानय-धम्म दोहा' सोमप्रभ सूरि रचित 'कुमारपाल प्रतिबोध' तथा 'स्फुट पद्य' आदि में अनेक मनोहर एवं मार्मिक अन्योक्तियाँ आती हैं। श्री नामवरसिंह

१. आदर्श कुमारी, 'गिरिधर की कुण्डलियाँ', २९।
२. भोलानाथ तिवारी, 'भाषा-विज्ञान', पृ० १२७।
३. पृ० १७७-१८२।

अपने पूर्वोक्त ग्रन्थ में अपभ्रंश-काव्य का उत्कर्ष प्रतिपादित करके उसकी अन्योक्ति-सम्बन्धी विशेषता पर जोर देते हुए लिखते है : "अपभ्रंश-साहित्य का एक वहुत बड़ा भाग नीति, सूक्ति, अन्योक्ति, स्तुति आदि ढंग के काव्यों से भरा हुआ है।............हैम व्याकरण में भ्रमर, कुंजर, पपीहा, केहरि, धवल, महाद्रुम आदि को लेकर बड़ी ही हृदयहारी अन्योक्तियाँ कही गई हैं, जैसे 'धवल' (बैल)-सम्बन्धी अन्योक्ति :

धवल विसूरइ सामिअहो, गरुआ भर पिक्खेवि।
हउँ कि न जुत्तउँ दुहुँ दिसहिं, खण्डइँ दोण्णि करेवि।।"[1]

इस तरह अपभ्रंश-साहित्य के दोहों में यत्र-तत्र कितनी ही मुक्तक अन्योक्तियाँ बिखरी पड़ी हैं। एक-दो उदाहरण और लीजिए :

कुंजर ! सुमरि म सल्लइउ, सरला सास म मेल्लि।
कवल जि पाविय विहि-वसिण, ते चरि माणु म मेल्लि।।[2]

यहाँ कुंजर को प्रतीक बनाकर पहले सम्पन्न किन्तु बाद में निर्धन बने हुए व्यक्ति की ओर अभिव्यंजना है। अपभ्रंश की उक्त अन्योक्ति पर निम्नलिखित संस्कृत-अन्योक्ति की छाया है :

घासग्रासं गृहाण त्यज करिकलभ ! प्रीतिबन्धं करिण्याः
पाशग्रन्थिव्रणानामविरलमधुना देहि पंकानुलेपम्।
दूरीभूतास्तवैते शबरवरवधूविभ्रमोद्भ्रान्तदृश्या
रेवातीरोपकण्ठच्युतकुसुमरजोधूसरा विन्ध्यपादाः।[3]

इसी भाव को लेकर भ्रमर के प्रतीक में दुर्दिन-ग्रस्त पुरुष को यों

---

१. 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ० २५६।

२. हिन्दी-रूपान्तर :

सल्लकियों की अब याद न कर कुञ्जर !
लम्बी-लम्बी आहें दिल से मत भर।
कवल पड़ें खाने जो तुझको विधि-वश,
मान न तज उनसे ही तू अब मन भर।

३. 'सुभाषितरत्न भाण्डागार', पृ० २३३।

हिन्दी-रूपान्तर :

घास-ग्रास खाओ करिपति ! अब छोड़ो करिणी की मधुर याद,
पाश-गाँठ से लगे व्रणों पर कीच भरो, न करो करुण नाद।
शबरवधूजन-विलास-पूरित, नित सुरभित कुसुम-परागों से,
विन्ध्य अद्रि के सुखद पाद अब दूर पड़ गए हैं तुमसे।

आश्वासन भी दिया जाता है :

भमरा ! एत्थु वि लिम्ब-उइ के वि दियहडा विलम्बु ।
घरा-पत्तलु छाया-बहुलु फुल्लइ जाम कयम्बु ।।[1]

इस अन्योक्ति पर पंडितराज जगन्नाथ की निम्नलिखित कोयल वाली अन्योक्ति की स्पष्ट छाप है :

तावत् कोकिल ! विरमान् यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन् ।
यावत् क्वचिदलिमालः कोऽपि रसालः समुल्लसति ।।[2]

(भामिनी विलास)

पूर्वोक्त अपभ्रंश की अन्योक्ति की गिरिधर से तुलना कीजिए :

भौंरा ! ये दिन कठिन हैं, दुख-सुख सहौ सरीर ।
जब लगि फूलै केतकी, तब लगि विरम करीर ।।
तब लगि विरम करीर, हर्ष मन में नहिं कीजै ।
जैसी बहै बयार, पीठ तब तैसी दीजै ।।
कह गिरिधर कविराय होय जिन-जिनमें बौरा ।
सहै दुःख अरु सुख इक सज्जन अरु भौंरा ।।

हिन्दी-साहित्य में अन्योक्ति : आदिकाल

हिन्दी का आदि-काल भाषा का संक्रमण-काल है । इसमें हिन्दी का आदि-रूप अपभ्रंश या अपभ्रंश-मिश्रित है । अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत करने के विषय में विद्वानों का मतभेद है । आचार्य शुक्ल ने अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' कहकर उसके साहित्य को हिन्दी-साहित्य में सम्मिलित कर लिया है । राहुल सांकृत्यायन भी 'प्राचीन काव्य-धारा' में हिन्दी के आदिकाल को 'सिद्ध-सामन्त-युग' नाम देकर

१. हिन्दी रूपान्तर :

इस नीम-डाल पर भौंरे ! तुम,
विश्राम करो कुछ दिन तब तक ।
पत्तों और घनी छाया से—
नीप न होता विकसित जब तक ।

२. हिन्दी-रूपान्तर :

अपने इन नीरस दिवसों को कोयल !
और वनों में रहकर काटो तब तक
कोई रसाल अलि-माला से भूषित,
नहीं कहीं विकसित होता है जब तक ।

अपभ्रंश की समस्त सामग्री को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत कर लेते है। किन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस सम्बन्ध में आपत्ति उठाई है। वे अपभ्रंश भाषा की उसी रचना को पुरानी हिन्दी मानते हैं, जिसमें हिन्दी के प्रारम्भिक स्वरूप की झलक दिखाई देती है, सबको नहीं। अस्तु, शुक्लजी के अनुसार सं० १०५०-१३७५ हिन्दी का आदि-काल ठहरता है। वे इसे दो भागों में बाँटते हैं—अपभ्रंश और देशभाषा। अपभ्रंश की अन्योक्तियाँ हम दिखा आए है। जहाँ तक देशभाषा (हिन्दी) का सम्बन्ध है, हम देखते है कि यह काल देश में एक संघर्ष का काल रहा है, जिसके कारण यह वीर-गाथा काल कहलाता है। इसमें वीर-काव्यों का प्रणयन गाथात्मक ही अधिक हुआ। इन्हें 'रासो' कहते हैं, जिनमें 'खुमानरासो', 'बीसलदेवरासो', 'पृथ्वीराजरासो' आदि उल्लेखनीय हैं। सारा वातावरण सामन्ती होने के कारण इन रचनाओं में हमें वीरों की वीरता तथा युद्धों के ओजपूर्ण चित्रण ही मिलते है, इसलिए प्रबन्ध-काव्यों में अन्योक्ति के ढंग की व्यंगोक्ति के लिए इस काल में स्थान न था। हाँ, फुटकर मुक्तक रचनाएँ जो हुआ करती थीं, उनमें अवश्य कहीं-कहीं अन्योक्ति के दर्शन हो जाते हैं। बाँकीदास का निम्नलिखित उदाहरण देखिए :

गाज इतै ऊखेड़ गज ! माझल वन तर मूल।
जागै नह थह में जितै, सझ हाथल साद्दूल॥

यहाँ गज के प्रतीक में एक ऐसे बली पुरुष को संबोधित किया जा रहा है, जो गरजकर वन-तरुओं को मूल से उखाड़ फेंक देने के रूप में नृशंसता के साथ प्रजाजनों में मार-काट मचा रहा है। माँद में सोए सिंह-रूप में किसी वीर पुरुष के जागने की देर है कि वह क्षण-मात्र में ही शत्रु का सारा उत्पात समाप्त कर देगा। इसी तरह वैराग्य एवं नीति-सम्बन्धी उक्तियों में भी अन्योक्ति-अलंकार का सहारा इन वीर-काव्यकारों ने कहीं-कहीं लिया है। डिंगल के किसी कवि की वैराग्य-सम्बन्धी यह अन्योक्ति देखिए :

पात झड़ंता देखकर हँसी न कूपलियांह।
मो बीती तुझ बीत सी धीरी बापड़ियांह॥

तरु के पत्ते को झड़ता देखकर कोंपल नहीं हँसी, क्योंकि झड़ता हुआ पत्ता बोल रहा था कि यह हालत जो मेरी है, वह कुछ समय बाद तेरी भी होगी। जीवन की नश्वरता का यह कैसा सीधा-सादा चित्रात्मक वर्णन है! इसी तरह आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति भी गोरख की अन्योक्ति में लीजिए :

गउ पद मां ही पहौकर फदकै, दादर भरंम झिलारै।
चात्रिग में चौमासो बोलै, ऐसा समा हमारे॥[1]

१. 'गोरख वाणी', पृ० २११। छन्द १७।

तालाब गोपद में ही तरंगित हो रहा है, अर्थात् साधक का स्थूल अस्तित्व सूक्ष्म आत्मानन्द में समा रहा है। साधक के चित्त को चौमासे की ऋतु प्राप्त हो गई है। यह परमात्मोन्मुखी होने पर आत्मा को अपने भीतर आनन्दानुभूति का चित्र है। यहाँ गोपद, पोखर, चातक, और चौमासा सांकेतिक हैं।

खुसरो और विद्यापति

वीरगाथा-काल के उत्तरार्ध अथवा समाप्ति में हिन्दी के अमीर खुसरो और 'मैथिल कोकिल' विद्यापति दो प्रसिद्ध कवि हुए। इस समय यद्यपि काव्य-भाषा का ढाँचा शौरसेनी अथवा पुरानी व्रजभाषा के रूप में ही रहा, किन्तु जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा खड़ी बोली के रूप में आई, जिसे जन्म देने का आदि श्रेय खुसरो को है। खुसरो ने जन-मनोविनोद के लिए बोल-चाल की भाषा में बहुत-सी पहेलियाँ और मुकरियाँ लिखी हैं, जिनमें उक्ति-वैचित्र्य भरा हुआ है। पहेलियाँ एक प्रकार की अन्योक्तियाँ ही हुआ करती हैं। इनमें प्रस्तुत वस्तु या बात को छिपाकर अप्रस्तुत वस्तु-विधान द्वारा कहा जाता है। उदाहरण के लिए देखिए :

एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे॥

यहाँ थाल और मोतियों से आकाश तथा तारे विवक्षित हैं। इसी तरह :

एक नार ने अचरज किया। साँप मार पिंजरे में दिया॥
जों जों साँप ताल को खाए। सूखे ताल साँप मर जाए॥

यहाँ साँप और ताल क्रमशः बत्ती और तेल भरे दीए के प्रतीक हैं। इन पहेलियों में केवल उक्ति-वैचित्र्य है, संवेदन नहीं। पहेलियों की तरह खुसरो की मुकरियाँ भी बड़ी प्रसिद्ध हैं। मुकरी में कलाकार अर्थ-श्लेष रखकर प्रस्तुत सत्य के प्रकट होने लगते ही झट समान गुण-क्रिया वाले अप्रस्तुत की तरफ मतलब लगाकर प्रकट हुए प्रस्तुत से मुकर जाता है। उदाहरण के लिए खुसरो की यह मुकरी लीजिए :

सोभा सदा बढ़ावन-हारा, आँखिन ते छिन करूँ न न्यारा।
आठ पहर मेरा मन रंजन, 'क्यों सखि, साजन! ना सखि अंजन'!

यहाँ प्रस्तुत साजन का उसी तरह के अप्रस्तुत अंजन से अपह्नव किया जा रहा है, इसलिए संस्कृत में इसे छेकापन्हुति अलंकार कहते हैं। छेक चतुर को बोलते हैं। वे ही ऐसा अपह्नव---छिपाव---करते हैं, साधारण जन नहीं। मुकरी में पहेली अथवा अन्योक्ति का अर्ध-विकास ही रहता है, इसलिए इसे अर्ध-अन्योक्ति कहेंगे।

विद्यापति के प्रबन्धात्मक वीर-काव्य तो अपभ्रंश में हैं, किन्तु गेय पद

उन्होंने 'मागधी' से निकली मैथिली में लिखे, जिसे हिन्दी का ही एक रूपान्तर स्वीकार किया जाता है। संस्कृत में जयदेव कवि के 'गीत-गोविन्द' के आधार पर इन्होंने राधा-माधव के माधुर्य-भाव के गीत रचकर हिन्दी के लिए एक नई दिशा खोली, जो बाद को कृष्ण-भक्ति-शाखा की आधार-भित्ति बनी। इसका विस्तृत निरूपण हम अन्योक्ति-पद्धति के प्रकरण में करेंगे।

भक्ति-काल : निर्गुण-धारा : कबीर

वीरगाथा-काल चारण-कवियों के हाथ में होने से इसमें मुख्यतः विक्रान्त भावना ही काम करती रही; इसमें हृदय की कोमल वृत्तियाँ एवं अनुभूतियाँ अभिव्यक्त न हो सकीं। अतएव इस युग में अन्योक्ति-जैसे मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी अलंकारों का प्रयोग सीमित ही रहा। इनका उत्कर्ष तो वस्तुतः भक्ति-काल में हुआ जबकि देश में अपेक्षाकृत शान्ति रही। विजेताओं की बर्बरता तथा उसकी प्रतिक्रिया में विजितों द्वारा चलाया जाने वाला संघर्ष अब शान्त हो गया था। स्वामी वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य, रामानन्द आदि धार्मिक नेताओं ने विभिन्न मतों का प्रचार करके जन-मन की प्रसुप्त सांस्कृतिक चेतना को जागृत किया। फलतः सारे देश में भक्ति की लहर फैल गई और हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'स्वर्ण-युग' कहलाए जाने वाला भक्ति-युग आरम्भ हुआ। भक्त-काव्य को सन्त-धारा, सूफी-धारा, कृष्ण-धारा और राम-धारा, इन चार वर्गों में विभक्त किया जाता है। प्रथम वर्ग के प्रतिनिधि सन्त कबीर माने जाते हैं। इनका विषय संसार और ईश्वर-सम्बन्धी अपनी व्यक्तिगत अनुभूति था। इसकी अभिव्यक्ति के लिए इनको विविध अप्रस्तुत-योजनाएँ बनानी पड़ीं, जिनमें अन्योक्तियों का ही बाहुल्य है। उदाहरण के लिए जन-साधारण की जिह्वा पर चढ़ा हुआ इनका यह प्रसिद्ध दोहा लीजिए :

जिन ढूँढा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
हौं बौरी बूड़न डरी, रही किनारे बैठ॥

इसमें संसार में आत्म-तत्त्व की प्राप्ति के कठिन प्रयत्न के लिए समुद्र में गोता लगाकर रत्न ढूँढने का अप्रस्तुत-विधान किया गया है। संसार का प्रतीक समुद्र है और आत्म-तत्त्व का रत्न। माधुर्य-भाव के वर्णन में जीवभूत स्वयं को कबीर नारी के प्रतीक में अभिव्यक्त करते हैं। नारी का प्रतीक प्रिय-मिलन के वृत्त में ही ठीक बैठता है, समुद्र की गोताखोरी में नहीं, इसलिए उक्त दोहे के उत्तरार्द्ध का यह दूसरा पाठ-भेद ही हमें प्रकृत में अधिक उचित प्रतीत होता है :

हौं बपुरा बूड़न डरा, रहा किनारे बैठ ।

इसी तरह आत्मा की 'पखेरू' के प्रतीक में भी अन्योक्ति देखिए :

बाढ़ी आवत देखिकर, तरुवर डोलन लाग ।
हम कटे की कुछ नहीं, पंखेरू घर भाग ।।

यहाँ बढ़ई काल का प्रतीक है, और तरुवर देह का। तरुवर का डोलना वृद्धावस्था का रूप है। डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में 'यह डोलना आत्मा को इस बात की चेतावनी देता है कि शरीर के नाश का दुःख न करके ब्रह्म-तत्त्व में लीन होने का प्रबन्ध करो। पक्षी का घर भागना यही है। काटते समय पेड़ को हिलते और वृद्धावस्था में शरीर को काँपते किसने न देखा होगा। परन्तु किसलिए वह हिलता-काँपता है, इसका रहस्य कबीर ही जान पाए हैं।'[1] कबीर ने नीति-सम्बन्धी अन्योक्तियाँ भी बहुत लिखी हैं। उनके भी एक-दो उदाहरण देखें :

मलय गिरि के बास में, बेधा ढाक पलास ।
बेना कबहुँ न बेधिया, जुग-जुग रहिया पास ।।[2]

यहाँ यह बताया गया है कि चन्दन के आस-पास के कितने ही वृक्ष उसकी सुगन्ध से सुरभित हो जाते हैं, परन्तु बाँस ही एक ऐसा है, जो वैसा-का-वैसा रहता है। यह तो 'मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिले विरंचि सम' अथवा 'सूरदास खल कारी कमरी चढ़े न दूजो रंग' वाली बात है। इस तरह यहाँ चन्दन और बाँस के अप्रस्तुत-विधान से 'सत्संगति में रहकर भी मूर्ख नहीं सुधरता', इस प्रस्तुत अर्थ की अभिव्यक्ति की गई है। इसी तरह परीक्षा करके गुणी और निर्गुणी की असलियत का पता चल जाता है, इस प्रस्तुत बात को प्रकट करने वाली निम्नलिखित अन्योक्ति भी देखिए :

हंसा बक एक रंग लखि, चरें एक ही ताल ।
छीर-नीर ते जानिए, बक उघरें तेहि काल ।।[3]

यहाँ बाह्य कलेवर एवं रूप रंग समान होने पर भी यदि हंस और बक में भेद प्रकट करना चाहो, तो उनसे नीर-क्षीर-विवेक करवा लो, यह सारा प्रकृति-चित्र अप्रस्तुत-विधान है। कबीर की तरह दादू सुन्दरदास आदि अन्य सन्त कवियों ने भी बहुत-सी अन्योक्तियाँ लिखी हैं, जिनको विस्तार-भय से यहाँ बताना कठिन है।

---

१. 'कबीर-ग्रन्थावली', पृ० ६१, भूमिका।
२. अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'कबीर-वचनावली', पृ० १२४, साखी ३१०।
३. वही, पृष्ठ १४४, साखी ७२२।

कबीर के बाद सूफी-धारा आती है, जिसके प्रमुख प्रतिनिधि जायसी हैं। सूफी-काव्य की विशेषता अलौकिक रहस्यात्मक तत्त्वों को लौकिक प्रेम की विविध भाव-भंगियों और संकेतों द्वारा अभिव्यक्त करना है।

जायसी

इस तरह, श्री चन्द्रबली पांडे के शब्दों में 'सूफी इन्ही भाव-भंगियों और इन्हीं सकेतों के आधार पर अन्योक्ति के द्वारा उस प्रियतम का साक्षात्कार कराते तथा उस परम प्रेम का प्रदर्शन करते हैं, जिसके अंश-मात्र से सारी लीला चल रही है और जिसके दीदार के लिए सारी प्रकृति नाच रही है।'[1] क्योंकि सूफी कवियों की रचनाएँ मुख्यतः प्रबन्धात्मक प्रेम-काव्य है, इसलिए अन्योक्ति के प्रबन्ध-गत होने के कारण उनका विस्तृत विवेचन हम अन्योक्ति-पद्धति में करेंगे। हाँ, इनकी कुछ मुक्तक अन्योक्तियाँ भी हैं, जो इनके प्रबन्ध-काव्यों में ही यत्र-तत्र बिखरी मिलती है, स्वतन्त्र नहीं। उदाहरण के रूप में जायसी की भँवर और दादुर की अन्योक्ति देखिए :

भँवर आइ बनखँड सन, लेइ कँवल कै बास।
दादुर बास न पावई, भलहि जो आछै पास ॥[2]

इसका वाच्यार्थ है--दूर वन-खंड से आकर भ्रमर तो तालाब में खिले हुए कमल का सौरभ एवं रस लेता है, किन्तु मेढ़क तालाब में रहकर भी उससे वंचित ही रहता है। इसमें प्रस्तुत कोई भी ऐसा गुण-पारखी व्यक्ति-विशेष व्यंग्य हो सकता है, जो दूर से आकर भी किसी गुण-पूर्ण वस्तु-विशेष से गुण ग्रहण कर ले, जबकि कोई मूर्ख-विशेष समीप में रहता हुआ भी उससे कोई लाभ न उठाए। वास्तव में 'पद्मावत' के आदि में होने के कारण इस अन्योक्ति में कवि का लक्ष्य वह अनभिज्ञ पाठक है, जो ज्ञानी पुरुष की तरह उनके ग्रन्थ में अलौकिक अर्थ को ग्रहण नहीं करता, लौकिक अर्थ तक ही सीमित रहता है। इसी तरह समुद्र-यात्रा में राजा रत्नसेन से बिछुड़ जाने पर रानी पद्मावती की अवस्था का प्रतीकात्मक चित्र भी लीजिए :

आवा पवन बिछोह कर पात परा बेकार।
तरिवर तजा जो चूरि कै लागै केहि के डार ॥[3]

पृथक् होने की आँधी आई और पत्ता तरुवर से पृथक् होकर और भूमि पर गिरकर अब बेकार हो गया है। उसने एक बार तरुवर को छोड़ दिया, तो

१. 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत', पृ० १०६।
२. 'जायसी ग्रन्थावली', पृ० ६।
३. वही, पृ० १७७।

चूरा-चूरा हो गया, फिर दूसरी डाल पर नहीं लग सकता। यहाँ आँधी, भत्ता और तरुवर क्रमशः विपत्ति, रानी पद्मावती एवं राजा रत्नसेन के प्रतीक हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा सम्पादित 'पद्मावत' में आलोच्य अन्योक्ति का पाठ इस तरह है :

भँवर जो पावा कँवल कहँ मन चिन्ता बहु केलि।
आइ परा कोई हस्ति तहँ चूरि गएउ सब बेलि॥[1]

इस पाठ-भेद ने अन्योक्ति का सारा कलेवर ही बदल दिया है। 'भ्रमर ने कहीं कमल पा लिया था। वह मन में सोचने लगा कि अब तो इसके साथ बहुत केलि-क्रीड़ा करूँगा, परन्तु वहाँ कोई हाथी आ पहुँचा, जिसने सारी-की-सारी कमल-बेल ही नष्ट कर डाली। यहाँ भ्रमर पद्मावती का और कमल रत्नसेन का प्रतीक है। राजा से बिछुड़कर वियोगावस्था में निष्प्राण बने रानी के जीवन की जो मार्मिकता एवं प्रेषणीयता इन अन्योक्तियों में हमें मिलती है, वह साधारण उक्ति में हो ही नहीं सकती। जायसी ने अपने ग्रन्थ में साधनात्मक रहस्यवाद के भी कितने ही अन्योक्ति-चित्र खींच रखे हैं, जो निरे सिद्धान्त-परक हैं, भाव-परक नहीं। हम देखते हैं कि शरीर को चित्तौड़गढ़, शरीर के नव द्वारों को गढ़ की नौ पौड़ियाँ, एवं शरीर के पाँच वायुओं को गढ़ का पहरा देने वाले पाँच कोतवाल आदि कहकर साधक स्पष्टतः योग-मार्ग की ओर संकेत करता है। इसी तरह :

गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी। पनिहारी जैसे दुरपदी।
और कुंड एक मोतीचूरू। पानी अमृत कीच कपूरू॥[2]

इत्यादि में भी नीर, क्षीर, द्रौपदी, कुण्ड आदि सब सैद्धान्तिक प्रतीक हैं। कहीं-कहीं जायसी ने अध्यवसित रूपक के रूप में भी अन्योक्ति के चित्र खींचे हैं। उदाहरण के लिए पद्मावती के अंगों का प्रतीकात्मक वर्णन देखिए :

सिंघ-लंक, कुंभस्थल जोरू। आँकुस नाग, महाउत मोरू॥
तेहि ऊपर भा कवल बिगासू। फिरि अलि लीन्ह पुहुप मधु-बासू॥
दुइ खंजन बिच बैठेउ सूआ। दुइज क चाँद धनुक लेइ ऊआ॥[3]

यहाँ सिंह-लंक, कुम्भस्थल-युगल और नाग-अंकुश आदि कटि, स्तन और केश आदि के प्रतीक हैं।

सूरदास और तुलसीदास सगुण भक्तिवाद के मुख्य स्तम्भ माने जाते

१. पृ० ४१०।
२. 'जायसी ग्रन्थावली', पृ० १६।
३. वही, पृ० २५८।

हैं। जहाँ सूर कृष्ण-धारा का प्रातिनिध्य करते हैं, वहाँ तुलसी राम-धारा का।

सगुण भक्तिवाद की कृष्ण-धारा : सूरदास

भगवान् कृष्ण सूर के उपास्य हैं। वे अपनी कला में अपने देव को साहित्य, संगीत, एवं भक्ति की त्रिवेणी में पवित्र स्नान कराते हुए जिन भाव-सुमनों द्वारा उनकी अनन्य अर्चना करते हैं, वे हिन्दी-साहित्य के जाज्वल्यमान रत्न है। अपने प्रस्तुत देव के सौन्दर्य और उसकी विविध छायाओं अथवा भंगियों को हृदय में चित्रित करने के लिए सूर द्वारा अपनाई अप्रस्तुत-योजना 'सूर सागर' में सर्वत्र देखने को मिलती है। अपने चरम विकास—अन्योक्ति—में तो उसका उत्कर्ष या हृदयंगमता और भी बढ़ जाती है। हिन्दी का एक समीक्षक-वर्ग तो सूर की अप्रस्तुतयोजना-सम्बन्धी विचारों का उल्लेख करते हुए उनकी सारी ही कृष्ण-लीला को जायसी के 'पद्मावत' की तरह एक विशाल अन्योक्ति मान बैठा है। इस पर विस्तृत विचार हम आगे करेंगे। यहाँ तो हमें सूर की केवल अलंकार-रूप अथवा मुक्तक अन्योक्ति ही देखनी है, पद्धति नहीं। भक्त का चातक और प्रभु का मेघ के प्रतीक के रूप में वर्णन करते हुए सूर की यह अन्योक्ति देखिए :

सुनि परिमित पिय प्रेम की, चातक चितवत पारि।
घन आशा सब दुख सहे, अनत न जाँचे वारि॥

प्यास में तडपता हुआ चातक बेचारा घन से जल-कण की आशा रखे हुए कष्ट झेलता रहता है, पर अन्यत्र जल नहीं माँगता। देखो, अपने प्रिय मेघ के लिए उसके हृदय में कितना गहरा प्रेम है। सूर ही नहीं, तुलसी आदि अन्य कवियों ने भी चातक के प्रतीक से भक्त के हृदय में स्थित प्रभु-प्रेम के ऐसे-ऐसे कितने ही छाया-चित्र खींच रखे हैं। वास्तव में हिन्दी की चातक-सम्बन्धी अन्योक्तियों पर संस्कृत का ही प्रभाव है। संस्कृत में चातक पर ही बड़ा अन्योक्ति-साहित्य भरा पड़ा है। सूर की उक्त चातक-सम्बन्धी अन्योक्ति की संस्कृत से तुलना कीजिए :

मुञ्च मुञ्च सलिलं दयानिधे।
नास्ति नास्ति समयो विलम्बने॥
अद्य चातककुले मृते पुनः।
वारि वारिधर! किं करिष्यति?[1]

---

१. 'सुभाषितरत्न भाण्डागार', पृ० २१२।

हिन्दी रूपान्तर :

छोड़ छोड़ तू वारि दयानिधि!

पन्त के आधुनिक-युगीन छायावादी घन-चित्र से भी इसकी तुलना कीजिए :

बरसो सुख बन, सुषमा बन
बरसो जग-जीवन के घन।
दिशि-दिशि में औ' पल-पल में
बरसो संसृति के सावन![1]

उसी प्रभु-प्रेम को सूर ने जल के प्रति कमल के प्रेम के प्रतीक में भी चित्रित किया है :

देखो करनी कमल की, कीन्हों जल से हेत।
प्राण तज्यो प्रण न तज्यो, सूख्यो सरहि समेत॥

कुछ लोग इस अन्योक्ति का अप्रस्तुत-विधान पति के साथ सती होने वाली प्रस्तुत पतिव्रता नारी की ओर लगाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अन्योक्ति का क्षेत्र बड़ा व्यापक होता है और उसके भीतर समान गुण-क्रिया वाला कोई भी प्रस्तुत प्रवेश कर सकता है, किन्तु हमारे विचार में भक्तों का कवि-कर्म दिव्य सत्ता को छोड़कर लौकिक प्रस्तुतों के प्रति बहुत कम गया है। इसी तरह गौ के प्रतीक में अपना चंचल मन भगवान् कृष्ण को अर्पण करने वाला सूर का यह चित्र भी कितना मार्मिक है :

माधौ जू! यह मेरी इक गाई।
अब आज तैं आप आगैं दई लै आइयै चराइ।
यह अति हरहाई हटकत हूँ, बहुत अमारग जाति॥
फिरति बेदपन-ऊख उखारति सब दिन अरु सब राति॥
हित करि मिलै लेहु गोकुलपति, अपने गोधन माहँ।
सुख सोऊँ सुनि बचन तुम्हारे, देहु कृपा करि बाहँ॥
निधरक रहौं सूर के स्वामी जनि मन जानौ फेरि।
मन ममता रुचि सौं रखवारी, पहिले लेहु निबेरि॥[2]

यहाँ कवि ने मन के स्वभाव का प्रतीकात्मक निरूपण किया है। इन्द्रियों के लिए गौ का प्रतीक बड़ा पुराना है, क्योंकि गौ की तरह इन्द्रियाँ भी विषयों में

न विलम्ब समय का अब कुछ कर,
क्या वारि करेगा, वारिद! यदि
चल पड़े आज चातक यम-घर।

१. 'गुञ्जन', पृ० ७६ सं० २०१५ वि०।
२. 'सूर सागर', प्रथम स्कं०, ५१ (पद)।

जाया करती हैं। इसलिए भगवान् कृष्ण को 'गोकुलपति' कहना साभिप्राय है। इन्द्रिय-रूपी गौओं में सबसे बड़ी गौ मन है, जो उन सबका नेता है। जीवन का सारा संघर्ष मन-कृत ही है। रोकने पर भी यह नहीं रुकता और बहुधा कुमार्ग में जाया करता है। वेद-वन मे घुसकर 'ईख'—जीवन के मधुर पदार्थ—खाना इसका नित्य का काम है। मानव को जीवन में स्थायी शान्ति तभी मिल सकती है, जब वह विविध स्वार्थ-भावनाओं से प्रेरित होकर कर्मकांड मे निमग्न मन को वहाँ से हटाकर निष्काम-भाव से भगवान् की ओर लगाए। मार्मिक होते हुए भी अन्योक्ति में एक त्रुटि रह गई है और वह यह कि सूर अप्रस्तुत वन के प्रतीक द्वारा अभिव्यज्यमान प्रस्तुत वेद को भी स्वयं वाच्य बना बैठे, जिससे अन्योक्ति की अविकलता भंग हो जाती है।

सगुण भक्तिवाद की राम-धारा : तुलसीदास

भक्ति-युग की राम-धारा के कवियों में तुलसीदास का नाम प्रसिद्ध है। आपकी कला भाव, भाषा और अप्रस्तुत-योजना, सभी में सर्वाङ्गपूर्ण है। आपने अपने प्रबन्ध-काव्य, 'रामचरित मानस' और 'दोहावली' में अच्छी और मार्मिक कितनी ही मुक्तक अन्योक्तियाँ लिखी हैं। उदाहरण के लिए देखिए :

राकापति षोडस उवहिं, तारा गन समुदाय।
सकल गिरिन दव लाइए, बिनु रवि राति न जाय॥[1]

एक नहीं, सोलह चाँद क्यों न उदय हो जायँ, तारागणों का ढेर-का-ढेर क्यों न लग जाय, और सभी पहाड़ों पर आग क्यों न लगा दी जाय, बिना सूर्य के रात कभी दूर नहीं होती। यहाँ प्रस्तुत कोई महा तेजस्वी पुरुष है, जिसकी तुलना में छोटे-मोटे तेज वाले पुरुषों की कोई सत्ता ही नहीं। वे अपना कितना ही ज़ोर क्यों न लगा लें, वह काम कभी कर ही नहीं सकते, जिसे महा तेजस्वी पल-भर में कर देता है। इसी तरह :

जद्यपि अवनि अनेक सुख, तोय तामरस ताल।
संतत तुलसी मानसर, तदपि न तजत मराल॥[2]

इस अन्योक्ति में तुलसी मराल के प्रतीक में उच्च प्रकृति के पुरुष का चित्र खींचते हैं। मानसर से यहाँ परम्परा-प्राप्त अपनी प्रतिष्ठा के अनुसार शुद्ध, निर्मल स्थान विवक्षित है तथा अवनी एवं तालों से नाना सुखपूर्ण छोटे-मोटे तुच्छ स्थान। उच्च पुरुष ऐसा कोई भी काम नहीं करेंगे, जो उनकी प्रतिष्ठा

१. 'दोहावली' (गीता प्रेस), पृ० ३८६।
२. 'सतसई सप्तक', पृ० १६।

को कलंकित करे। लगभग इसी तरह के भाव के लिए पीछे बताई हुई पं० जगन्नाथ की संस्कृत-अन्योक्ति से भी तुलना कीजिए।[1] अब हम 'रामचरित-मानस' की भी दो-एक अन्योक्तियाँ नीचे देते हैं :

मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जियहि के लवण पयोधि मराली।
नव रसाल वन विहरण-सीला। सोह कि कोकिल विपिन करीला।

× × × ×

सुन दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करहिं विकासा।

रीति-काल

रीति-काल हिन्दी का पतन-काल माना जाता है। तब देश में विदेशी-सत्ता का विजय-हर्ष में फूलकर भोगवादी बन जाना स्वाभाविक ही था। उधर विदेशियों से चोटें खाए एवं दास बने हुए भारतीय जन-मन को भी नारी के नख-शिख में ही अपने नैराश्य और अवसाद का प्रोंछन सूझा। इसके परिणामस्वरूप कवि भी कविता के 'स्वान्तः सुखाय' वाले उच्च आदर्श से गिरकर 'स्वामि-सुखाय' लिखने लगा, और कविता एक व्यवसाय बन गई। डॉ० चतुर्वेदी के शब्दों में "इस प्रकार सम्राट् और कवि, दोनों ही कूल-किनारों का ध्यान किये बिना युग-प्रवाह में बहते चले जा रहे थे, और राग-रस के सागर में आकण्ठ-निमग्न रहना ही भव-सागर के पार जाना समझने थे।"[2] कुछ लोग काव्य में राधा-कृष्ण का नाम देखकर रीतियुगीन शृंगार को भी भक्तियुग की तरह प्रतीकात्मक ही मानते हैं। इस पर हम आगे विस्तृत विचार करेंगे।

कहना न होगा कि पूँजीवाद अथवा सामन्ती समाज-व्यवस्था व्यक्तिवाद को जन्म देती है। व्यक्तिवाद में सदा वैचित्र्य रहता है, जो काव्य में समाज के साधारण भावों के स्थान में कल्पना-प्रसूत, विचित्र भावों की अभिव्यक्ति तथा विचित्र और विदग्ध उक्तियों के रूप में प्रतिफलित होता है। सामन्ती युग होने के कारण रीति-काल का भी वैचित्र्यपूर्ण होना स्वाभाविक है। अतएव इस काल में मुक्तकों के रूप में अन्योक्ति का विविध विलास हमें पर्याप्त देखने को मिल जाता है।

बिहारी और मतिराम

रीति-काल के कवियों ने अपनी-अपनी रचनाएँ लिखी हैं जो अन्योक्तियों से भरी पड़ी हैं। बिहारी इस आलोच्य युग के प्रमुख कवि माने जाते हैं, जिनकी सतसई का आज तक हिन्दी-जगत् में बड़ा मान चला आ रहा है। बिहारी के प्रसिद्ध प्रशंसक पं० पद्मसिंह

१. देखिए पीछे, पृ० १०१।
२. 'रीतिकालीन कविता एवं शृंगार-रस का विवेचन', पृ० ३०८।

शर्मा कवि द्वारा खींचे हुए नायिका के निम्नलिखित दृग्-चित्र में स्वयं कवि की कविता का प्रतीक-विधान मानते हैं :

अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहि बस होत सुजान॥

शर्माजी के शब्दों में "यह दोहा 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' या 'समासोक्ति' के रूप में कवि की कविता पर भी पूर्णतया संघटित होता है, और आश्चर्य नहीं—औचित्य चाहता है कि ऐसा हो—यह कवि ने अपनी कविता की ओर इशारा किया है। अनेक सतसइयों को सामने रखकर 'विहारी सतसई' देखने पर इस 'व्यतिरेक' और 'भेदकातिशयोक्ति' की हृदयंगम यथार्थता समझ में आ सकती है।"[1] हमारे विचार से तो नायिका के 'अनियारे दीरघ दृगनि' की तरह कवि की 'सुजान'-वशकारिणी 'अनियारी' प्रतिभा भी प्रकृत में प्रस्तुत होने से यहाँ अन्योक्ति का प्रस्तुतांकुर रूप है। इसी तरह विरह में रोती हुई नायिका के व्यथित हृदय की दशा का भी चित्रण देखिए :

तच्यौ आँच अब बिरह की, रह्यौ प्रेम-रस भीजि।
नैननु के मग जलु बहै, हियौ पसीजि पसीजि॥[2]

प्रेम-रस में भीगा एवं विरहाग्नि की आँच में खूब तपा हुआ नायिका का हृदय पसीज-पसीजकर पानी के-रूप में नयनों के मार्ग से बह रहा है। यहाँ प्रस्तुत नायिका के अश्रु-प्रवाह से अप्रस्तुत रूप में किसी वस्तु का अर्क निकालने की प्रक्रिया भी अभिव्यक्त हो जाती है, क्योंकि हम देखते है कि जब किसी वस्तु का अर्क निकालना होता है, तो उसे पानी में भिगोकर आग पर रख देते हैं और फिर वह वस्तु वाष्प बनकर नाली के द्वारा बाहर आ जाती है। यहाँ विरह आग का, प्रेम जल का, नयन नलिका का, एवं हृदय अर्क के लिए रखी हुई वस्तु का प्रतीक है। ध्यान रहे कि अन्योक्ति यहाँ समासोक्ति-रूप है। इसी तरह के भाव को लेकर किसी संस्कृत-कवि की अन्योक्ति के स्थान पर लिखी अपन्हुति देखिए :

'अनुदिनमतितीव्रं रोदिषीति त्वमुच्चैः',
'सखि ! किल कुरुषे त्वं वाच्यतां मे मुधैव।
हृदयमिदमनंगांगारसंगाद् विलीय
प्रसरति बहिरम्भः सुस्थिते ! नैतदश्रु॥'[3]

---

१. 'बिहारी की सतसई', पृ० ४२।

२. 'बिहारी रत्नाकर', दो० ३७८।

३. हिन्दी रूपान्तर :

'प्रतिदिन तू रोती रहती है फूट-फूटकर'

इसी तरह शेक्सपीयर ने भी विरहिणी को 'Sighing like a furnace'[1], अर्थात् 'भट्टी की तरह आहें भरती हुई', कहा है।

बिहारी की सारूप्य-निबन्धना अप्रस्तुत-प्रशंसा के कितने ही उदाहरण हम पीछे दिखा आए हैं। अब मतिराम द्वारा रसाल-मंजरी के प्रतीक में नव-यौवन-प्राप्त सुन्दरी का चित्र देखिए :

भौंर भाँवरें भरत हैं, कोकिल-कुल मँडरात।
या रसाल की मंजरी, सौरभ सुख सरसात॥[2]

यहाँ भ्रमर, कोकिल उसके चाहने वालों के प्रतीक हैं, और सौरभ यौवन का। इसी तरह कभी-कभी अपने सौन्दर्यादि गुण ही मनुष्य के लिए कितने हानिकारक हो जाते हैं, इस भाव को चन्द्र के प्रतीक में अभिव्यक्त करने वाली मतिराम की एक और अन्योक्ति भी लीजिए :

प्रतिबिम्बित तो बिम्ब में, भूतल भयो कलंक।
निज निर्मलता दोष यह, मन में मानि मयंक॥[3]

'हे चन्द्र ! तेरे निर्मल विम्ब में प्रतिबिम्बित हुई पृथ्वी की छाया तेरे लिए कलंक बन गई है। इसमें तेरा निर्मल होना ही दोष है। न तू निर्मल होता और न भूतल का प्रतिबिम्ब तुझमें पड़कर तू कलंकी बनता।' इस अप्रस्तुत अर्थ द्वारा कवि किसी प्रस्तुत सुन्दरी को लक्ष्य करके कह रहा है कि 'दुर्जन जो तुझ पर कलंक लगाते फिरते हैं, वह तेरे सौन्दर्य का दुष्परिणाम है। न तू इतनी सुन्दर होती और न ये लोग तुझ पर झूठे दोष मढ़ते।' इसी भाव को लिये हुए एक पंजाबी ग्राम्य-गीत भी सुना जाता है :

गोरा रंग न किसे नूँ रब्ब देवे, के सारा पिंड पेश पै गया।

बिहारी की तरह मतिराम ने भी सतसई लिखी है, किन्तु भावों की जो समाहार-शक्ति और भाषा की जो समास-शक्ति बिहारी की अन्योक्तियों में मिलती है, वह मतिराम की अन्योक्तियों में नहीं, यद्यपि भाषा एवं भावों की स्वाभाविकता की दृष्टि से मतिराम रीति-काल के कवियों में अवश्य उत्कृष्ट हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि रीतियुगीन साहित्य मुख्यतः शृंगार-रस-सिक्त है।

'सखि ! यों ही बदनाम मुझे करना ठीक नहीं।
यह तो कामानल के अंगारों से गलकर,
पानी बना हृदय बहता, कुशलिनि ! अश्रु नहीं।'

१. 'As You Like It'.

२. 'मतिराम सतसई', दो० ५६९।

३. 'मतिराम सतसई', दो० ३६३, मतिराम ग्रन्थावली, पृ० ४८१।

सार्वजनीन सत्य, नीति, वैराग्य एवं भक्ति-परक अन्योक्तियाँ

किन्तु लगभग समस्त रीतिकालीन कवियों ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में भक्ति और ज्ञान-सम्बन्धी कविताएँ भी अवश्य लिखी हैं। डॉ० नगेन्द्र रीतिकालीन भक्ति को एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता ठहराते हैं। उनके विचार में इन कवियों के लिए यह भक्ति कवच का काम करती है। वासना को प्राकृतिक रूप में ग्रहण करते हुए भी उनके विलासी मन में इतना नैतिक बल कदापि नहीं था कि वे भक्ति से विरत हो जाते।[1] इसी मनोवैज्ञानिक स्थिति ने रीति-युगीन कवियों को सार्वजनीन सत्य, नीति, वैराग्य और ज्ञान को अभिव्यक्ति देने की ओर प्रवृत्त किया है। उक्त विषयों की रचनाओं में भी हृदय को स्पन्दित करने की शक्ति तो है ही, साथ ही इनमें लोक-रुचि को शिक्षित एवं परिष्कृत करने का भी गुण है। इनमें कवियों ने बहुधा वस्तु को सीधा न रखकर अन्योक्ति द्वारा अभिव्यक्त किया है, जिससे वह और भी अधिक आकर्षक एवं प्रभावक सिद्ध हुई है। उदाहरण के लिए हम बिहारी की पूर्वोल्लिखित 'नहिं पराग, नहिं मधुर मधु' वाली अन्योक्ति को लेते हैं कि वह किस प्रकार कर्तव्य-विमुख हुए जयपुर-नरेश के आगे महोपदेशक की तरह कठोर सत्य रखकर उन्हें सही मार्ग पर लाई थी। इसी तरह की दूसरी अन्योक्ति भी देखिए :

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीति बहार।
अब अलि, रही गुलाब मैं अपत कँटीली डार॥[2]

इसमें सम्पन्न दशा से बिपन्न दशा को प्राप्त हुए किसी पुरुष को गुलाब और भ्रमर की अप्रस्तुत-योजना द्वारा समझाया जा रहा है कि 'भैया, जो तुम्हारे ऐश्वर्य और सुख का समय था वह बीत गया। अब तो तुम्हारे लिए दुःख ही दुःख है।' हो सकता है कि किसी लड़के को ही चेतावनी दी जा रही हो कि 'जो माँ तुम्हें प्रतिदिन प्रातः दूध-दही और माखन-रोटी देती थी वह मर गई, अब तो बच्चा, फाकामस्ती समझो'; अथवा धनी पिता के मर जाने पर बेटे को सावधान किया जा रहा हो कि 'बेटा, जिसके सिर पर ऐश लूट रहे थे, वह अब नहीं हैं; अब तो सारा उत्तरदायित्व तुम पर ही है। यह जीवन कटीली डाली है, सावधानी से हाथ डालना!' यह अन्योक्ति शृंगार-परक भी हो सकती है। इसमें किसी भोगी को, जो आसक्ति-वश किसी नायिका का अब बूढ़ी हो जाने पर भी पीछा नहीं छोड़ता, समझाया जा रहा है कि 'भलेमानस, इसके यौवन के

१. 'रीति-काव्य की भूमिका', पृ० ८०।
२. 'बिहारी रत्नाकर', दो० २५५।

दिन तो बीत गए हैं। अब क्या रखा है इस 'अपत' (निर्लज्ज) और कँटीली (कष्टकर) वृद्धा में। कुछ मात्रा में बिहारी के इसी भाव को लिये हुए उर्दू का भी एक प्रसिद्ध शेर है :

वे दिन हवा हुए जब कि पसीना गुलाब था।
अब इत्र भी मलो तो मुहब्बत की बू नहीं॥

स्वामि-भक्ति की भावना लिये हुए बिहारी की एक और अन्योक्ति लीजिए :

इहीं आस अटक्यौ रहै, अलि गुलाब कैं मूल।
ह्वैहैं फेरि बसन्त ऋतु, इन डारनु वे फूल॥[1]

यहाँ बिहारी-जैसे निपुण कलाकार की सूक्ष्म दृष्टि शीतकाल में भी गुलाब की जड़ों पर बैठे हुए भ्रमर को ढूँढ़ लेती है और यह भी जान लेती है कि उसका वहाँ बैठने का प्रयोजन क्या है। भ्रमर को पूरा भरोसा रहता है कि बसन्त-ऋतु आएगी और गुलाब की यही डाली फिर नये फूलों से लहलहा उठेगी। यहाँ भ्रमर और गुलाब क्रमशः भृत्य और स्वामी के प्रतीक हैं। वास्तव में स्वामी के निर्धन हो जाने पर भी भृत्य उनसे मुँह नहीं फेरते, क्योंकि उन्हें आशा रहती है कि स्वामी की यह विपत्ति केवल कुछ दिनों का फेर है; पासा पलटेगा और फिर उनकी वही चहल-पहल हो जायगी। इसी तरह संगति किस प्रकार सीधे-सादे साधु पुरुष को भी बिगाड़ देती है, इस पर मतिराम की अन्योक्ति देखिए :

सरल बाण जाने कहा, प्राण लेन कौ घात?
बंक भयंकर धनुष को, गुण सिखवत उत्पात॥[2]

'बेचारा सीधा-सादा बाण क्या जाने कि कैसे किसी के प्राण लिये जाते हैं। यह तो सब इस टेढ़े धनुष के गुण का काम है, जिसने इसे ऐसा उत्पात करना सिखाया।' यहाँ गुण शब्द में श्लेष है, जिसका धनुष की तरफ डोरी अर्थ है और कुटिल मनुष्य की तरफ उसकी विशेषता। यह अन्योक्ति शृंगार-रस की तरफ भी लग सकती है, जिसमें बाण नयन का प्रतीक बनेगा। धनुष भ्रू का और गुण भ्रू की खूबी का। प्रायः इसी शृंगारिक भाव को लिये हुए एक शेर उर्दू में भी है :

भोले माशूक क्या जानें जोरो सितम।
कम्बख्त चाहने वाले ही सिखा देते हैं॥

बिहारी और मतिराम के अतिरिक्त रीतिकाल में रहीम, वृन्द, विक्रम, रसनिधि, रामसहायदास, दीनदयाल गिरि, गिरिधर आदि कितने ही कवि हुए

१. वही, दो० ४३७।
२. 'मतिराम सतसई', दो० ६३८।

रहीम, वृन्द, रसनिधि, दीनदयाल गिरि एवं गिरिधर

हैं, जिन्होने बड़ी मार्मिक फुटकर उक्तियाँ लिखी है। इनकी रचनाओं में अन्योक्तियाँ पर्याप्त मात्रा में पाई जाती हैं। इनमें रहीम, वृन्द, रसनिधि, दीनदयाल गिरि एवं गिरिधर 'कविराय' विशेष उल्लेखनीय है :

रहीम को संसार का गहरा अनुभव था, क्योंकि जीवन के जितने उतार-चढ़ावों में से वे गुजरे हैं, उतना शायद ही कोई दूसरा कवि गुजरा हो। अतएव उन्होने अनुभव के आधार पर अपनी उक्तियों में ऐसे सार्वजनीन सत्य भरे हैं कि जिससे वे एकदम हृदय को छू लेती है और यही कारण है कि तुलसी आदि की उक्तियों की तरह वे भी आज तक खूब लोक-प्रिय बनी चली आ रही हैं। जहाँ तक उनकी अन्योक्तियों का सम्बन्ध है, वे भी बड़ी मार्मिक हैं। उदाहरण के लिए देखिए मूर्खों की मण्डली में विद्वानों का क्या हाल होता है, इस सचाई को वे किस तरह मेढ़क और कोकिल के प्रतीक से अभिव्यक्त करते हैं :

पावस देखि रहीम मन, कोयल साधे मौन।
अब दादुर वक्ता भये, हमहिं पूछिहै कौन॥[1]

वर्षा-ऋतु के आने पर चारों तरफ जब मेढ़कों की टर्र-टर्र छिड़ जाती है, तो कोयल को अपना कल-गान बन्द ही कर देना पड़ता है। उसे पता है कि नक्कारखाने में तूती की आवाज़ की तरह मेढ़कों की तुमुल ध्वनि में उसका स्वर सर्वथा विलीन हो जायगा। इसी तरह दूसरी अन्योक्ति भी देखिए :

सीत हरत तम हरत नित, भुवन भरत नहिं चूक।
रहिमन तेहि रवि को कहा, जो घटि लखत उलूक॥[2]

सूर्य शीत और अन्धकार हटाकर निखिल विश्व को अपने उज्ज्वल प्रकाश में नहला देता है। यदि उल्लू उसे न देखे, तो इससे सूर्य का महत्त्व घट नहीं जाता। इस अप्रस्तुत-विधान से अभिप्रेत यहाँ कोई ऐसा गुणी है, जो अपने गुणों द्वारा सभी को लाभान्वित करता है, किन्तु लोक में कुछ ऐसे पामरजन भी रहते हैं, जो उसके गुणों को देखते ही नहीं, उनसे आँख फेरकर ये अन्धे ही बने रहते हैं। रहीम की तरह वृन्द का नाम भी अच्छे सूक्तिकारों में गिना जाता है। इनका विषय अधिकतर नीति और उपदेश रहा है, जिनमें जीवन की सच्ची अनुभूति झलकती है। जगत् में कभी-कभी मूर्खतावश गुणी पुरुषों का अपमान होता रहता है और निर्गुणी आदर के पात्र बन जाया करते हैं, इस तथ्य को देखिए किस तरह वृन्द 'काग' और 'हंस' के प्रतीकों से अभिव्यक्त करते है :

१. 'रहीम रत्नावली', दो० २६६।
२. वही, दो० ११७।

यहै अवधि अविवेक की, देखि को न अनखाय ।
काग कनक-पिंजर पड़े, हंस अनादर भाय ।।[1]

इसी तरह बड़े लोगो का वड़प्पन किस तरह उन्हीं के लिए ही हानिप्रद हो जाता है, इस विषय पर रसनिधि की भी यह अन्योक्ति देखिए :

औघट घाट पखेरुवा पीवत निरमल नीर ।
गज गरुवाई तें फिरे प्यासे सागर तीर ।।[2]

बाबा दीनदयाल गिरि ने अन्य सूक्तिकारों की तरह 'सतसई' न लिखकर 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' लिखा है, जो रीति-युगीन अन्योक्ति-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसमें बाबाजी ने निरी अन्योक्तियाँ लिखी हैं और वह भी प्रायः कुण्डलियों में, दोहों में नहीं। अतएव अन्योक्तिकारों में इनको प्रमुखता दी जाती है। शुक्लजी के शब्दों में "इनका 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' हिन्दी-साहित्य में एक अनमोल वस्तु है। अन्योक्ति के क्षेत्र में कवि की मार्मिकता और सौन्दर्य-भावना के स्फुरण का बहुत अच्छा अवकाश रहता है। पर इसमें (बाबाजी-जैसे) अच्छे भावुक कवि ही सफल हो सकते हैं। लौकिक विषयों पर तो इन्होंने सरस अन्योक्तियाँ कही ही है, आध्यात्म पक्ष में भी दो-एक रहस्यमयी उक्तियाँ हैं।"[3] सारे ग्रन्थ में कुल मिलकर अन्योक्तियों की संख्या ३७२ है। इनमें पशु-पक्षी, पर्वत-सागर आदि प्रकृति-उपादानों, नर-नारी और उनकी विभिन्न जातियों अथवा काम-क्रोधादि अमूर्त्त भावों में ऐसा कोई भी नहीं जो अछूता रह गया हो और जिसे प्रतीक बनाकर कवि ने संसार और जीवन के किसी सत्य की मार्मिक व्याख्या न की हो। बाबाजी के सम्वन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि इन्होंने अन्योक्ति को संकुचित रूप में न लेकर दास की तरह व्यापक रूप में लिया है। यही कारण है कि इनकी अन्योक्तियों में जहाँ सारूप्य-निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा है, वहाँ साथ ही समासोक्ति अथवा रूपकातिशयोक्ति भी है। इसमें सन्देह नहीं कि इन्होंने अपने ग्रन्थ में अलंकारों पर भी रचना की है, किन्तु जिन-जिन अलंकारों पर इन्होंने रचना की है, उन-उनके नाम का ऊपर शीर्षक दे रखा है जब कि समासोक्ति और रूपकातिशयोक्ति नाम के शीर्षक हमें ग्रन्थ में नहीं मिलते। इससे सिद्ध हो जाता

'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' और उसमें अन्योक्ति का व्यापक रूप

1. 'वृन्द सतसई', सतसई सप्तक, पृ० ३४० ।
2. 'रसनिधि सतसई', सतसई सप्तक, २२३ ।
3. 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृ० ४६७ (सं० १९८७) ।

है कि रूपकातिशयोक्ति और समासोक्ति को बाबाजी अन्योक्ति ही मानते थे, इनसे पृथक् नहीं। इसलिए जहाँ-जहाँ अन्योक्तियों में इन्होंने नारी अथवा उसके विभिन्न अंगों का प्रतीकाध्यवसान कर रखा है, वहाँ-वहाँ अन्योक्ति अपने रूपकातिशयोक्ति रूप में ही मानी जायगी। जैसे :

चारों दिस लहरी चलै बिलसै बनज बिसाल।
चपल मीन-गति ललित अति तापर सजै सिवाल।।
तापर सजै सिवाल हंस अवली सित सोहै।
कोक जुगल रमनीय निरखि सर मैं मति मोहै।।
बरनै दीनदयाल मकरपति यामें भारो।
त्रास मानि हे पथी! ग्रास करिहै लखि चारो।।[1]

इसमें नारी को सिर के प्रतीक में तथा उसके मुख, नयन, केश, दाँत आदि विभिन्न अंगों को क्रमशः कमल, मीन, शैवाल, हंस आदि के प्रतीकों में अध्यवसित कर रखा है। इसी तरह बाबाजी का संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' आदि नाटकों की तरह काम-क्रोधादि अमूर्त्त भावों का मानवीकरण भी अध्यवसित-रूपक ही है। जैसे :

देखो कपटी दम्भ को कैसो याको काम।
बेचनहारो बेर को देत दिखाय बदाम।।
देत दिखाय बदाम लिए मखमल की थैली।
बाहर बनी बिचित्र बस्तु अंतर अति मैली।।
बरनै दीनदयाल कौन करि सकै परेखो।
ऊँची बैठि दुकान ठगै सिगरो जग देखो।।[2]

इसमें कवि ने दम्भ भाव को मानवी रूप दे रखा है। किन्तु उसके षट्-ऋतुओं आदि के ऐसे चित्र भी हैं, जिनमें प्रकृति आलम्बन बनकर प्रस्तुत है। लेकिन उसमें श्लेष द्वारा शब्द-योजना ऐसी है कि जिससे अप्रस्तुत रूप में राजा आदि की अभिव्यंजना भी हो जाती है, इसलिए ऐसा चित्र समासोक्ति का विषय बनेगा। उदाहरण के लिए कूप का ही वर्णन ले लीजिए :

कूपहिं आदर उचित है नहीं गुनिन को हेय।
अन्तर गुन को ग्रहण करि फिरि-फिरि जीवन देय।।
फिरि-फिरि जीवन देय गुनी गुन वृथा न जावै।
अति गभीर हिय दुहू झुके तें अमृत लखावै।।

---

१. 'अन्योक्ति कल्पद्रुम', ४।२४।

२. वही, ४।४७।

बरनै दीनदयाल न देखत रूप कुरूपहि।
जो घट अरपन करै ताहि तें ममता कूपहिं ॥[1]

इसमें गुन, जीवन, हिय, अमृत और घट शब्द श्लिष्ट हैं, जो कूप और भूप दोनों ओर लग जाते हैं। यही बात ऋतुराज आदि के चित्रों में भी पाई जाती है। किन्तु समासोक्ति और अध्यवसित रूपक वाली अन्योक्तियों की संख्या सारूप्यनिबन्धना अप्रस्तुत-प्रशंसा की अपेक्षा थोड़ी है। सारूप्य-निबन्धना के चित्र भी बाबाजी के बड़े ही सुन्दर और हृदय-स्पर्शी हैं। उदाहरण के लिए पयोद और ऊसर के प्रतीकों में क्रमशः दयालु गुरु और जड़मति शिष्य के विषय में कही इनकी अन्योक्ति देखिए :

बरखै कहा पयोद इत मानि मोद मन माहिं।
यह तो ऊसर भूमि है अंकुर जमिहै नाहिं ॥
अंकुर जमिहै नाहिं बरख सत जा जल दैहै।
गरजै तरजै कहा वृथा तेरो श्रम जैहै ॥
बरनै दीनदयाल न ठौर कुठौरहि परखै।
नाहक गाहक बिना बलाहक ह्याँ तू बरखै ॥[2]

वास्तव में ज्ञानोपदेश उसे ही देना चाहिए, जो उसका पात्र हो। मूर्खों के आगे स्नेह और दयापूर्वक ज्ञान की बातें बखानना सूअर के आगे रत्न बिखेरना है। बाबाजी ने शृंगारात्मक रहस्यवाद की भी कुछ अन्योक्तियाँ लिखी हैं, जो सखी-सम्प्रदाय पर आधारित हैं। एक उदाहरण लीजिए :

तेरे ही अनुकूल पति कित बिनवै प्रिय बोलि।
घट में खटपट मति करै घूँघट को पट खोलि ॥
घूँघट को पट खोलि देखि लालन की सोभा।
परम रम्य बुधि गम्य जासु छवि लखि जग लोभा ॥
बरनै दीनदयाल कपट तजि रहु पिय नेरे।
बिमुख करावनिहार तोहि सनमुख बहुतेरे ॥[3]

यहाँ जीवात्मा नायिका है और अनुकूल पति परमात्मा। इसी तरह घूँघट माया का प्रतीक है और पति से विमुख कराने वाले लोग सांसारिक भोग-पदार्थों के प्रतीक हैं।

रीतियुग के सूक्तिकारों में गिरिधर 'कविराय' भी अच्छे लोकप्रिय कवि

१. वही, ४।६३।
२. वही, १।३५।
३. वही, ४।३४।

हैं। यह दीनदयाल गिरि के ही सम-सामयिक हैं। इनकी कुण्डलियाँ आज तक भी जन-वाणी में घर बनाए बैठी हैं। इनकी भाषा

गिरिधर की कुण्डलियाँ

परम सरल और विषय जन-साधारण के व्यवहार में आने वाली नीति की बातें है। वास्तव में ये जन-कवि हैं। अपने उपदेशों को आकर्षक और अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए इन्होंने यत्र-तत्र अप्रस्तुत-योजना का भी आश्रय लिया है और बहुत-सी अन्योक्तियाँ लिखी हैं। उदाहरण के लिए देखिए :

दाड़िम के धोखे गयो सुवा नारियल खान।
खान न पायो नैक कछु फिर लागो पछितान॥
फिर लागो पछितान बुद्धि अपनी को रोया।
निर्गुणियन के साथ बैठि अपनो गुण खोया॥
कह गिरिधर कविराय सुनो हो मोरे नोखे।
गयो झटाका टूटि चोंच दाड़िम के धोखे॥[1]

तोता अनार के धोखे में नारियल खाने चला गया, किन्तु अनार खाना दूर रहा, चोंच मारते ही वह टूट गई। चौबे गये थे छब्बे बनने, दूबे बनकर ही लौट आए। इस अप्रस्तुत-विधान में जीवन का प्रस्तुत कटु सत्य यह है कि सुख-लालसा में अन्धा बना हुआ मानव कभी गलती से सुख-साधन समझकर दुःख-साधन को अपना लेता है, जिसका अन्तिम परिणाम दुःख होना स्वाभाविक ही है। अतएव हमें हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि संसार में जो कुछ चमकता हुआ दिखलाई देता है, वह सभी सोना नहीं होता। हमें विवेक से काम लेना चाहिए। इसी तरह संसार में सभी विवेकी नहीं होते, मूर्ख भी हुआ करते हैं; उनसे बचकर चलने का उपदेश देने वाली गिरिधर की यह अन्योक्ति भी देखिए :

साईं घोड़े आछतहि गदहन पायो राज।
कौआ लीजे हाथ में दूरि कीजिये बाज॥
दूरि कीजिये बाज राज पुनि ऐसो आयो।
सिंह कीजिये कैद स्यार गजराज चढ़ायो॥
कह गिरिधर कविराय जहाँ यह बूझि बधाई।
तहाँ न कीजै भोर साँझ उठि चलिए साईं॥[2]

रीति-काल रूढ़िबद्ध हो चला था। विलासिता में सुध-बुध खोये हुए समाज को पता ही न लगा कि कब विदेशी आए और अपनी सत्ता जमा गए।

१. आदर्श कुमारी, 'गिरिधर की कुण्डलियाँ', २४।
२. वही, २१।

आधुनिक काल : भारतेन्दु-युग

अंग्रेज़ों द्वारा देश की संस्कृति पर आघात, धन-शोषण एवं अत्याचारों ने सहसा जनता की आँखें खोलीं और जन-मानस की प्रसुप्त चेतना राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक क्रान्ति के रूप में फूट पड़ी। साहित्य में इस जागृति को लेकर ही आधुनिक काल का सूत्रपात होता है। 'भारतेन्दु' हरिश्चन्द्र इसके अग्रदूत माने जाते हैं। स्वयं भारतेन्दु की अर्थान्योक्ति-रूप यह मुकरी इस बात को स्पष्ट कर देती है :

भीतर-भीतर सब रस चूसै, बाहर से तन मन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि, साजन ! नहिं अँग्रेज !

कहना न होगा कि भारतेन्दु को जहाँ साहित्य में रीति-युग से दाय-रूप में प्राप्त कुछ विकृत भावना का शुद्धि-संस्कार करना था, वहाँ समाज का सुधार एवं राष्ट्र को चैतन्य भी करना था। फलतः भारतेन्दु-युगीन काव्य-प्रवृत्तियाँ बहिर्मुखी ही अधिक रहीं, अन्तर्मुखी बहुत कम। इस तरह विषयपरक (Objective) और वाच्यार्थ-प्रधान कवि-कर्म में वैचित्र्य और व्यंग्यार्थ के लिए अवसर नहीं मिला। अतएव भारतेन्दु-युग में मुक्तक अन्योक्तियाँ कम ही मिलती हैं, भले ही पद्धति के रूप में भारतेन्दु ने अपने कुछ नाटकों में इसे अपनाया है, जिसका निरूपण हम आगे करेंगे। मुक्तक-रूप में भारतेन्दु की अन्योक्ति का एक उदाहरण लीजिए :

चातक को दुख दूर कियो पुन दीनो सब जग जीवन भारी।
पूरे नदी-नद ताल-तलैया किये सब भाँति किसान सुखारी॥
सूखेहू रूखन कीने हरे जग पूर्यौ महामुद दै निज बारी।
हे घन ! आसिन लौं इतनो करि रीते भये हूँ बड़ाई तिहारी॥[1]

यह अन्योक्ति कवि के 'सती प्रताप' नाटक से ली गई है। यहाँ घन के प्रतीक से राजा द्युमत्सेन की उदारता अभिव्यक्त की जा रही है कि किस तरह वे प्रजा-जनों का कष्ट-निवारण किया करते थे। चातक, नदी, नद और वृक्ष आदि सब प्रतीकात्मक हैं और जीवन शब्द श्लिष्ट है।

भारतेन्दु का नेतृत्व साहित्य में निस्सन्देह क्रान्ति तो ला गया था, किन्तु फिर भी भारतेन्दु-काल को हम संक्रमण-काल ही कहेंगे, क्योंकि उसमें नई

द्विवेदी-युग

भावना के साथ पुराने संस्कार भी चले ही आ रहे थे। भाषा एवं भावों में परिष्कार और परिपक्वता लाना अभी शेष था और इसको लाने का श्रेय एक-मात्र महावीरप्रसाद द्विवेदी को मिला। कविता की भाषा खड़ी बोली बन गई थी,

१. 'भारतेन्दु ग्रन्थावली', भाग १, पृ० ६६१।

जो द्विवेदीजी के हाथों खूब मँजी और परिष्कृत बनी। कविता में भी जो निखार आया, वह स्वयं द्विवेदी जी के शब्दों में यह था :

सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है,
अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे !
शरीर तेरा सब शब्द-मात्र है,
नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही ॥[1]

इस तरह द्विवेदी-युग हिन्दी-साहित्य के प्रगति-मार्ग में मील का एक नया पत्थर है। जहाँ तक अन्योक्ति का प्रश्न है, उसे द्विवेदी-काल मे खूब प्रश्रय मिला। उसके कई कारण बन पड़े। एक तो खड़ी बोली का भण्डार भरना था, जो अधिकतर संस्कृत-साहित्य के अनुवाद से ही सम्भव था। दूसरे, देश में धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकृतियों को दूर करने के लिए कवि-कर्म में उपदेशात्मक तत्त्व लाना अपेक्षित था, जो अन्योक्तियों में खूब भरा हुआ रहता है। फलतः द्विवेदी-युगीन कवियों ने पर्याप्त मात्रा में मुक्तक अन्योक्तियाँ लिखीं, जिनमें अनुवाद भी है, विद्रूप भी है, उपदेश भी है और अनुभूति भी है। उदाहरण के लिए संस्कृत की निम्नलिखित प्रसिद्ध अन्योक्ति का अनुवाद देखिए :

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे,
हा हन्त ! हन्त !! नलिनीं गज उज्जहार॥

× × ×

बीते निशा समय भोर अवश्य होगा,
आदित्य देख वन पंकज का खिलेगा।
यों कोश भीतर मधुव्रत सोचता था,
कि प्रात मत्त गज ने नलिनी उखाड़ी ॥[2]

यहाँ मधुव्रत, नलिनी और गज क्रमशः जीव, अभीष्ट वस्तु एवं भाग्य के प्रतीक हैं। मनुष्य जीवन में क्या सुख-स्वप्न देखता है, और भाग्य-वश क्या पा बैठता है ! अनूदित अन्योक्तियों के अतिरिक्त अनेक प्रकार की मौलिक अन्योक्तियाँ भी द्विवेदीजी की 'सरस्वती' में समय-समय पर प्रकाशित होती रहती थीं, किन्तु उनमें संस्कृत-साहित्य की छाप स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। उदाहरण के लिए गुप्तजी की ये अन्योक्तियाँ देखिए :

१. 'सरस्वती', जून १६०१, 'हे कविते' शीर्षक कविता।
२. कन्हैयालाल पोद्दार, 'अन्योक्ति-दशक'।

तू जान के भी अनल प्रदीप,
पतंग ! जाता उसके समीप ।
अहो नहीं है इसमें अशुद्धि,
'विनाश काले विपरीत बुद्धि. ।'[1]

× × ×

हुए ऊँचे तो क्या यदि [illegible] नहीं,
कहो कैसे फैले फिर यश तुम्हारा सब कहीं ?
सुनो हे खर्जूर ! स्फुट मत नहीं है यह नया,
'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः ।'[2]

हमें अन्तिम अन्योक्ति में गुप्तजी पर संस्कृत की इस अन्योक्ति-शिखरिणी का प्रभाव लक्षित होता है :

अये ताल ! व्रीडां व्रज, गुरुतया भाति न भवान् ।
फलं न च्छाया नो, कठिन-परिवारो हि भवतः ।
इयं धन्या-धन्या सरल-कदली सुन्दर-दला ।
परात्मानं मन्ये सुखयति फलेनामृतवता ।[3]

हिन्दी की इन अन्योक्तियों को हम एक प्रकार से संस्कृत के छन्दों द्वारा हिन्दी में संस्कृत की समस्या-पूर्ति कह सकते हैं। इस तरह खड़ीबोली में अन्योक्ति संस्कृत के अनुवाद से ही प्रारम्भ हुई। आलोच्य युग के अन्योक्तिकारों में मैथिलीशरण गुप्त, गिरिधर शर्मा, लक्ष्मीधर वाजपेयी, रामचरित उपाध्याय, रूपनारायण पाण्डेय, सैयद अमीरअली 'मीर', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', और वियोगी हरि प्रसिद्ध हैं। इनमें 'मीर' को तो हम द्विवेदी-युग का दीनदयाल गिरि कह सकते हैं। इनकी अन्योक्तियाँ भी विविध विषयों की है और बड़ी चुभती और विद्रूपात्मक है। उदाहरण लीजिए :

बगला बैठा ध्यान में प्रातः जल के तीर ।
मानो तपसी तप करे, मलकर भस्म शरीर ।।

---

१. २. 'सरस्वती', दिसम्बर १६०७।

३. 'सुभाषितरत्न भाण्डागार', पृ० २४१ ।

हिन्दी-रूपान्तर :

अरे ताड़ ! बढ़ जाने से ही क्या होता ? कुछ शरमाओ,
छाया नहीं, नहीं है फल ही, परिवार कठिन दिखलाओ।
धन्य-धन्य तो यह कदली है सीधी-सुन्दर दल वाली,
अमृत-मधुर फलों से जग को अपरिमित सुख देने वाली ।।

मलकर भस्म शरीर, तीर जब देखी मछली।
कहै 'मीर' अलि चोंच, समूची फौरन निगली॥
फिर भी आवें शरण, बैर जो तज के अगला।
उनके भी तू प्राण हरे रे, छी! छी! बगला॥

इसमें किस तरह धर्म और साधु-वेश की आड़ बनाकर दुर्जन लोग भोली-भाली जनता से अपनी स्वार्थ-सिद्धि अथवा आजीविका बनाते है, इस बात को बगला और मछली के प्रतीकों द्वारा बताया गया है। प्रायः इसी भाव को लेकर हसों के प्रतीक में रामचरित उपाध्याय की अन्योक्ति भी तुलनार्थ लीजिए :

हंसों पर दो दृष्टि अनुज! ये शुक्ल सही हैं,
हों पर इनके हृदय कालिमा-रिक्त नहीं हैं।
पर की उन्नति देख मूढ़ ये जल जाते हैं,
नभ में घन को देख कहीं ये टल जाते हैं॥

(रामचरित-चिन्तामणि)

हरिऔध

अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध' द्विवेदी-युग के बड़े माने हुए कलाकार हैं। इनकी चहुँमुखी प्रतिभा प्रबन्ध-काव्य, खण्ड-काव्य, मुक्तक, नाटक, गद्य और आलोचना, सभी में अप्रतिहत-गति रही। भाषा पर इनका पूरा अधिकार है, जो इच्छानुसार कहीं व्रज-भाषा, कहीं कठिन संस्कृतनिष्ठ हिन्दी, कहीं ठेठ हिन्दी और कहीं 'उर्दू नुमा हिन्दी' बन जाती है। इन्होंने सूक्तियाँ और अन्योक्तियाँ बहुत लिखीं। मुक्तकों के लिए रीतियुगीन प्रथा के अनुसार इन्होंने भी 'सतसई' लिखी और आधुनिक ढंग पर कितने ही चोखे और चुभते चौपदे रचे, जो बड़े मार्मिक, विद्रूपात्मक तथा अन्योक्ति-तत्त्व लिये हुए है। इनकी कुछ अन्योक्तियाँ देखिए। दुर्जनो के बीच फँसे होने पर भी साधु पुरुष अपने में कोई पतन नहीं आने देते, इस तथ्य को ये गुलाब के प्रतीक से यों स्पष्ट करते हैं :

वैसे ही विकसे रहे, रही दिव्य ही आब।
काँटों में रह-रह हुए, नहिं कंटकित गुलाब।[1]

इसी तरह जब किसी के पास रूप-रस और तरुणाई रहती है तो सारा जगत् उसके चारों ओर चक्कर काटता रहता है, किन्तु उन गुणों के जाने-मात्र की देर होती है कि पीछे कोई सूँघता तक नहीं। इस बात को कवि कुसुम और अलि के प्रतीकों से यों अभिव्यक्त करता है :

---

१. 'हरिऔध सतसई', पृ० ३४।

रूप रंग अब नहिं रहा, नहीं रही अब वास।
कैसे अलि आए भला, दलित कुसुम के पास।[1]

'हरिऔध' जी ने वर्तमान युग की सामाजिक विषमता, अन्याय एवं शोषण-चूषण की नीति को लक्ष्य करके अन्योक्ति के जो 'चुभते-चौपदे' लिखे, वे और भी अधिक सुन्दर और प्रभावोत्पादक है। उदाहरण के रूप में सम्पत्ति-वाद पर उनकी यह अन्योक्ति लीजिए :

चाल चल-चल निगल-निगल उनको
हैं बड़ी मछलियाँ बनी मोटी।
सौ तरह से छिपीं, लुकीं, उछलीं
छूट पाईं न मछलियाँ छोटी।[2]

वर्तमान काल के 'मत्स्य-न्याय' का यह कितना नग्न-चित्र है। इसी तरह :

पत्थरों को नहीं हिला पाती
पत्तियाँ तोड़-तोड़ है लेती।
है न पाती हवा पहाड़ों से,
पेड़ को है पटक-पटक देती।[3]

इस अन्योक्ति में कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि जगत् में आज बलवानों का ही बोल-बाला है, दुर्बलों की कोई सत्ता नही।

वियोगी हरि

द्विवेदी-युग में वियोगी हरि का अपना विशिष्ट स्थान है, क्योंकि वे भक्ति-काल और रीति-काल से सम्बन्धित उस व्रजभाषा के प्रतिनिधि हैं, जो खड़ी बोली के साथ अपने क्षीण रूप में अब भी चली आ रही है। इसमें सन्देह नहीं कि आलोच्य युग के व्रजभाषा वाले कवियों में समयोचित राष्ट्रीय एवं अन्य नव भावनाएँ पूरी तरह स्फूर्त्त है, किन्तु भाषा की दृष्टि से वे प्राचीनता के ही उपासक है। वियोगी जी की सतसई का 'वीर सतसई' यह नाम स्पष्ट कर देता है कि उसकी प्रतिपाद्य वस्तु क्या है। इसमें सूक्तियों के साथ-साथ अन्योक्तियाँ भी खूब भरी हुई हैं, जो बड़ी व्यंग्यात्मक और विद्रूप है। उदाहरण के लिए देखिए :

चूमत चरण सियार के, गजमद मर्दन सेर।
झपटत बाजन पै लवा, अहो दिनन के फेर ॥[4]

---

१. वही, पृ० ४२।
२. 'चुभते-चौपदे', पृ० ५४।
३. वही, पृ० ५५।
४. 'वीर सतसई', पृ० ६८।

यहाँ शेर से भारतीय क्षत्रिय वीर अभिप्रेत है। जो सिंह कभी गज-सदृश महा-शत्रुओं का मान-मर्दन किया करता था, वही आज भाग्य के चक्कर में फँसकर इतना कायर बन गया है कि वह शृगाल-जैसे दुर्बल शत्रु का भी चरण चूम रहा है; अथवा शब्दान्तर में यों कहिए कि आज उल्टे वही लवा पक्षी उस बाज पर झपट रहे हैं, जो कभी स्वयं उनका शिकार किया करता था। अंग्रेजी शासन में अंग्रेजों के चरण-चुम्बक बने हुए भारतीय नरेन्द्रों पर यह कितना चोखा विद्रूप है। इसी तरह के भाव वाली दूसरी अन्योक्ति भी लीजिए :

सिंह सावकनु के भए, शिक्षक आजु शृगाल।
एइ सिखेहैं अब इन्हें, गज-मर्दन को ख्याल॥[1]

इसमें भी वीर क्षत्रिय-कुमारों को शिक्षा देने वाले अंग्रेज अध्यापकों की ओर व्यंग्य है। इसी तरह कुत्ते और सिंह के प्रतीकों में कायर और वीर की चारित्रिक विशेषता व्यक्त करने वाला यह दोहा भी देखिए :

कूकर उदर खलाय कै, घर-घर चाटत चून।
रंगे रहत सद खून सों, नित नाहर नाखून॥[2]

छायावाद-युग

द्विवेदीजी के सुधारकत्व में भाषा तो परिमार्जित हो गई, किन्तु उसमें भावोचित मृदुलता अभी लानी शेष थी। साथ ही इसमें काव्य-कलेवर भी इतिवृत्तात्मक और वस्तु-निष्ठ (Objective) हो चला था। वस्तु-वर्णनों में भी पिष्ट-पेषण ही दिखलाई देने लगा। पन्त के शब्दों में 'भाव और भाषा का ऐसा शुक-प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एक-स्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास और तुकों की ऐसी अश्रान्त उपल-वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है?'[3] इसलिए द्विवेदी-युगीन कवि-कर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी थी; यही प्रतिक्रिया छायावाद-रूप में प्रतिफलित हुई कहलाती है। छायावादी कवि बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी हो गया और अन्तर्जगत् की सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म अनुभूतियों और अमूर्त्त भावों को कल्पना के द्वारा मूर्त्त रूप देकर चित्रित करने लगा। अब काव्य में एक नया ही विषय आ जाने से भाषा में भी वैचित्र्य आना स्वाभाविक था, जिससे वह वाचक न रहकर उपलक्षक और व्यंजक बन गई। इस तरह प्रसाद जी के शब्दों में 'ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा

१. वही, पृ० ८५।
२. वही, पृ० ८।
३. 'पल्लव', पृ० २२, सं० १९५८।

उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ है।'[1] ये वही विशेषताएँ हैं, जो अन्योक्ति-विधान का मेरु-दंड बनी रहती है। इसलिए सारे छायावाद और रहस्यवाद को हम अन्योक्ति के अन्तर्गत करेंगे। हम पीछे देख आए है कि अन्योक्ति-वर्गीय अलंकारों में या तो गुण, क्रिया, आकार-प्रकार या प्रभाव-साम्य के कारण प्रस्तुत के स्थानापन्न अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा प्रस्तुत की अभिव्यक्ति की जाती है या प्रस्तुत अप्रस्तुत की ओर संकेत कर देता है या एक प्रस्तुत से दूसरा प्रस्तुन व्यंग्य होता है। छायावाद-युगीन काव्य-प्रवृत्तियों में भी मुख्यतः यही बातें देखने को मिलती हैं। डॉ० शम्भूनाथ सिंह का भी यही कहना है। 'छायावाद रहस्यवाद की कविताओं में रूपकातिशयोक्ति और अन्योक्ति अलंकारों की प्रचुरता है, क्योंकि इनमें प्रतीकों और लाक्षणिक प्रयोगों के लिए अधिक अवकाश रहता है।'[2] इसके अतिरिक्त छायावाद में हम यह भी देखते हैं कि उसकी रचनाएँ प्रायः गीत-प्रधान हैं। वे मुक्तक दोहे आदि न होकर, गीतियाँ होती हैं और वे भी लघु रूपकात्मक। संस्कृत-साहित्यकारों ने ऐसे रूपक या व्यंग्य को, जो एक वाक्य में समाप्त न होकर संदर्भ—लघु वाक्य-समूह—तक व्याप्त हुआ रहता है, प्रबन्ध के भीतर गिना है।[3] प्रबन्ध ग्रन्थ रूप भी हो सकता है, जैसे 'कामायनी' आदि और सन्दर्भ-रूप भी, जैसे पद या गीतियाँ। क्योंकि रूपक अथवा अन्योक्ति इन दोनों रूप वाले प्रबन्धों में परस्पर-सापेक्ष होकर दूर तक चले जाते हैं, इसलिए ऐसी दीर्घ अन्योक्ति को हमने पद्धति-रूप माना है, मुक्तक नहीं। इस दृष्टि से छायावाद और रहस्यवाद दोनों प्रबन्ध-गत होने से अन्योक्ति-पद्धति के भीतर आते हैं। इसका विस्तृत विवेचन और निरूपण हम आगे पद्धति-प्रकरण में करेंगे। किन्तु छायावाद और रहस्यवाद में कुछ ऐसी अन्योक्तियाँ भी हैं, जो अन्य-निरपेक्ष होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती है, यद्यपि वे स्वयं लघुगीत या गीत-मध्यगत ही क्यों न हों। ऐसी अन्योक्तियाँ अवश्य मुक्तक ही कही जायँगी।

पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी

छायावाद-युग भक्ति-युग की तरह हिन्दी का एक स्वर्ण-युग है। इसमें काव्य-कला अपने जिस सुन्दर रूप में निखरी, उससे हिन्दी-साहित्य सचमुच बड़ा गौरवान्वित हुआ है। 'कामायनी'-जैसी विश्व-विभूति इसी युग की देन है।

---

१. 'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध', पृ० ९३।

२. 'छायावाद युग', पृ० २९९।

३. देखिए, 'काव्य-प्रदीप', पृ० २८३, म० म० गोविन्द; और 'साहित्य-दर्पण', परि० ४, प्रबन्ध-गत व्यंग्य, विश्वनाथ।

जहाँ तक छायावादी कवियों का सम्बन्ध है, वैसे तो जब हिन्दी में छायावादी काव्य-प्रवाह आया, स्वयं फूट पड़ने वाले कुकुरमुत्तों और क्षुपों की सख्या खासी बढ़ी रही, जिनके इर्द-गिर्द कही कर्दम था और कहीं अस्वास्थ्यकर वायु की घुटन। किन्तु जिन सुस्थ, स्थायी वनस्पतियों के रूप में छायावाद अंकुरित-पल्लवित एवं पुष्पित-फलित हुआ, वे हैं पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी। यह बृहत् चतुष्टयी छायावाद का आधार मानी जाती है। इनकी रचनाओं में अन्योक्तियाँ-ही-अन्योक्तियाँ भरी पड़ी हैं। उदाहरण के लिए पन्त की ये अन्योक्तियाँ लीजिए :

सुनता हूँ, इस निस्तल जल में
रहती मछली मोतीवाली,
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल जल-माली ![1]

यह जगत् के मूल में रहने वाले परमार्थ-तत्त्व का वर्णन है। निस्तल जल विश्व-जीवन—संसार—का प्रतीक है। मोती वाली मछली प्रकाशमान परमार्थ का प्रतीक है। तट की जल-माली से अभिप्राय परमार्थ से पृथक्-भूत सांसारिक वृत्तियों से है। सीधा अर्थ यह हुआ कि कवि को इस बात का ज्ञान है कि इस दृश्यमान जगत् के पीछे एक अज्ञात शाश्वत सत्ता विद्यमान है। वह प्रकाश-रूप है। उसका सहसा ग्रहण मछली के ग्रहण के समान बड़ा कठिन है। उसे खोजने और प्राप्त करने के लिए त्याग, तप तथा कष्ट सहन करने पड़ते हैं। तब जाकर कहीं वह सत्ता प्राप्त हो सकती है। विपत्तियों से डरने वाला कायर पुरुष भला उस तत्त्व तक कैसे पहुँच सकता है।[2] साधारण मनुष्य सांसारिक पृथक् भेद-वृत्तियों में ही रमा रहता है। पन्त के इस भाव की तुलना कबीर से कीजिए :

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
हौं बौरी बूड़न डरी, रही किनारे बैठ॥

किन्तु कबीर और पन्त में एक भेद है और वह यह कि जहाँ कबीर उस महा-सत्ता से एकाकार हो जाते हैं, वहाँ पन्त को सूरदास आदि की तरह अपनी पृथक् सत्ता महासत्ता में लीन हुई नहीं भाती। उन्हें स्वयं समुद्र-रूप न होकर उसकी एक छोटी तरंग—अपनी पृथक्-भूत-सी लघु सत्ता—ही पसन्द है। डूबना शब्द श्लिष्ट है। इसका साधारण लौकिक अर्थ से भिन्न दूसरा अर्थ है 'लय हो जाना।' पन्त की एक दूसरी अन्योक्ति भी देखिए :

१. 'गुंजन', पृ० ७१, सं० २०१५।
२. 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः', मुण्डकोपनिषद् २।४।

पीली पड़, निर्बल, कोमल,
कृश-देह-लता कुम्हलाई।
रे म्लान अंग, रँग, यौवन!
चिर मूक, सजल, नत चितवन!
जग के दुख से जर्जर उर,
बस मृत्यु शेष है जीवन![1]

वैसे तो कवि ने चाँदनी का चित्र खींचा है। किन्तु इसका प्रस्तुत रूप-विधान ऐसा है कि इसे देखते ही मानस-चक्षु के आगे एक ऐसा तत्त्व खड़ा हो जाता है, जो चाँदनी-जैसा ही पीला, निर्बल, जर्जर-उर, मृत्यु-शेष आदि विशेषणों से युक्त है और वह है वर्तमान विश्व-मानवता। इस तरह चाँदनी के प्रतीक से पन्त अपनी दुरवस्था में घुले-मरे जाते हुए विश्व-जीवन की ओर भी संकेत कर देते हैं जैसा कि सभी विश्व-कवि किया करते है। स्मरण रहे कि अन्योक्ति का यह चित्र समासोक्ति-रूप है। पन्त वास्तव में प्रकृति-कवि है। यह हिन्दी के शेली हैं। प्रकृति के साथ एकात्म होकर उसके माध्यम से इन्होंने भी शेली की तरह जीवन के जो मधुर-से-मधुर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म एवं उदात्त-से-उदात्त चित्र खींचे हैं, वे हिन्दी-साहित्य के सचमुच अनुपम शोभा-रूप हैं। यही हाल प्रसादजी का भी है। पन्त से भी पहले छायावाद का बीज-वपन करने वाले यही हैं। इनकी अन्योक्ति देखिए :

आलोक किरण है आती, रेशमी डोर खिंच जाती
दृग पुतली कुछ नच पाती, फिर तम पट में छिप जाती,
कलरव कर सो जाते विहंग। (अशोक की चिन्ता)

जीवन की क्षण-भंगुरता का यह कितना मार्मिक चित्र है! आलोक-किरण विराट् चैतन्य के लघुतम अंश का प्रतीक है और रेशमी डोर विविध वृत्तियों से बने सुन्दर जीवन का। दृग-पुतली का नाच जीवन में प्राणियों का विविध विलास एवं चेष्टाएँ हैं, तम-पट मृत्यु है और विहंग प्राणी है। अप्रस्तुत विधान हटाकर स्पष्ट शब्दों में—चैतन्य-कण लेकर प्राणी ससार में आया, नाना सुख-स्वप्न सँजोए, जीवन मे क्षण-भर नाचा-कूदा और फिर काल के गाल में प्रविष्ट हुआ। इसी भाव को प्रसादजी शब्दान्तर में यों अभिव्यक्त करते हैं :

जब पल भर का है मिलना, फिर चिर वियोग में झिलना
एक ही प्रात है खिलना, फिर सूख धूल में है मिलना
तब क्यों चटकीला सुमन रंग!

---

१. गुंजन, पृ० ३४, सं० २०१५।

इसी तरह माधुर्य-भाव का रहस्य लेकर प्रसादजी 'अज्ञात प्रियतम' को संबोधित करके उसके आगे जिस तरह अपने हृदय की दशा का प्रतीकात्मक चित्र रखते हैं, वह भी देखिए :

पतझड़ था, झाड़ खड़े थे
सूखी-सी फुलवारी में,
किसलय नव कुसुम बिछाकर
आये तुम इस क्यारी में। (आँसू)

इसमें 'फुलवारी' और 'क्यारी' हृदय की प्रतीक हैं। इसी तरह पतझड़ अवसाद और उदासी का, झाड़ अवसाद के कारण मरी-सी मनोवृत्तियों का और किसलय तथा नव कुसुम क्रमशः सरसता एवं प्रफुल्लता के प्रतीक है। सासारिक वस्तुएँ अपने क्लेशों और नैराश्यों से जब मानव-हृदय को नीरस और निस्सत्त्व बना देती हैं और मानव को जीवन की कटु सचाइयों का पता चल जाता है, तब ईश्वर एवं उसका भक्ति-भाव ही एक-मात्र ऐसी वस्तु है, जो विपत्ति में उसके सूखे-साखे हृदय में वसन्त की तरह सरसता और प्रफुल्लता भर सकती है। इसी भाव की पन्त से तुलना कीजिए :

धूलि की ढेरी में अनजान
छिपे हैं मेरे मधुमय गान!
कुटिल काँटे हैं कहीं कठोर,
जटिल तरु जाल हैं किसी ओर,
सुमन दल चुन-चुनकर निशिभोर
खोजना है अजान, वह छोर! (पल्लव)

प्रतीकाध्यवसान होने के कारण अन्योक्ति यहाँ अपने अध्यवसित-रूपक के रूप में है। इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद के पिता प्रसाद ही हैं, किन्तु प्रकृति की गोद में नव-जात बालक का पालन-पोषण का भार पन्त के हाथों सौंपकर प्रसाद स्वयं प्रकृति से परे रहस्यमय विराट् पिता की खोज में चल पड़े। अतएव पन्त को हम प्रमुखतः छायावादी और प्रसादजी को प्रमुखतः रहस्यवादी कहेंगे। श्री दीनानाथ 'शरण' ने प्रसाद को हिन्दी का 'गेटे' कहा है, क्योंकि उन्हीं के शब्दों में 'गेटे में जैसी बहुमुखी प्रतिभा और विराट् कल्पना-शक्ति थी, वैसी ही प्रसाद में हम पाते हैं।'[1]

प्रसाद और पन्त के बाद छायावाद के तृतीय स्तम्भ हैं निराला। आप बिलकुल उन्मुक्त-स्वभाव एवं बड़ी दार्शनिक गहराई के कलाकार हैं और इसी-

१. 'हिन्दी-काव्य में छायावाद', पृ० २१४।

लिए प्रसिद्ध अंग्रेजी दार्शनिक कवि ब्राउनिंग से तुलनीय हैं। शचीरानी गुर्टू के शब्दों में 'उनकी दृष्टि के समक्ष भावनाओं के ऐसे सामूहिक रूप आकर उपस्थित होते हैं कि वे निस्सीम के घूँघट-पट में झाँककर देखने का प्रयास करते हैं।'[1] उनकी ओज-भरी एवं स्फुट-मुखी रचनाएँ भी अन्योक्तियों से खूब भरी पड़ी हैं, जो दार्शनिक भी हैं, तथा रहस्यवादी तथा सामाजिक भी। उदाहरण के रूप में इनका पहाड़ से निकलकर बहने वाले क्षुद्र झरने का चित्र देखिए :

अचल के चंचल क्षुद्र प्रपात।
मचलते हुए निकल आते हो
उज्ज्वल घन बन अन्धकार के साथ
खेलते हो क्यों ? क्या पाते हो ? (प्रपात के प्रति)

इस प्रकृति-वर्णन के पीछे संकेत-रूप में जो दार्शनिक रहस्य बोल रहा है, वह यह है कि अचल विराट् सत्ता के पेट में से माया (अन्धकार) को साथ लेकर निकला हुआ क्षुद्र जीव जगत् में क्यों खेल रहा है, और खेलकर क्या पा रहा है ? यह सब एक पहेली ही समझो। यह उल्लेखनीय है कि अन्योक्ति यहाँ अपने समासोक्ति-रूप में है, जिसमें लौकिक वस्तु द्वारा शास्त्रीय वस्तु का निरूपण हो रहा है। इसी तरह निराला की एक रहस्यवादी अन्योक्ति भी लीजिए :

बरसने को गरजते थे
वे न जाने किस हवा से
उड़ गए हैं गगन में घन
रह गए हैं नैन प्यासे !

बेचारी के नयन 'प्रियतम' को देखने के लिए कभी से अकुला रहे हैं। मेघ गरज पड़ते हैं। मुसीबत आ गई, किन्तु उसे विश्वास था कि इस गरज के पीछे निर्मल जल-वृष्टि होगी। भाग्यवश सहसा कहीं से तूफ़ान आ जाता है और मेघों को उड़ा देता है। नयन प्यासे-के-प्यासे रह जाते हैं। सरल भाषा में, साधक साधना-मार्ग की कठिनाइयाँ झेलता हुआ भी कभी-कभी संसारी माया की हवा में बह जाता है और साधना में विफल हो जाता है। निराला ने समाजवादी अन्योक्तियाँ भी लिखी हैं। गुलाब के प्रतीक से वर्तमान युग में दीन-हीन जनता का खून चूसने वाले सम्पत्तिवादी के प्रति फटकार सुनिए :

अबे सुन रे गुलाब !
भूल मत, गर पाई खुशबू रंग ओ' आब

---

१. 'साहित्य-दर्शन', पृ० १३८।

खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट
कितनों को तूने बनाया गुलाम
माली कर रखा सहाय जाड़ा घाम। (कुकुरमुत्ता)

पुरुष-कवियों के साथ कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर समताल चाल चलने वाली स्त्री-कवि श्रीमती महादेवी वर्मा का भी हिन्दी-काव्य की प्रगति में बड़ा महत्त्व-पूर्ण हाथ है। इसमें सन्देह नहीं कि पन्त छायावाद में कोमलता एवं कला-सौष्ठव लाए, प्रसाद ने उसे रहस्यात्मक गहराई दी और निराला ने उसमें पुरुषोचित पौरुष एवं पाण्डित्य भरा, किन्तु इन सब बातों के होते हुए भी छाया-वाद वास्तव में सर्वांगीण न हो पाता यदि इसको महादेवी नारी-स्वभाव-सुलभ करुणा और वेदना की सरिता से सिक्त न करतीं। आप मीरा की तरह प्रिय-विरह में सिसकते अतृप्त-प्रणय की मूर्तिमती हूक हैं। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के शब्दों में "आपकी कविता का ध्यान करते ही घुल-घुलकर गलने वाली शमा, मजार पर जलाया दीपक, ओस के आँसू, कोई अनन्त प्रतीक्षा, अनन्य विरह— ये चित्र हमारी कल्पना में घूम जाते हैं।"[1] श्रीमती वर्मा हिन्दी की रोज़िटी (Rosseti) हैं, रोती रहती है। इन्होंने जो कुछ लिखा वह सब अन्योक्ति-प्राय और करुणा-प्लावित है। उदाहरण लीजिए :

मैं नीर-भरी दुख की बदली
विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी, मिट आज चली। (सान्ध्य-गीत)

इसमें अप्रस्तुत 'बदली' के पीछे दुःख-भरा क्षणभंगुर जीवन अभिव्यक्त है। विस्तृत संसार-रूपी नभ के एक कोने में 'बदली' अर्थात् जीवन प्रकट हुआ। जीवन अपना नहीं है, किसी की प्रेरणा से हुआ है। कल ही तो जीवन-रूपी मेघ की टुकड़ी उमड़ी थी, आज चल पड़ी, समाप्त हो गई। ऐसा क्षण-स्थायी जीवन भी क्या जीवन है! यह तो जीवन की विडम्बना है—दुःख-भरी और करुणा-पूर्ण। देखिए एक छोटी-सी अन्योक्ति ने जीवन का कितना कटु नग्न सत्य खोलकर हमारे समक्ष रख दिया है। बादल की तरह जीवन की क्षण-भंगुरता के लिए संस्कृत की इस अन्योक्ति से तुलना कीजिए :

---

१. 'नया हिन्दी-साहित्य : एक दृष्टि', पृ० ११३।

वितर वारिद ! वारिदवातुरे
चिर पिपासितचातकपोतके ।
प्रचलिते मरुति क्षणमन्यता
क्व च भवान्, क्व पयः, क्व च चातकः ।

फूल के प्रतीक में अपने ठुकराये गए व्यक्तिगत जीवन पर महादेवी की यह अन्योक्ति देखिए :

मत व्यथित हो फूल ! किसको
सुख दिया संसार ने ?
स्वार्थ-मय सबको बनाया
है यहाँ करतार ने ।
कर दिया मधु और सौरभ
दान सारा एक दिन,
किन्तु रोता कौन है
तेरे लिए दानी सुमन ? ('सूखे सुमन', नीहार)

अब महादेवी की एक रहस्यवादी अन्योक्ति भी लीजिए :

चीर गिरि का कठिन मानस
बह गया जो स्नेह निर्झर
ले लिया उसको अतिथि कह
जलधि ने जब अंक में भर
वह सुधा-सा मधुर पल में
हो गया तब क्षार पानी
अमिट यह मेरी कहानी ।[२]

पर्वत के हृदय को चीरकर स्फुटित हुआ झरना बहकर जाते-जाते अन्त में सागर में लीन हो जाता है । उस समय उसका अमृत-सा मधुर जल क्षार रूप हो जाता है । झरने की यह कहानी है और जीव की भी यही कहानी है । जब

१. 'सुभाषितरत्न भाण्डागार', पृ० २१२ ।
हिन्दी-रूपान्तर :

दावानल से तपे हुए चिर-प्यासे,
इस चातक को वारिद ! दो शीघ्र वारि,
झंझा के चल पड़ते ही क्षण-भर में
कहाँ तुम, कहाँ चातक, औ' कहाँ वारि !

२. 'मेरी कहानी', यामा, पृ० १७६ ।

जीव महा सत्ता में लीन हो जाता है, तब उसकी लघु-सत्ता समाप्त हो जाती है, द्वैत भाव सदा के लिए मिट जाता है और एक ही शाश्वत चिरंतन सत्य शेष रह जाता है। यहाँ क्षार शब्द श्लिष्ट है। सागर की तरफ उसका अर्थ है खारा और जीवात्मा की लघु-सत्ता की तरफ है भस्म—समाप्त। यही बात निराला ने भी अपनी 'अचल के चचल क्षुद्र प्रपात' वाली अन्योक्ति में दिखाई है।

प्रगतिवाद

छायावाद-युग अपनी स्वप्न-कल्पनाओं की मृदुल-मधुर लोरियों में जन-मन को अधिक समय तक सुलाए न रख सका। मानव ने जब आँखें खोली, तो अपने को जीवन की ऊबड़-खाबड़ धरा पर खड़ा हुआ पाया। फलतः विचारों में क्रान्ति आ गई, जिसका रूप भौतिक एवं सामाजिक है। कवि को भी फिर बहिर्मुखी होना पड़ा और साहित्य का रुझान जीवन की वास्तविकता की ओर हो गया। अब हमें मार्क्सवाद, वर्ग-संघर्ष, भौतिकता आदि की लम्बी-चौड़ी चर्चा सुनाई पड़ रही है और साहित्य प्रगतिवादी हो चला है। जिस तरह द्विवेदी-युगीन रूढ़िवाद एवं इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया छायावाद के रूप में हुई थी, उसी तरह छायावाद की कल्पनात्मकता, वायवीयता एवं पलायन-वृत्ति के विरुद्ध हुई प्रतिक्रिया को हम प्रगतिवाद के रूप में देख रहे है। प्रगतिवाद का शिलान्यास १९३६ ई० में लखनऊ में हुए प्रथम 'प्रगतिशील लेखक सम्मेलन' के अवसर पर प्रेमचन्दजी के हाथों हुआ था। अपने अध्यक्षीय भाषण में उनकी साहित्य की यह व्याख्या, 'जिसमें जीवन का सौन्दर्य हो, सृजन की आत्मा हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं', साभिप्राय है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रगतिवाद की भित्ति यथार्थवाद है। सामाजिक शोषण का यथार्थ चित्र उपस्थित करके उसका प्रतिशोध करना इसका मुख्य ध्येय है। किसान-मजदूरों के प्रति सहानुभूति, उनकी हिमायत और पूंजीपतियों की भर्त्सना हो रही है। सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह और आक्रोश की भावना खूब जागरूक है। वास्तव में देखा जाय तो ये सब बातें जीवन के सम्बन्ध में एक विचार-विशेष अथवा दृष्टिकोण से सम्बन्ध रखती हैं और यही कारण है कि कुछ समीक्षक प्रगतिवाद को काव्य की वस्तु न मानकर एक विशेष जीवन-सिद्धान्त मानते हैं। सिद्धान्त का काम ज्ञान-प्रसार होता है, जबकि काव्य का काम जीवन-व्यापी अनुभूति; अथवा शब्दान्तर में, एक का सम्बन्ध मस्तिष्क से है, तो दूसरे का हृदय से। तथापि प्रगतिवाद आज साहित्य की वस्तु बन गया है और एक विशेष काव्य-धारा का प्रतिनिधित्व

करता है। हम देखते हैं कि आजकल प्रगतिशील साहित्य का खूब निर्माण हो रहा है। इसमें वस्तु के अपने यथार्थ रूप में होने से अन्योक्ति के लिए वैसे तो कम ही अवसर रहता है, तथापि कभी-कभी वस्तु को अधिक प्रेषणीय, व्यंग्यात्मक एवं चुभती हुई बनाने के लिए अप्रस्तुत रूप में भी रख दिया जाता है। स्वयं छायावादी कवियों ने ही प्रगतिवाद के ऐसे कितने ही प्रतीकात्मक चित्र खींच रखे हैं। वे सब अन्योक्तियाँ है। इन्हें हम प्रतीकात्मक यथार्थवाद (Symbolic Realism) कहेंगे। उदाहरण के लिए पन्त का वासुकि के प्रतीक में नव परिवर्तन का यह चित्र देखिए :

अहे वासुकि सहस्र-फन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर,
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर।
शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर,
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर।
मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त कंचुक कल्पान्तर
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुण्डल
दिङ्मण्डल ! (पल्लव)

इसी तरह 'कण' के प्रतीक में निम्न-वर्ग को जाग्रत और चेतना-सम्पन्न करने वाली निराला की भी एक अन्योक्ति लीजिए :

बीत गए कितने दिन, कितने मास,
पड़े हुए सहते हो अत्याचार,
पद-पद पर सदियों के पद-प्रहार,
बदले में पद में कोमलता लाते,
किन्तु हाय ! वे तुम्हें नीच ही हैं कह जाते। (परिमल)

प्रगतिवादी कलाकार हमें दो दलों में विभक्त मिलते है। भगवतीचरण वर्मा, दिनकर आदि तो ऐसे कवि हैं, जो युग-युग के उत्पीड़न, शोषण एवं अत्याचार के विरुद्ध भीषण क्रान्ति पैदा करके पहले इस गले-सड़े पूँजीवादी समाज का पूरा विनाश देखना चाहते है। विनाश के बाद क्या होगा, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं है। उदाहरण के लिए बादल के प्रतीक में महाक्रान्ति का आमन्त्रण करने वाली भगवतीचरण वर्मा की अन्योक्ति देखिए :

गगन पर घिरो मंडलाकार
अवनि पर गिरो वज्र सम आज

गरज कर भरो रुद्र हुंकार
यहाँ पर करो नाश का साज
नष्ट-भ्रष्ट प्रासाद पड़े हों जल-प्लावित संसार
शून्य कर रहा हो पागल-सी लहरों का अभिसार
नीचे जल हो, ऊपर जल हो ऐ जल के उद्गार !
बरसो बरसो और सघन घन ! महा प्रलय की धार ! (बादल)

यही हाल दिनकर का भी है। 'विपथगा' के प्रतीक मे इसका क्रान्ति-चित्र देखिए :

मुझ विपथगामिनी को न ज्ञात किस रोज किधर से आऊँगी
मिट्टी से किस दिन जाग क्रुद्ध अम्बर में आग लगाऊँगी
आँखों को कर बन्द देश में जब भूकम्प मचाऊँगी
किसका टूटेगा शृंग, न जाने, किसका महल गिराऊँगी
निर्बन्ध, क्रूर, निर्मोह सदा मेरा कराल नर्तन गर्जन। ('विपथगा')

इन कवियों के विपरीत पन्त-जैसे ऐसे भी प्रगतिवादी कवि है, जो महा-विनाश के स्थान मे नव-जीवन देखना चाहते हैं, यद्यपि निस्सन्देह वे यह मानते है कि यह सब होगा परिवर्तन द्वारा ही। उदाहरण के लिए हम पन्त का क्रान्ति-प्रतीक 'कृष्ण घन' लेते हैं, जो भगवतीचरण वर्मा के 'घन' की तरह महाप्रलय बर-साने के लिए न बुलाया जाकर यों नव-जीवन बरसाने के लिए बुलाया जाता है :

मुसकाओ हे भीम कृष्ण घन !
गहन भयावह अन्धकार को
ज्योति-मुग्ध कर चमको कुछ क्षण
दिग् विदीर्ण कर, भर गुरु गर्जन
चीर तड़ित से अन्ध आवरण
उमड़-घुमड़ घिर रूम-झूम हे
बरसाओ नव-जीवन के कण ![1]

क्रान्ति के अतिरिक्त सामाजिक वैषम्य और रूढ़ियों की भर्त्सना के रूप में डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' की भी एक अन्योक्ति देखिए :

क्या खाक़ वसन्त मनाऊँ मैं !
मैं देख रहा आया वसन्त, लेकिन वसन्त का राग नहीं,
वैधव्य भोगती तरु-राजी, कोयल का कहीं सुहाग नहीं ?
सरिताओं का रस सूख गया, लहराते कूप तड़ाग नहीं।

१. 'युगवाणी', पृ० १०५, सं० १९५९।

इसमे तरु-राजी, कोयल आदि सब प्रतीकात्मक हैं। इसी तरह केदारनाथ अग्रवाल भी जीवन के प्रस्तुत दो कटु सत्य हमारे आगे कली और बबूल के प्रतीक-विधान द्वारा यों समानान्तर रखते है :

> **कली निगाह में पली,**
> **हिली-डुली कपोल में,**
> **हृदय प्रदेश में खुली,**
> **तुली हँसी की तोल में।**
> **गरम-गरम हवा चली,**
> **अशान्त रेत से भरी,**
> **हरेक पाँखुरी जली,**
> **कली न जी सकी, मरी।**
> **बबूल आप ही पला**
> **हवा से वह न डर सका**
> **कठोर जिन्दगी चला**
> **न जल सका, न मर सका।**[1]

अन्तिम बबूल वाली अन्योक्ति की बिहारी से तुलना कीजिए :

> **जाके एकाएक हूँ जग व्यवसाय न कोय।**
> **सो निदाघ फूले-फले आकु डहडहे होय ॥**

प्रयोगवाद

हम ऊपर देख आए है कि प्रगतिवाद का कवि-कर्म किस तरह बौद्धिक एवं भौतिक है। वस्तुतः इसमें अनुभूति और तन्मयता—काव्य के दो मूलतत्त्व—सुतरां तिरोहित हैं। उसका प्रतीकवाद भी स्वभावतः वैसा ही बौद्धिक बन गया जैसा भक्ति-युगीन साधनात्मक रहस्यवाद का था। दोनों में भेद इतना ही है कि जहाँ साधनात्मक रहस्यवाद का कार्य-क्षेत्र अन्तर्शरीरी भूमियाँ बना, वहाँ प्रगतिवादी प्रतीक-विधान का कार्य-क्षेत्र अपनी सामाजिक एव राजनीतिक समस्याओं को लिये हुए बाह्य भौतिक जगत्। इस तरह प्रगतिवाद की यथातथ्य काव्य-वस्तु छायावाद की सूक्ष्म कल्पनात्मक वस्तु की प्रतिक्रिया-रूप है। इसके साथ-साथ छायावादी शैली की भी प्रतिक्रिया हुई, जिसका रूप नवीन काव्य-वस्तु के अनुरूप नवीन छन्दों, संकेतों, प्रतीकों एव प्रयोगों द्वारा नवीन उद्भावना तथा नया सादृश्य-विधान रहा। नये प्रयोगों द्वारा शुष्क, प्रगतिवादी काव्य-वस्तु में कुछ संवेदनात्मक और सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति लाने का प्रयत्न अथवा प्रगतिवाद

१. डॉ० भोलानाथ, 'हिन्दी साहित्य', पृ० ३८१।

का साहित्यिकता की ओर प्रत्यावर्तन ही प्रयोगवाद नाम से व्यवहृत होने लगा। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का विश्लेषण एवं परिसीमन करते हुए डॉ० नगेन्द्र का भी कहना है कि छायावाद की वायवी और अत्यन्त सूक्ष्म कोमल काव्य-सामग्री की प्रतिक्रिया स्वरूप ही दो प्रकार की काव्य-रचनाओं का श्रीगणेश हुआ। "एक वर्ग सचेत होकर निश्चित सामाजिक राजनीतिक प्रयोजन से साम्य-वादी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति को अपना चरम लक्ष्य मानकर रचना करने लगा। दूसरे वर्ग ने सामाजिक राजनीतिक जीवन के प्रति जागरूक होते हुए भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाए रखा। उसने किसी राजनीतिक वाद की दासता स्वीकार नहीं की, वरन् काव्य की वस्तु और शैली-शिल्प को नवीन प्रयोगों द्वारा आज के अनेक रूप, अस्थिर, चिर-प्रयोगशील जीवन के उपयुक्त बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया। पहले वर्ग को हिन्दी-साहित्य में प्रगति-वादी और दूसरे को प्रयोगवादी नाम दिया गया है।"[1] वैसे तो हम देखते हैं कि विश्व-साहित्य में महान् कलाकार नवीन प्रयोग सदैव करते आए हैं और नव-प्रयोग की प्रवृत्ति ही साहित्य को गतिशील बनाए रखती है, लेकिन आजकल हिन्दी-साहित्य में प्रयोगवाद शब्द आधुनिक काल की कविता की उपरोक्त प्रवृत्ति-विशेष में रूढ़-सा हो गया है। इसमें शब्द-प्रयोग तथा सादृश्य-विधान बिलकुल वैयक्तिक होते हैं, भाषा की समास-शक्ति पर बड़ा जोर रहता है और व्यंजना को शब्द और अर्थ के अतिरिक्त टेढ़े-मेढ़े वर्णों, लकीरों, यहाँ तक कि विरामादि-चिह्नों, तक घसीट लाया जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रहे कि प्रयोगवादियों के प्रतीक अन्य कवियों की तरह बिलकुल ही निगीर्ण नहीं रहते। वे बीच-बीच में कुछ-कुछ अनिगीर्ण—व्यक्त—भी होते चलते हैं जिससे प्रस्तुत सत्य अंशतः प्रकट होता जाता है। अज्ञेय, भारत भूषण, माचवे, गजानन, माथुर, व्यास, शमशेरबहादुर सिंह आदि आलोच्य काव्य-धारा के प्रमुख कवि हैं। जहाँ तक अन्योक्ति का प्रश्न है, उसे हम प्रयोगवाद में पर्याप्त मात्रा में पाते हैं और वह भी अपने बिलकुल नये रूप में। उदाहरण के लिए शमशेरबहादुर सिंह की कविता 'माई' को लीजिए :

> **तरु गिरा**
> **जो**
> **झुक गया था, गहन**
> **छायाएँ लिये।**
> **अब**

---

१. 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ', पृ० ११३।

हो उठा है मौन का उर
और भी मौन···[1]

यह गिरते तरु के प्रतीक में 'माई'—वृद्धा—की मृत्यु का कितना करुण चित्र है। इसी तरह 'ताजा पानी' के प्रतीक में मार्क्सवादी दृष्टिकोण की आवश्यकता पर ज़ोर देते हुए शकुन्तला माथुर द्वारा खींचा हुआ वर्षों के सड़े-गले पूँजीवाद का चित्र भी देखिए :

धरा पर गन्ध फैली है
हवा में साँस भारी है
रमक उस गन्ध की है
जो सड़ाती मानवों को
बन्द जेलों में।
सुबह में
साँझ में है
घुल रहा
यह रक्त का सूरज।[2]

यहाँ गन्ध और सूरज प्रतीकात्मक हैं, किन्तु 'सड़ाती मानवों को बन्द जेलों में' द्वारा प्रस्तुत को अंशतः वाच्य बना देने से अन्योक्ति-विधान त्रुटिपूर्ण हो जाता है। हरिनारायण व्यास द्वारा 'घन' के प्रतीक में खींचा हुआ नेहरूजी का चित्र भी देखिए :

कण्टकों की भीड़।
लम्बे चीड़ तक के नीड़ सब खाली पड़े हैं।
गिर गए पक्षी सुनहली पाँख वाले
आज असमय की भयानक उष्ण भापों ने
झुलस उनका दिया तन
भुन गया जीवन सदा को।
आज केवल एक तू ही छा रहा सूखे गगन में
श्याम घन।[3]

प्रयोगवादी कवियों ने स्वतन्त्र प्रकृति के भी कितने ही मार्मिक चित्र खींचे हैं, किन्तु उनमें भी गहरी अप्रस्तुत-व्यंजना रहती है, इसलिए समासोक्ति-रूप होने

१. 'दूसरा सप्तक', पृ० ११२।
२. वही, पृ० ५२।
३. वही, पृष्ठ ६५।

से वे भी अन्योक्तियाँ है। व्यास का ही 'शिशिरान्त' चित्र देखिए :

हो चुका हेमन्त
अब शिशिरान्त भी नजदीक है।
पात पीले गिर चुके तरु के तले
आज ये संक्रान्ति के दिन भी चले।
नाश का घनघोर नक्कारा
सुबह के आगमन की गूँज देकर
डूबता जाता विगत के गर्भ में।
भागता पतझार अपनी ध्वंस की गठरी समेटे।[1]

इस प्रकृति-चित्र में जगत् से विनश्यमान पूँजीवाद की ओर संकेत है। संक्रान्ति शब्द श्लिष्ट है।

1. वही, पृ० ७७।

४ : संस्कृत-साहित्य में अन्योक्ति-पद्धति

अन्योक्ति का अलंकार के रूप में विस्तृत विवेचन हम कर आए हैं। वही अन्योक्ति जब अपने चुटकीले-चुभते विद्रूप (Satire) या व्यंग्य के रूप में मुक्तक-बद्ध न होकर व्यापक बन जाती है अथवा एक प्रबन्ध के रूप में हमारे सामने आती है, तब हम उसे पद्धति कहेंगे। अन्योक्ति-पद्धति में हम किसी आख्यान को—चाहे वह भौतिक, दैविक या अन्य प्रकार का हो—प्रतीक बनाकर उसके द्वारा जीवन की किसी समस्या, रहस्य अथवा सिद्धान्त को अभिव्यक्ति देते हैं। साहित्यिक परिभाषा में हम इस वृहद् अन्यापदेश को प्रबन्ध-गत व्यंग्य-काव्य के अन्तर्गत करेंगे।[1] आजकल इसे साधारणतः 'रूपक-काव्य' (Allegory) के नाम से पुकारा जाता है। मुक्तक-अन्योक्ति में तो पूर्वा-पर-सम्बन्ध रखे बिना एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप रहता है और वह अपने में स्वतन्त्र रहती है, किन्तु रूपक-काव्य में ऐसी बात नहीं। यहाँ तो पूर्वापर-सम्बन्ध रखते हुए एक कथानक पर दूसरे कथानक का आरोप होता है। एक कथा प्रस्तुत रहती है और दूसरी अप्रस्तुत। कहीं श्लिष्ट भाषा रहती है और कहीं नहीं। जायसी का 'पद्मावत' तथा अन्य सूफ़ी कवियों के प्रेमाख्यान एवं प्रसाद की 'कामायनी' आदि रचनाएँ 'रूपक-काव्य' या 'अन्योक्ति-काव्य' कही जाती है। जैसा कि हम देख आए हैं, आचार्य शुक्ल ने 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका में 'पद्मावत' के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठा रखा है कि 'पद्मावत' को अन्योक्ति कहें या समासोक्ति।[2] आपके विचार में जहाँ ऐतिहासिक अर्थ प्रधान अथवा प्रस्तुत है और अभिव्यज्यमान आध्यात्मिक अर्थ गौण एवं अप्रस्तुत है, वहाँ समासोक्ति ही मानी जानी चाहिए, अन्योक्ति नहीं; क्योंकि अन्योक्ति (अप्रस्तुत प्रशंसा) अप्रस्तुत से प्रस्तुत व्यंग्य होने पर ही हुआ करती है, प्रस्तुत से अप्रस्तुत व्यंग्य में नहीं। अन्योक्ति उन्ही स्थलों में हो सकती है जहाँ 'पद्मावत'

अन्योक्ति-पद्धति का स्वरूप

१. प्रबन्धेऽपि मतो धीरैरर्थशक्त्युद्भवोध्वनिः, 'साहित्य दर्पण', ४।२८८।

२. पृष्ठ, ५६, ५८।

में आध्यात्मिक अर्थ प्रधान अथवा प्रस्तुत है और वर्ण्यमान अर्थ गौण। किन्तु जायसी ने ग्रन्थ के अन्त में स्वयं अपने आख्यान को अन्योक्ति-परक ही स्वीकार किया है।[1] वास्तव में देखा जाय तो अन्योक्ति-पद्धति को आजकल व्यापक परिधि में लिया जाना चाहिए, रूढ़, संकुचित परिधि में नहीं। जैसा कि अन्योक्ति का वर्गीकरण हम पीछे कर आये हैं, इसके भीतर अप्रस्तुत-प्रशंसा, समासोक्ति, रूपकातिशयोक्ति, प्रस्तुतांकुर और श्लेष, ये सभी आ जाते हैं। प्रसाद के विचारानुसार उनकी 'कामायनी' में स्थूल ऐतिहासिक अर्थ प्रस्तुत है और व्यज्यमान सूक्ष्म दार्शनिक अर्थ अप्रस्तुत। किन्तु फिर भी उसे साधारणतः रूपक-काव्य या अन्योक्ति-काव्य ही कहा जाता है। महादेवी वर्मा ऐसी रचनाओं को 'रूपक-काव्य' नाम से ही पुकारती हैं। इसलिए हमारे विचार से प्रस्तुत-अप्रस्तुत का विवाद न उठाकर अन्य अर्थ की प्रतीति-मात्र में अन्योक्ति-पद्धति को स्वीकार कर लेना चाहिए। सांकेतिक कथाओं के अतिरिक्त आजकल प्रतीकात्मक भाषा में लिखी जाने वाली भावात्मक गीतिकाएँ भी अन्योक्ति-पद्धति में अन्तर्भुक्त होती हैं, क्योंकि वे प्रबन्धगत हैं। 'काव्य प्रदीप' के अनुसार प्रबन्ध जैसे ग्रन्थ रूप में गृहीत होता है, वैसे ही वाक्य-संदर्भ रूप में भी।[2] रामदहिन मिश्र को भी प्रबन्ध के ये दोनों रूप अभिप्रेत है।[3] अतएव रहस्यवादी एवं छायावादी युगों की सूक्ष्म एवं मृदुल अनुभूतियों की संकेतात्मक कविताओं अथीगवा!तिकाओं में भी अन्योक्ति-पद्धति ही काम करती रही है।

अन्योक्ति-पद्धति वेदमूलक

अन्योक्ति-मुक्तक की तरह अन्योक्ति-पद्धति भी सुतरां वेदमूलक है। वेदों के सम्बन्ध में हम पीछे कह आए हैं कि उनमें काव्य के सभी तत्त्व मौजूद हैं। जहाँ समूचा विश्व स्वयं परमात्मा की एक मनोरम मूर्त्त कविता है, वहाँ वेद उसीका भव्य वागात्मक रूप है। इसीलिए यदि 'यजुर्वेद' ने उसे 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः'[4] कहा है, तो 'ऋग्वेद' ने 'कवि कवीनामुपमश्रवस्तमम्'[5] कहकर प्रसिद्धतम महाकलाकार के रूप में चित्रित किया है। फलतः वेदों में लाक्षणिकता, व्यंजकता और उपमा-रूपक

१. 'जायसी ग्रन्थावली', पृष्ठ ३०१, सं० २००८।
२. प्रबन्धत्वं च संघटितनानावाक्यसमुदायः। स च ग्रंथरूपस्तदवान्तरप्रकरण-रूपश्चेति। ४।१८।
३. 'काव्यालोक', पृ० २८३।
४. ४०।८ तथा ईशावास्योपनिषद्, मंत्र ८।
५. २।२३।१

आदि अलंकरण-सामग्री, सभी काव्यापेक्षित तत्त्वों का होना स्वाभाविक ही है। पूर्वमीमांसाकार महर्षि जैमिनि ने वेद-मन्त्रों का अर्थ करते हुए कितने ही सूत्रों द्वारा वेदों में गुणवाद अथवा लाक्षणिकता स्वीकार कर रखी है।[1] इन्हीं वैदिक काव्य-तत्त्वों ने निस्सन्देह बाद के लौकिक साहित्य को अनुप्राणित किया है। जहाँ तक छायावाद के माधुर्य-भरे भावात्मक प्रकृति-रूपकों और छाया-चित्रों एवं रहस्यवाद के समस्त जगत् के पीछे एक रहस्यमय तत्त्व की दिव्य अनुभूति का प्रश्न है, इसके विषय में कुछ समालोचकों का विचार है कि यह हिन्दी-साहित्य में एक आयात वस्तु है। वे यूरोप के उन्नीसवीं शताब्दी के रोमाञ्चक पुनर्जागरण (रोमैटिक रिवाइवल) में इसका बीज देखते हैं। वास्तव में यह उनकी भ्रान्ति है। इसमें सन्देह नहीं कि पश्चिमी रोमानी प्रवृत्तियों का हिन्दी-साहित्य के इस क्षेत्र पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, किन्तु बीज रूप में हिन्दी-साहित्य अपने अन्य अंगों की तरह इस विषय में भी प्राचीन संस्कृत-साहित्य का ही उपजीवी है, विदेशियों का नहीं। कौन नहीं जानता कि भारत चिरकाल से धर्मप्राण देश बना चला आ रहा है। वह उपनिषदों और दर्शनों का घर है। पहले-पहल उसी की सूक्ष्म दृष्टि ने तो समस्त जगत् में व्याप्त एक विराट् सत्ता—आत्मा—की खोज की थी। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन' का आदि-नारा यहीं उठा था। वास्तव में अधिकांश वेद हमारे तत्व-चिन्तनों तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों एवं अनुशीलनों की ही अभिव्यक्ति हैं। अपने आस-पास वृक्ष-लता, पर्ण-पुष्प, नदी-पर्वत, सूर्य-चन्द्र, रात्रि-उषा, पशु-पक्षी और अन्य सभी प्रकृति-उपकरणों में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का मानदण्ड लेकर चेतनता मापते हुए वैदिक ऋषियों को आनन्दोल्लास के साथ जिस सर्वात्मवाद (Pantheism) की सूक्ष्म अनुभूतियाँ हुआ करती थीं, वे ही अधिकतर वेद-गीतों में मुखरित हैं। हिन्दी के छायावाद और रहस्यवाद का मूल मन्त्र भी तो सर्वात्मवाद ही है। इसलिए महादेवी के शब्दों में "हमारे यहाँ तत्त्व-चिन्तन का बहुत विकास हो जाने के कारण जीवन-रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए एक संकेतात्मक शैली बहुत पहले बन चुकी थी। अरूप-दर्शन से लेकर रूपात्मक काव्य-कला तक सबने एक ऐसी शैली का प्रयोग किया है, जो परिचित के माध्यम से अपरिचित और स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म तक पहुँचा सके।"[2] यही संकेतात्मक शैली 'अन्योक्ति-पद्धति' कहलाती है, जो एक शुद्ध भारतीय वस्तु

१. "गुणवादस्तु", १।२।१०, "अर्थवादो वा", १।२।४०, "गुणादप्रतिषेधः", १।२। ४८, "अभिधानेऽर्थवादः", १।४।४७।

२. 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', पृ० ९२।

हैं, आयात नहीं।

वेदों में हम देखते हैं कि आदि-ऋषियों ने प्रकृति के उपकरणों—अग्नि वायु, उषा, आदि—में चेतनता का आरोप करके उनसे उसी प्रकार आत्मीयता की अभिव्यक्ति कर रखी है जैसे आजकल के छायावादी किया करते है। 'ऋग्वेद' तो आद्य-सूक्त के आद्य-मन्त्र 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादि में ही अग्नि के चेतनीकरण से आरम्भ होता है और अपने अन्तिम वृषन्नग्ने' इत्यादि मन्त्र में अग्नि के चेतनीकरण से ही समाप्त भी होता है। वास्तव में वेद का अधिदेव-सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि हिन्दू संस्कृति का सारा उपासना-सिद्धान्त भी प्रतीकवाद पर ही आधारित है। मोहेंजोदड़ो के उत्खनन एवं पुरान्वेषण ने तो प्रागैतिहासिक काल में भी प्रतीकोपासना का होना सिद्ध कर दिया है। उस समय भी अग्नि आदि प्रकृति-उपकरणों के चेतनीकरण के प्रमाण प्राप्त हो गए है, जो बाद को वैदिक काल में भी यथावत् आये हुए हैं। हम मानते हैं कि वेद के प्रकृति-रूपकों में आजकल की छायावाद एवं रहस्यवाद जैसी रागात्मक अनुभूति, रसात्मक संवेदन एवं मधुर-कल्पना अथवा वायवीयता (Etherealness) नहीं है, प्रत्युत इनके स्थान में विस्मय-मिश्रित उदात्त भावना एवं चिन्तन की गहराई है। किन्तु जहाँ तक प्रतीक-पद्धति का सम्बन्ध है, उसमें कोई अन्तर नहीं। वह तो दोनों जगह एक-जैसी ही है। तुलना के लिए यदि हम 'ऋग्वेद' के प्रथम मण्डल के ११३ वें और १२४ वें उषा-सूक्तो को लेकर देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि वहाँ उषा के मानवीकरण का वैसा ही जीवन्त चित्रण है जैसा कि छायावाद में होता है। उदाहरण के लिए वहाँ का एक मन्त्र देखिए :

वेदों में अन्योक्ति-पद्धति

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि
ज्योतिर्वसना समना पुरस्तात् ।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु,
प्रजानतीव न दिशो मिनाति ॥[1]

इसकी निम्न उषा-चित्रों से कितनी समानता है :

१. **हिन्दी-रूपान्तर :**

यह देवलोक की दुहिता दीखी,
फूली मन में पहने ज्योति-वसन ।
खोल कपाट दिशों का पूरब से,
करती परिचित-सा प्रियमार्ग गमन ।

'आलोक-रश्मि से उषा-अंचल में बुने आन्दोलन अमन्द ।'

× × ×

घूँघट खोल उषा ने झाँका और फिर,
अरुण अपांगों से देखा कुछ हँस पड़ी ।
लगी टहलने प्राची के प्रांगण में तभी । (प्रसाद)

रहस्यवाद में प्रथम भूमिका जिज्ञासा की मानी जाती है।[१] महादेवी के कथनानुसार 'अथर्ववेद' का कवि प्रकृति और जीवन की गतिशीलता को विविध प्रश्नों का रूप देता है :

कथं वातं नेलयति कथं न रमते मनः ।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीनेलयन्ति कदाचन ॥[२]

ऐसी जिज्ञासा ने हमारे हिन्दी-काव्य को भी एक रहस्यमय सौन्दर्य दिया है :

किसके अन्तःकरण अजिर में,
अखिल व्योम का लेकर मोती ।
आँसू का बादल बन जाता,
फिर तुषार की वर्षा होती । (प्रसाद)

अलि ! किस स्वप्नों की भाषा में,
इंगित करते तरु के पात ?
कहाँ रात को छिपती प्रतिदिन,
वह तारक-स्वप्नों की रात ? (पन्त)

स्वयं महादेवी का भी तो यही गीत-स्वर है :

प्रथम छूकर किरणों की छाँह
मुस्कराती कलियाँ क्यों प्रात ?
समीरण का छूकर चल छोर
लौटते क्यों हँस-हँसकर पात ?

---

१. 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', पृ० ८३ ।

२. हिन्दी-रूपान्तर :

यह समीर क्यों नहीं ठहरती ?
क्यों नहिं मन एक जगह रमता ?
सत्य कौन-सा पाने को यह
जल है अविरत जाता बहता ?

स्पष्ट है कि प्रतीक-पद्धति पर चलने वाले छायावाद और रहस्यवाद की दोनों धाराओं का उदय बहुत पहले हमारे यहाँ हो गया था और वे सुतरां वेद-मूलक ही हैं।

वेदों में रूपक-काव्य के तत्त्व

अब रही बात एक कथानक पर दूसरे कथानक के आरोप की। वह तो वेदों में प्रचुर मात्रा में मिलती है। निरुक्तकार यास्क मुनि ने अपने ग्रंथ में वैदिक मन्त्रों तथा आख्यानों का भाष्य करते हुए स्थान-स्थान में 'इत्यधियज्ञम्' 'इत्यधिदैवतम्' यों एक अर्थ लिखकर बाद को 'अथाध्यात्मम्' 'अथाधिदैवतम्' लिखते हुए दूसरे अर्थ को भी स्पष्ट कर रखा है। वेद-भाष्यकार सायणाचार्य यद्यपि अधिकतर यज्ञ-परक और देवता-परक ही रहे तथापि कहीं-कहीं उन्होंने भी 'अध्यात्मपक्षे' लिखकर वेदों में प्रस्तुत या अप्रस्तुत अर्थ से भिन्न अर्थ को भी स्वीकार किया है। वर्तमान युग में अपनी यौगिक अनुभूतियों के आधार पर वेदार्थ को एक नया आलोक देने वाले योगिराज अरविन्द घोष तो सारे ही वैदिक वाङ्मय को 'सन्ध्या-भाषा' में लिखी हुई रहस्यात्मक रचनाएँ मानते हैं। उनके विचारानुसार इस (वेद) की भाव: को ऐसे शब्दों और अलंकारों में आवृत कर दिया गया था जो कि एक ही साथ विशिष्ट- लोगों के लिए आध्यात्मिक अर्थ तथा साधारण पूजार्थियों के लिए एक स्थूल अर्थ प्रकट करती थी।[1] वेद के प्रतीकवाद का आधार यह है कि मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है, एक यात्रा है, एक युद्ध-क्षेत्र है। ये रहस्यमय (वेद के) शब्द हैं, जिन्होंने कि सचमुच रहस्यार्थ तो अपने अन्दर रखा हुआ है, जो अर्थ पुरोहित, कर्मकाण्डी, वैयाकरण, पण्डित, इतिहासज्ञ तथा गाथा-शास्त्री द्वारा उपेक्षित और अज्ञात् रहा है। योगिराजजी ने वेद-गत इन्द्र, अग्नि, सोम आदि प्रतीकों के पीछे प्रतीयमान अन्तर्जगत् के आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का अपने वेद-रहस्य (The Secret of the Vedas) में बड़े विस्तृत और विश्वस-नीय ढंग से स्पष्टीकरण कर रखा है। वेद-व्याख्यानभूत ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा पुराणों में हमें इन्हीं प्रतीयमान अर्थों की विस्तृत व्याख्याएँ मिलती हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी में वर्तमान काल की सर्वश्रेष्ठ मानी जाने वाली कृति 'कामायनी' को ही लीजिए। प्रसाद ने इसके 'आमुख' में स्वयं अपने रूपक-काव्य का आधार 'ऋग्वेद' और 'शतपथ-ब्राह्मण' को माना है और उन-उन मन्त्रों और सन्दर्भों को उद्धृत भी कर रखा है, जिनसे उन्होंने अपने काव्य के लिए मूल प्रेरणा ली है। इस तरह मनु के आख्यान के आवरण में आध्यात्मिक एवं

१. 'वेद-रहस्य', पृ० ११, १४, १५, अनुवादक, आचार्य अभयदेव विद्यालंकार।

मनोवैज्ञानिक समस्याओं के विश्लेषण की मूल भावना कवि को वेदों से प्राप्त हुई है। 'कामायनी' में वे दार्शनिक समस्याएँ क्या हैं, इसका विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे। वैदिक ग्रन्थों में मनु-श्रद्धा-विषयक आख्यान के ठीक समानान्तर यम-यमी एवं पुरूरवा-उर्वशी आदि के आख्यान भी मिलते हैं। इन कथानकों में परस्पर बड़ा साम्य है। मनु का पुत्र 'मानव' होता है, तो पुरूरवा का पुत्र 'आयु'। उर्वशी के निरूपण प्रसंग में निरुक्तकार यास्क ने आयु का "आयोः अयनस्य (गमनशीलस्य) मनुष्यस्य"[1] अर्थ करके पुरूरवा-उर्वशी से होने वाली मनुष्य-सृष्टि की ओर संकेत किया है। यम-यमी का इतिहास भी मनु-श्रद्धा के इतिहास से बहुत मिलता-जुलता है। इनमें भी 'कामायनी' के कथानक की तरह दार्शनिक एवं वैज्ञानिक रहस्य भरे पड़े हैं, जो कि प्रतीक-पद्धति से प्रतिपादित हैं। वैदिक साहित्य में बिखरे पड़े यम-यमी और पुरूरवा-उर्वशी आदि से सम्बद्ध ऐतिहासिक सूत्रों को बटोरकर इनमें भी प्रसाद की तरह किसी भी सुनिपुण कलाकार को अच्छे रूपक-काव्यों की प्रचुर निर्माण-सामग्री उपलब्ध हो सकती है।

इन्द्र-वृत्र उपाख्यान में विज्ञान-रहस्य

उपर्युक्त आख्यानों के अतिरिक्त अब इन्द्र और वृत्र के प्रसिद्ध आख्यान को भी लीजिए, जो कि न केवल वैदिक साहित्य वरन् सम्पूर्ण संस्कृत-वाङ्मय पर छाया हुआ है। 'ऋग्वेद' में इन्द्र-वृत्र के संघर्ष पर सूक्त-के-सूक्त भरे पड़े हैं। पुराणों में भी इसका विस्तृत वर्णन आता है। ऐतिहासिक दृष्टि से वृत्र एक असुर था, जो त्वष्टा का पुत्र था। किन्तु नैरुक्तों की तरफ से यास्क ने वृत्र को मेघ का प्रतीक और इन्द्र को वायु का प्रतीक माना है। वायु और मेघ के संघर्ष में जल और बिजली के संयोग से चमक तथा गर्जन-तर्जन के साथ होने वाली वृष्टि की विज्ञान-प्रक्रिया मानी है।[2] इनके विचारानुसार युद्ध के रूप में वर्णन तो औपमिक—प्रतीकात्मक—ही है। इस तरह श्री रामगोविन्द त्रिवेदी के शब्दों में 'इन्द्र-वृत्र-युद्ध एक अप्रस्तुत-प्रशंसा (अन्योक्ति) है, जिसका प्रस्तुत प्रतिपाद्य भौतिक-विज्ञान है।'[3] सायणाचार्य वृत्र से कहीं असुर अर्थ और कहीं मेघ अर्थ लेकर इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चया-

१. 'निरुक्त', १०।४।४१ एवं ११।४।४६।
२. तत् को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषां च मिश्रीभावकर्मणा वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। निरुक्त २, ५, १६।
३. 'हिन्दी ऋग्वेद', भूमिका पृ० २६।

त्मक सिद्धान्त स्थापित नहीं कर सके। वस्तुतः वेदों में इन्द्र-वृत्र की सारी बातें वायु और मेघ दोनों की तरफ भी लगकर परस्पर ऐसी घुली-मिली मिलती हैं कि उनको एक-दूसरे से पृथक् करके अपना कोई ऐकान्तिक निर्णय देना किसी भी व्याख्याकार के लिए एक असम्भव बात है। नैरुक्तों के कहने-मात्र से इन्द्र-वृत्र-युद्ध की ऐतिहासिकता का एकदम अपलाप भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि इन्द्र-वृत्र-युद्ध की घटना इतनी प्रसिद्ध है कि उसका वैदिक इतिहास में ही नहीं, अपितु पारसियों के 'अवेस्ता' एवं ईरानी पुराण-ग्रन्थों में भी उल्लेख हुआ मिलता है। किन्तु इसकी शब्द-निर्वाचना ऐसी साभिप्राय है कि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर स्वतः विज्ञान-सम्बन्धी अर्थ भी यों अभिव्यक्त हो जाता है जिस तरह कि 'कामायनी' एवं 'पद्मावत' के कथानकों के पीछे आध्यात्मिक और दार्शनिक रहस्य। यह संकेत-पद्धति का ही कार्य है।

उपर्युक्त इन्द्रवृत्र-युद्ध में वृष्टि-विज्ञान के साथ-साथ प्रकारान्तर से अध्यात्म-विज्ञान की व्यंजना भी है, क्योंकि यह युद्ध अपने में स्वतन्त्र न होकर उस बृहत् और व्यापक देवासुर-संघर्ष की एक कड़ी-मात्र है, जिसमें समस्त वैदिक और लौकिक वाङ्मय ओत-प्रोत है। हम बाह्य-प्रकृति में रात-दिन संघर्ष देखते हैं। प्रकृति का एक पक्ष जनन, जीवन, सुख एवं अमृत-दान द्वारा मानव को अमरत्व-पद पर प्रतिष्ठापित करता है, तो दूसरा पक्ष ह्रास, क्षय, दुःख एवं विष द्वारा उसे मृत्यु की ओर ले जाता है। हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर, वृष्टि, आतप और वसन्त आदि के द्वारा जगत् का निर्माण होता है, वहाँ दूसरी ओर, आँधी, भूचाल, हिम एवं हेमन्त आदि द्वारा उसका संहार। यही दो प्रकृति के प्रवृत्ति और निवृत्ति पक्ष अथवा निर्मापक और विनाशक शक्तियाँ या देव और असुर तत्त्व कहलाते हैं। क्योंकि मानव भी एक प्रकृति-निर्मित जीव है, इसलिए मानव-मानव तथा राष्ट्र-राष्ट्र के बीच स्मरणातीत काल से चले आने वाले युद्धों और महायुद्धों में इन्ही दो तत्त्वों का मुखरण है, जिनसे मानव-समाज का कभी निर्माण और कभी विनाश होता जाता है। वास्तव में देखा जाय, तो मानव के बाह्य जगत् का यह दृश्यमान संघर्ष उसके अदृश्य अन्तर्जगत् के संघर्ष का ही प्रतिक्रियात्मक रूप है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' सिद्धान्त के अनुसार उसका अन्तर्द्वन्द्व ही बाह्य संघर्ष का कारण है। हमारे अध्यात्म की सद्वृत्तियाँ— शान्ति, क्षमा, करुणा, मैत्री इत्यादि—बाह्य जगत् का सृजन करती हैं और उसकी असद् वृत्तियों—काम, क्रोध, मोह, लोभ इत्यादि—से उसका विनाश होता है। इन दोनों वृत्तियों से

इन्द्र-वृत्र-संघर्ष में दार्शनिक रहस्य

बने हुए प्राणी-वर्ग की सृष्टि को गीता के शब्दों में क्रमशः 'देव और असुर'[1] कह सकते हैं। इस तरह हमारे साहित्य में देवासुर-संघर्ष के आख्यानों में इस आध्यात्मिक रहस्य का स्पष्ट संकेत रहता है और डॉ० फतहसिंह के शब्दों में 'ऐतिहासिक कथानकों द्वारा दार्शनिक तत्त्व-निरूपण करने की प्रथा भारतीय साहित्य में व्यापक है।'[2] यह सब प्रतीक-पद्धति कहलाती है। उपनिषद्-भाष्यकार स्वा० शंकराचार्य ने तो देवासुर-संग्राम का कोई ऐतिहासिक आधार—मानवीय सत्ता—ही न मानकर कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की तरह शुद्ध आध्यात्मिक तथ्यों को ही देवासुर-जीवन का परिधान पहना दिया है। उनके विचारानुसार देव 'सात्विक इन्द्रिय-वृत्तियाँ' और असुर 'तमोरूप इन्द्रिय-वृत्तियाँ' हैं और इन सात्विक एवं तामसिक वृत्तियों का परस्पर-सघर्ष ही 'देवासुर संघर्ष' है।[3] इसी तरह मुस्लिम धर्म के उदय होने से बहुत पहले पवित्र आचरण को महत्त्व देने वाले ज़रथुस्त्र (Zoroaster) द्वारा ईरान में ६०० ई० पूर्व प्रवर्तित प्राचीन धर्म भी, जो विश्व के लिए एक बड़ी भारी देन माना जाता है, 'सत्' और 'असत्' इन दो शक्तियों के मध्य संघर्ष को ही जीवन मानता है। 'सत्' का देवता अहुरमज़्द तथा असत् का अहिर्मन मानव-हृदय को अपनी रणस्थली बनाकर सदा जूझते रहते हैं, किन्तु अन्त में विजय अहुरमज़्द की ही होती है, एवं सत्य और पवित्राचरण से मानव को स्थायी शान्ति मिलती है। ज़रथुस्त्र के उपदेश 'अवेस्ता' में संगृहीत हैं, जो ज़ैन्द भाषा में लिखा हुआ है। ईरानी साम्राज्य के नष्ट किये जाने पर ज़रथुस्त्र धर्म भी ईरान में नष्ट हो गया। ईरान से भाग निकलकर भारत में बसे हुए पारसियों का अब तक यही धर्म है। इस प्रकार भारतीय प्राचीन साहित्य मे प्रतिपादित देवासुर-युद्ध की तरह पारसी धर्म के अहुरमज़्द और अहिर्मन का संघर्ष भी स्पष्टतः प्रतीकात्मक है।

वेदों के पश्चात् हमारे लौकिक काव्यों में आदि ऐतिहासिक महाकाव्य

---

१. द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर उच्यते। १६।६।

२. 'कामायनी-सौन्दर्य', पृष्ठ १६०, प्रथम संस्करण।

३. देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे, उभये प्राजापत्याः।

—'छान्दोग्योपनिषद्' अध्या० १, खण्ड २।

शां० भा० "देवासुरा देवाश्चासुराश्च। देवा दीव्यतेर्द्योतनार्थस्य शास्त्रोद्भासिता इन्द्रिय-वृत्तयः। असुरास्तद्विपरीता स्वेष्वेवासुषु विष्वग्विषयासु प्राणनक्रियासु रमणात् स्वाभाविक्यस्तमआत्मिका इन्द्रिय-वृत्तय एव। इत्यन्योन्याभिभवोद्भवरूपः संग्राम इव सर्वप्राणिषु प्रतिदेहं देवासुर-संग्रामोऽनादिकालप्रवृत्त इत्यभिप्रायः।"

(Epic) वाल्मीकि-रचित रामायण है। रामायण के वर्तमान रूप में लिपिबद्ध होने से कई वर्ष पूर्व राम की अलौकिक वीरता की कहानी जनसाधारण के मुख-मुख में बसी एवं शतधा गाई जाती हुई चिरकाल तक भारतीय गगन-मण्डल को मुखरित करती रही होगी।[1] राम का सर्वप्रथम उल्लेख हमें 'ऋग्वेद' में मिलता है।[2] तब से लेकर यज्ञों, पर्वों, एवं उत्सवों पर कुशीलवों द्वारा प्रगीत राम-कहानी में समय-समय पर काव्य-तत्त्व प्रवेश करते रहे, जो बाद को कुशल कलाकार वाल्मीकि के हाथों सुपरिष्कृत होकर स्वतन्त्र आदिलौकिक महाकाव्य के रूप में परिणत हुए। इस तरह रामायण को हम इतिहास होते हुए भी काव्य अथवा काव्य होते हुए भी इतिहास कह सकते है।

वाल्मीकि-रामायण में इतिहास और काव्य-तत्त्व

रामायण के ऐतिहासिक पक्ष को लेकर जब हम उसमें असुर-वानर आदि को तर्क-निकष पर धरते हैं, तो बुद्धि कुछ चकरा-सी जाती है, कि सुग्रीव और हनुमान आदि वानर-योनि होते हुए भी किस तरह मानुषी वाग् बोलते हैं। वाल्मीकि ने हनुमान के सम्बन्ध में राम से उसकी पहली भेंट में ही लक्ष्मण के प्रति यह कहलवाया कि 'इसने व्याकरण-शास्त्र खूब पढ़ रखा है, इसीलिए तो बहुत कहते हुए भी इसने कुछ भी अशुद्ध नहीं कहा।'[3] वानर तो आज भी विद्यमान हैं। क्या वे कभी व्याकरण-सम्मत मनुष्य-वाग् बोल सकते हैं? लगभग ऐसा ही प्रश्न असुरों के विषय में भी उठता है कि क्या वे मानुषी वाणी बोलते थे? क्या वे मनुष्यों को खा जाया करते थे? क्या वे त्रिशिरा अथवा दशमुख भी होते थे? मनुष्येतर योनि का मनुष्यों की वाणी बोलना तर्क से सर्वथा अनुपपाद्य है। इस दृष्टि से मनुष्यों में ही असुरों और वानरों की कल्पना की जा सकती है और यह काव्य का अप्रस्तुत-विधान बनेगा। अब भी तो हम किसी हिंस्र-स्वभाव एवं कुत्सित-कर्मी मनुष्य को आलंकारिक भाषा में असुर[4] एवं कन्दराओं में रहने वाले को वानर कहा ही करते

वानर और असुर : प्रतीकात्मक ?

१. पं० चन्द्रशेखर पांडेय, 'संस्कृत साहित्य की रूपरेखा', पृष्ठ ८, १२ सं० १९५४।

२. 'ऋग्वेद', १०।९३।१४।

३. नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरताऽनेन न किंचिदपशब्दितम्॥ किष्किंधाकांड, ४३।

४. निरुक्तकार ने 'असुराः असुरताः', 'जो अच्छे कार्यों से विरत वह असुर' कहा है। कुछ लोग असुरों से ऐसीरियन्स, ऐसीरिया के रहने वालों, को लेते हैं।

हैं। टैगोर के कथनानुसार आर्यों के भारत पर अधिकार करने के पूर्व जिन द्राविड़-जातीय लोगों ने यहाँ के आदिम निवासियों (वानरों) को जीतकर इस देश में प्रवेश किया था, वे आर्यों द्वारा सुगमता से पराजित नहीं हुए थे।[1] वे असुर कहलाते थे और भारत-मही पर पहले उन्हींका प्रभुत्व हुआ था।[2] दंडकारण्य इनका गढ़ था। आर्यों के यज्ञों में ये विघ्न डाला करते थे। यहाँ तक कि यज्ञभूमियों पर खून भी बिखेर देते थे।[3] ये लोग नाग जाति वालों की तरह नरमुण्ड के भूखे (Head-hunters) होते थे और अपने प्रतिपक्षियों की खोपड़ियों को सिर पर बाँधकर घूमा करते थे। ये आदमियों को खा भी जाया करते थे। आर्यों की सुन्दरियों का अपहरण करके उन्हें अपनी पत्नी बना लेते थे, जिसे मनु ने राक्षस-विवाह कहा है।[4] ये 'शिश्न-देव—लिंगोपासक—थे।[5] वेदों में इनका बहुशः उल्लेख है। इन असुरों द्वारा अपहरण के भय से आर्यों में कन्याओं की हत्या का प्रचार तक चल पड़ा था।[6] इन नर-असुरों ने आर्यों के उपनिवेशों को सर्वथा त्रस्त कर रखा था, जिन्हें वे जंगलों को काट-काटकर बसाया करते थे। शूल, शक्ति, गदा, परिघ, भिन्दिपाल, धनुष-बाण, आदि इनके आयुध होते थे। उस समय यह एक समस्या बन गई थी कि असुरों के इन उपद्रवों को कौन मिटाएगा। विश्वामित्र ने राम को इस कार्य के योग्य समझा। उधर आर्य-सभ्यता के प्रबल संस्थापक राजा जनक (जो भारत में सीता—कृषि—का विस्तार कर रहे थे और इसी कारण जिन्होंने अपनी कन्या का नाम भी सीता ही रखा था) अपनी कन्या के लिए एक ऐसे ही वीर की अन्वेषणा में थे, जिसे विश्वामित्र ने राम के रूप में उन्हें ला दिया। राम ने वानरों से सहायता ली। वानर वास्तव में भारत के अनार्य आदिम-निवासी मानव थे, जो महावनों में वृक्षों पर तथा कन्दराओं में रहा करते थे। पत्थर, टीले और वृक्ष ही उनके शस्त्रास्त्र थे। दक्षिण-पथ में उन नर-वानरों का विस्तृत राज्य था। इनका अपने शत्रु असुरों से स्वाभाविक द्वेष था।

---

१. 'साहित्य', पृ० ११०।

२. असुराणां वा इयं पृथिवी अग्र आसीत्। तै० ब्रा०, ३,२,८,६।

३. वृत्ते तु बहुशश्चीर्णे समाप्त्यां राक्षसाविमौ।
तौ मांसरुधिरौघेन वेदिं तामभ्यवर्षताम्।
'वाल्मीकि रामायण', बालकाण्ड, १६।५, ६।

४. 'मनु०', ३।३।

५. 'ऋग्वेद', ७।२१।५, १०।८८।३।

६. तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम्। 'काठक', २७।८।

ये प्रभु-भक्त हुआ करते थे। इनको अपने साथ मिलाकर राम ने असुरों का ध्वंस करके भारत में आर्य-सभ्यता की आधार-शिला स्थापित की।

हम कह आये है कि रामायण में राम-पत्नी का 'सीता' नाम साभिप्राय है।[१] 'अमरकोश' में सीता का अर्थ लाँगल-पद्धति—हल चलाने से जमीन पर पड़ी हुई रेखा—कहा गया है। यह पृथिवी से ही उठती है और पीछे पृथिवी में ही समा जाती है। राम-पत्नी सीता का भी जनक की औरस कन्या न होकर पृथिवी से ही उत्पन्न होना और अन्त में पृथिवी में ही विलीन होना विशेष महत्त्व रखता है।

सीता के पीछे संकेत

शुक्ल यजुर्वेद मे सीता–लाँगल पद्धति–को कहा गया है कि 'वह जल से सिक्त एवं विश्व-देवों और मरुतों से अनुमत होकर अन्न तथा दूध द्वारा हमारे अनुकूल बने।'[२] ऋग्वेद के दो मन्त्रों (८।५७।६।७) में सीता का कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में उल्लेख आता है। गृह्य-सूत्रों मे सीता अन्न-वृद्धि करने वाली इन्द्र-पत्नी के रूप में उल्लिखित है।[३] इस तरह शब्द-शक्ति से जनक और सीता के आख्यानों में हल द्वारा दक्षिण के महावनों को कृषि-क्षेत्रों एवं उपनिवेशों में परिणत करते हुए प्राचीन आर्यों के उत्तरोत्तर बढते जाने के वृत्त की ओर भी संकेत हो जाता है। राम के जीवन का अहल्या-कांड भी इसी अर्थ को अभिव्यक्त करता है यद्यपि वाल्मीकि ने इसका उल्लेख नहीं किया है। अमरकोष के अनुसार 'हल्या' और 'सीत्या' जुती हुई भूमि होती है।[४] अनजुती—बंजर भूमि—को हम 'अहल्या' और 'असीत्या' कहेंगे। राम के पाद-स्पर्श द्वारा पत्थर बनी अहल्या के उद्धार की घटना के पीछे पथरीली बंजर-भूमि को लहलहाते कृषि-क्षेत्रों में बदलने के अर्थ की भी अभिव्यंजना हो जाती है। इसे हम संकेत-पद्धति कहेंगे। पाश्चात्य विद्वानों में से लासेन और वेबर ने रामायण को रूपक-काव्य ही माना है।[५] इसके अतिरिक्त राम-रावण-युद्ध देव-दानव-संघर्ष का अन्यतम कांड मानकर उसके पीछे आध्यात्मिक रहस्य अर्थात् असत् पर सत् की विजय की अभिव्यक्ति तो साधारणतः अनुगत ही है। पन्त ने

१. 'सीता लांगल-पद्धतिः'। १६।१४।

२. घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान् सीते पयसाभ्याववृत्स्व। अ० २२।७०।

३. इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीताम्। सा मे अन्नपायिनी भूयात् कर्मणि कर्मणि स्वा।
—पारस्कर गृह्य० २।६।६।

४. १६।८।

५. A History of Sanskrit Literature, Macdonell, p. 311.

'स्वर्ण किरण' के अन्तर्गत अपनी 'अशोक-वन' नामक गीतात्मक रचना में राम-जीवन के पीछे छिपे हुए इस आध्यात्मिक अर्थ का बड़े अच्छे ढग से स्पष्टीकरण किया है।[1] उन्होंने सीता को विश्व-चेतना और राम को सत्य का प्रतीक माना है। विश्वचेतना और सत्य के परस्पर पाणिग्रहण—समन्वय—में ही जगत् का कल्याण स्थित है :

> **ज्यों ज्यों हुई चेतना जागृत**
> **प्रभु भी जग में हुए अवतरित,**
> **अन्तर्मन में परिणत होकर**
> **हुआ प्रतिष्ठित सत्य चिरन्तन !**

रावण माया—जड़ भौतिकवाद या भोगवाद—का प्रतीक है :

> गत जीवन मृदता ही थर तन
> जन-मन में थी माया रावण।

सीता के रूप में भोगवाद जब सत्य के पास से चेतना का हरण कर लेता है, तो चेतना और सत्य दोनों कराह उठते है। लंका-दहन-रूप में भौतिकवाद का पाप-पंक 'पावक-वाहन' भस्म कर देता है और बाद को भौतिकवाद 'रावण' के निष्प्राण किये जाने पर विश्व-चेतना और सत्य का पुनर्मिलन हो जाता है और सर्वत्र सुख-शान्ति छा जाती है। हिन्दी के प्रसिद्ध मुस्लिम कवि 'मीर' ने भी अपनी 'दशहरा' कविता में राम-चरित के इन सभी प्रतीकों का अच्छी तरह स्पष्टीकरण कर रखा है।

महाभारत और उसके संकेत

हमारा दूसरा ऐतिहासिक पुराण-काव्य (Epic) महाभारत है। इसमें भी यत्र-तत्र ऐसे प्रतीक भरे पड़े हैं, जिनसे ऐतिहासिक तथ्यों के साथ घुला-मिला दूसरा अर्थ भी झलक जाता है। इस महाकाव्य के चरित्रों—कृष्ण, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, धृतराष्ट्र, दुर्योधन, दुःशासन आदि के नाम ही स्पष्टतः श्लेषगर्भित एवं साभिप्राय है जैसा कि रूपक-काव्यों में हुआ ही करता है। स्वयं भगवद्गीता, जो महाभारत का ही एक भाग है, उपनिषद् कही जाती है। उपनिषद् रहस्य को कहते हैं और गीता का रहस्य यह है कि वह प्रस्तुत कौरव-पांडवों के ऐतिहासिक वृत्तान्त की पृष्ठ-भित्ति पर मानव-जीवन की आध्यात्मिक समस्या और उसके हल की ओर भी संकेत कर देती है। इसलिए महाभारत एक बृहद् अन्योक्ति है। ऐतिहासिक कुरुक्षेत्र की भूमि पर हुआ कौरव-पांडवों का युद्ध वास्तव में मानव-जीवन में नित्यप्रति होने वाले संघर्ष—अन्तर्द्वन्द्व—

१. पृ० १५४, सं० २०१३।

का प्रतिरूप है। महात्मा गांधी के शब्दों में "कुरुक्षेत्र का युद्ध तो निमित्त मात्र है। सच्चा कुरुक्षेत्र हमारा शरीर है। यही कुरुक्षेत्र है और धर्मक्षेत्र भी। यदि इसे हम ईश्वर का निवास-स्थान समझें और बनावें तो यह धर्म-क्षेत्र है। इस क्षेत्र में कुछ-न-कुछ लड़ाई तो नित्य चलती ही रहती है और ऐसी अधिकांश लड़ाइयाँ 'मेरा' तेरा' को लेकर होती है, इसीलिए आगे चलकर भगवान् अर्जुन से कहेंगे कि राग-द्वेष सारे अधर्म की जड़ है। जिसे 'अपना' माना जाता है, उससे राग पैदा हुआ, जिसे 'पराया' जाना, उसमें द्वेष—वैर-भाव—आ गया। इसलिए 'मेरे' 'तेरे' का भेद भूलना चाहिए या यों कहिए कि राग-द्वेष को तजना चाहिए। गीता और सभी धर्मग्रन्थ पुकार-पुकार यही कहते हैं।"[1] महाभारत के प्रतीयमान आध्यात्मिक युद्ध के पात्र दुर्योधन, दुःशासन आदि कौरव मानव-जीवन की आसुरी वृत्तियों के और युधिष्ठिर, अर्जुन आदि पांडव दैवी वृत्तियों के प्रतीक हैं। डॉ० फतहसिंह के कथनानुसार भीष्म का शरशय्या-शयन, कर्ण-वध या जयद्रथ-वध आदि घटनाएँ तथा अन्त में हिमालय के लिए महाप्रस्थान आदि ऐसी बातें हैं, जो किन्हीं आध्यात्मिक तथ्यों की प्रतीक होती हैं, जिनमें से कइयों का आधार तो स्पष्टतः 'ऋग्वेद' है।[2] कृष्ण तो स्वयं अन्तर्यामी भगवान् परब्रह्म हैं, जिनका साक्षात्कार हो जाने पर जीवात्मा का मोह नष्ट हो जाता है।[3]

गीता के प्रथम अध्याय का नाम अर्जुन विषाद-योग है। इसमें अर्जुन को विषाद—वेदना—होती है और उसकी यह वेदना तत्त्व-जिज्ञासा की वेदना है, जो कि रहस्यवादी कवि लोगों में हुआ करती है, यद्यपि रहस्यवादियों के जैसे भावना-लोक के सरस शाद्वल के स्थान में यहाँ ज्ञान-लोक का शुष्क मरुस्थल है। इसके आगे ज्ञान के लिए इन्द्रियों को वश में करने की बात आती है, क्योंकि प्रत्येक जिज्ञासु को राग-द्वेष, काम-क्रोध जीतकर स्थिर-बुद्धि बनने की नितान्त आवश्यकता होती है। सुख-दुःख, मानापमान, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वों से अतीत होकर समदर्शी की अवस्था आती है। फिर तो क्या जल, क्या थल और क्या नभ, सर्वत्र एक विशाल सत्ता की अनुभूति होती है और विश्व-रूप-दर्शन हो जाने पर अर्जुन को वही अलौकिक आनन्द होने लगता है, जो कामायनी के मनु को कैलाश-शिखर पर पहुँचकर हुआ था। इस तरह गीता में अध्यात्मवाद

१. 'गीतामाता', पृष्ठ ६।

२. 'कामायनी-सौन्दर्य', पृष्ठ ५६, प्रथम सं०।

३. कृषिर्भूवाचकः शब्दः नश्च निर्वृत्तिवाचकः।
तयोरैक्यात् परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥ (अज्ञात)

के इस सिद्धान्त का संकेत भी मिल जाता है।

कौरव-पांडवों के ऐतिहासिक वृत्तान्त के अतिरिक्त महाभारत में सैकड़ों आख्यान भी आये हुए हैं। इनमें बहुत-से तो ऐसे हैं, जो केवल जन्तु-जगत् से सम्बन्ध रखते हैं। उनमें हम श्येन, कपोत, गृध्र, शृगाल, मत्स्य आदि जीव-जन्तुओं को मानवों-जैसा व्यवहार करते हुए पाते हैं। जन्तुओं का यह मानवीकरण ही बाद में संस्कृत और हिन्दी के जन्तु-कथा-साहित्य का आधार बना, जिसमें जन्तुओं के प्रतीकों से मानवों को नैतिक शिक्षा दी गई है। इन्हें अंग्रेजी में फेब्लस या पैरेबल्स कहा करते है, जो प्रतीकात्मक होते हैं।

पुराणों में अन्योक्ति-पद्धति

वेदों और रामायण-महाभारत के बाद हम पुराण-साहित्य को लेते हैं। वास्तव में वेद-प्रतिपादित बातों का ही पुराणों में उपबृंहण है,[1] अर्थात् वेदों में संकेत, नियम या लक्षण-रूप में आई हुई बातों को पुराणों ने लक्ष्य और दृष्टान्त-रूप में विस्तार करके बतलाया है। पुराणों के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं सृष्टि, प्रलय, मन्वन्तर एवं ऐतिहासिक राज-वंशों के इतिवृत्त।[2] इनके वर्णनों में पुराणों ने यत्र-तत्र अन्योक्ति-पद्धति अपनाई है। इस पद्धति से अनभिज्ञ बहुत-से लोग पौराणिक बातों को असम्भव एवं कपोल-कल्पना-मात्र बतलाकर पुराण-साहित्य की अवहेलना करने की भूल कर बैठते हैं। वास्तव में वेदों की तरह पुराणों में भी बहुत-सी बातें प्रतीक-पद्धति से लिखी हुई हैं। प्रतीकों का ज्ञान हुए बिना पुराणों का अर्थ स्पष्ट हो ही नहीं सकता। हिन्दी में द्विवेदी-युग की स्थूल जगत्-सम्बन्धी इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया में जब छायावाद ने जन्म लिया था, तब भी प्रारम्भ में लोगों ने छायावादी कवियों के प्रतीकों को न समझकर उसका बडा भारी विरोध किया था। स्वयं द्विवेदीजी तथा शुक्लजी-जैसे महारथियों ने भी उसे 'कल्पना की कलाबाजी', 'कल्पना का कलापूर्ण मनोरंजक नृत्य' इत्यादि कहकर छायावाद की छीछालेदर की थी। किन्तु बाद में प्रतीक-ज्ञान हो जाने पर सभी को मानना पड़ा कि यह अन्तर्जगत् को अभिव्यक्त करने की एक पद्धति—व्यक्तित्व-प्रधान काव्य-शैली—है। फिर तो काव्य में छायावाद का महत्त्व इतना बढ़ा कि वह कुछ समय के लिए हिन्दी-साहित्य में छा-सा गया और आंशिक रूप में अभी

१. इतिहास-पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥ (पद्म पुराण, २।५२)

२. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पंचलक्षणम्॥ (वायु पुराण, १।२०१)

तक चला ही आ रहा है। यही बात पुराणों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। उनमें प्रत्यक्ष-ग्राह्य लौकिक विषयों के अतिरिक्त स्थूल जगत् से परे सूक्ष्म एवं रहस्यात्मक और वैज्ञानिक बातें भी आई हुई हैं, जिनके वर्णन में उनकी अपनी विशिष्ट शैली है। उनका अप्रस्तुत-विधान किसी प्रस्तुत तक पहुँचने का केवल साधन-मात्र है। उसे साध्य समझना हमारी भूल है।

सृष्टि की प्रतीकात्मक उत्पत्ति

सृष्टि-उत्पत्ति पुराणों का अन्यतम विषय है। इस सम्बन्ध में सभी पुराणों में यह समान उल्लेख है कि विष्णु की नाभि से पहले पद्म उत्पन्न हुआ, जिसके कारण वे 'पद्मनाभ' कहलाते हैं। पद्म में से फिर चतुर्मुख ब्रह्मा प्रादुर्भूत हुए, जो बाद में समूचे चराचरात्मक जगत् की सृष्टि करते हैं। ऊपर से ऊट-पटाँग दीखने पर भी यह सारा वर्णन प्रतीकात्मक है। वेदों में सूर्य को विष्णु कहा गया है। क्योंकि वह 'व्यश्नुते जगत्',[1] अपने किरण-जाल से विश्व को अच्छी तरह व्याप्त कर लेता है, इसीलिए भगवान् कृष्ण ने गीता में अपने को 'आदित्यानामहं विष्णुः' कहा है। 'विष्णु-पुराण' में भी विष्णु को द्वादशादित्यों में गिना गया है। नाभि का शब्दार्थ जहाँ अंग-विशेष है, वहाँ उसके साम्य से संस्कृत में उसका 'केन्द्र' अर्थ भी हो जाता है। सूर्य की नाभि—केन्द्र—से पद्म के निकलने का अर्थ है पृथिवी का पैदा होना। 'पद्म पुराण' के सृष्टि-प्रकरण में पृथिवी को ही पद्म कहा गया है[2] और वह इसलिए कि पृथिवी भी पद्म की तरह गोलाकार है। आज विज्ञान-शास्त्री मान गए हैं कि सूर्य-मंडल से ही पृथक् होकर तेज का एक टुकड़ा काल-क्रम से ठंडा होकर पृथिवी बना। पृथिवी-रूपी कमल से उत्पन्न हुए चतुर्मुख ब्रह्मा का अर्थ है 'पृथिवी की चारों दिशाओं में फैला हुआ प्राण-तत्त्व', जिससे स्थावर-जंगमात्मक सृष्टि बनी है। पुराणों के अनुसार पहले प्राण-तत्त्व से स्थावर—वृक्षलतादि—बने, जिसे बाद को विकासवादी डारविन ने भी स्वीकार किया है। स्थावर सृष्टि के विकास-क्रम में निहित जंगम सृष्टि की अन्यतम कड़ी के रूप में जिस तरह पुराणोल्लिखित मानव-सृष्टि हुई है, उसका वर्णन हम आजकल 'कामायनी' में पाते हैं जो कि एक बृहद् अन्योक्ति-काव्य है।

सृष्टि के अतिरिक्त पुराणों का वंश और वंशानुचरित भी कहीं-कहीं संकेतात्मक हैं। इन्द्र-वृत्र-युद्ध द्वारा वेदों में जिस वृष्टि-विज्ञान के संकेत का

१. "विष्णुर्विशते व्यश्नोतेवा", निरुक्त १२।२।१८ (यास्क)।

२. तच्च पद्मं पुराभूतं पृथिवीरूपमुत्तमम्।
यत् पद्मं सा रसा देवी पृथिवी परिचक्ष्यते ॥ (सृष्टि-खण्ड, अध्या० ४)।

मारकर ब्रह्मैकात्म्य को प्राप्त कर सकता है। प्रसादजी ने 'कामायनी' में शैवागमानुसार त्रिपुर को किस तरह इच्छा, कर्म एवं ज्ञान का प्रतीक माना है, वह हम आगे 'कामायनी' के विवेचन में स्पष्ट करेंगे। इस प्रकार भौतिक आवरण डालकर प्रतीक-पद्धति मे आध्यात्मिक रहस्य का पुराणों ने यह कितना मार्मिक चित्र खीच रखा है।

श्रीमद्भागवत की सृष्टि एवं रास-लीला प्रतीकात्मक

पुराणों में सर्वश्रेष्ठ कहलाए जाने वाले 'श्रीमद्भागवत' में भी यही प्रवृत्ति मिलती है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही माहात्म्य के भीतर छायावाद की तरह प्रतीक-पद्धति से ज्ञान, भक्ति और वैराग्य, इन अमूर्त्त भावों को मूर्त्त—चेतन-रूप में—चित्रित करके मानवी रूप दे रखा है। वास्तव में 'महाभारत' का गीता-धर्म क्रमशः भागवत-धर्म में परिणत होकर भक्ति-प्रधान बना हुआ है। भागवत में श्रीकृष्ण को महाभारत-युद्ध के एक क्षत्रिय योद्धा के स्थान में पूर्ण परमेश्वर—परब्रह्म—रूप प्राप्त है। "भागवत धर्म के तत्त्व-ज्ञान में परमेश्वर को वासुदेव, जीव को संकर्षण, मन को प्रद्युम्न तथा अहंकार को अनिरुद्ध कहा है। इनमें वासुदेव तो स्वयं श्रीकृष्ण का ही नाम है, संकर्षण उनके ज्येष्ठ भ्राता बलराम का नाम है, तथा प्रद्युम्न और अनिरुद्ध श्रीकृष्ण के पुत्र और पौत्र के नाम हैं।"[1] यह सब प्रतीक-पद्धति से चतुर्व्यूह-रूपी सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है। वासुदेव-रूपी परमेश्वर से अपना ही रूपान्तर संकर्षण-रूपी जीव उत्पन्न होता है। फिर संकर्षण से प्रद्युम्न अर्थात् मन और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध अर्थात् अहंकार। इस संकेतात्मक सृष्टि-प्रक्रिया के अतिरिक्त भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन का गार्हस्थ्य-अध्याय अपने पृष्ठ-पृष्ठ को परब्रह्म की मायामयी लीलास्थली बनाये हुए है। भागवत में वर्णित रास के पीछे भगवान् की दिव्य लीला का रहस्य छिपा हुआ है। लौकिक शृंगार का परिधान पहनकर दाम्पत्य-प्रणय-लीन राधिका और गोपियाँ उन भक्त जीवात्माओं के प्रतीक हैं, जो ब्रह्म में मिलने—ब्रह्मैकात्म्य—के लिए आतुर हैं। भगवान् की माधुर्य-भावना की यही सरिता 'गीत गोविन्द' आदि लौकिक संस्कृत-काव्यों में प्रस्फुटित होकर बाद को हिन्दी-क्षेत्र में विद्यापति, सूरदास, मीरा आदि भक्त कवियों एवं वर्तमानकालीन प्रसाद, पन्त, महादेवी-जैसे रहस्यवादी कलाकारों की हृदय-स्थलियों को रस-सिक्त करती हुई भागीरथी की तरह आज तक अविच्छिन्न रूप से प्रत्यक्ष बहती ही चली आ रही है जब कि पुराणों की अन्य संकेत-धाराएँ काल-प्रभाव से मानव-मस्तिष्क में सरस्वती नदी की तरह

१. तिलक, 'गीतारहस्य', पृ० ५४६।

सूखकर अब दुरधिगम बन गई हैं।

कालिदास आदि कलाकारों की प्रतीकात्मक शैली

इतिहास-महाकाव्यों तथा पुराणों के बाद काव्य के लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण हो चुकने पर काव्य हमें नियमों की चार-दीवारी के भीतर सीमित तथा दृश्य-श्रव्य भेदों और गद्य-पद्य, चम्पू, महाकाव्य, खण्ड-काव्य आदि कितने ही पारिभाषिक उपभेदों में विभक्त हुआ मिलता है। इस साहित्यिक नव-परम्परा के अग्रदूत महाकवि कालिदास माने जाते हैं। इन्होंने भी अपनी रचनाओं में अन्योक्ति-मुक्तक के साथ-साथ अन्योक्ति-पद्धति का आश्रय लिया है। इनका 'कुमारसम्भव' एक रूपक-काव्य है। प्रारम्भ में ही कवि ने हिमालय पर्वत को 'देवतात्मा' बतलाकर उसका चेतनीकरण कर रखा है। डॉ० फतहसिंह के विचारानुसार "पर्वत का अर्थ है पर्ववान्। पहाड़ में अनेक पर्व होते हैं, इसीलिए उसे पर्वत[1] कहते हैं। पिंडांड और ब्रह्माण्ड में भी अनेक पर्व हैं, अतः वैदिक साहित्य की भाँति 'कुमारसम्भव' में पर्वत इन दोनों के प्रतीक के रूप में आया है। इस पर्वत की कन्या 'पार्वती' वही शक्ति है, जो पिंडांड तथा ब्रह्माण्ड में एक-सी व्याप्त है और जिसको वैदिक साहित्य में 'हैमवती उमा' या केवल 'उमा' कहा गया है। यह पर्वत बड़ा भारी प्रजापति है, जिसके राज्य में अनेक देव-कर्मों द्वारा यज्ञ विस्तार पाता है, परन्तु असुरत्व के प्रतीक तारक आदि से आक्रान्त होने पर इसकी सम्भावना नहीं की जा सकती। इस तारक का वध उक्त उमा तथा अजरामर शिव-ब्रह्म के संयोग से उत्पन्न कुमार ही कर सकता है। अतः इस दिव्य संयोग तथा कुमार-जन्म को लक्ष्य करके ही 'कुमारसम्भव' लिखा गया है। कवि ने न केवल व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में, अपितु दाम्पत्य जीवन तथा सामाजिक जीवन में भी इस लक्ष्य की पूर्ति दिखाने का प्रयत्न किया है।"[2] कालिदास की दूसरी कृति 'मेघदूत' एक खण्ड-काव्य है, जो कुबेर के शाप के कारण अपनी प्रियतमा से वियुक्त एक यक्ष के व्यथित हृदय की वेदना-भरी कहानी है; हृदय द्रवित कर देने वाली विप्रलम्भ की एक करुण-गीतिका है। यक्ष तो केवल निमित्त-मात्र है।[3] वास्तव में विरह-पीड़ित मानव का समूचा [illegible]—[illegible] और निराशाएँ तथा हर्ष और विषाद—सभी का मार्मिक चित्र आँखों के सामने खड़ा हो जाता है; यहाँ तक कि पर्वत, नदियाँ, नगरियाँ, ग्राम एवं ग्राम-भूमियाँ आदि

१. "पर्ववान् पर्वतः, पर्व पुनः पृणातेः", निरुक्त, १।६।२०।

२. 'कामायनी-सौन्दर्य', पृ० ५६ (प्रथम सं०)।

३. संसारचन्द्र-मोहनदेव द्वारा सम्पादित 'मेघदूत' की भूमिका, पृ० २६,३१-३२।

सारी बाह्य प्रकृति भी सहानुभूतिपूर्ण होकर अन्तर्जगत् के साथ अपनी एकता स्थापित करती हुई स्वयं भी विरह की आग उगल रही है। मानव-जीवन का जामा पहने हुए प्रकृति के एक महत्त्वपूर्ण उपकरण मेघ को ही लीजिए। कभी वह 'चिर' विरह के कारण गरम-गरम आँसू गिराते हुए अपने प्रिय सखा शैल को गले लगाता हुआ, कभी किनारे के वृक्षों से गिरे हुए पुराने पत्तों के रूप में विरह से पीली पड़ी 'निर्विन्ध्या' नदी की कृशता को दूर करता हुआ और कभी मछली की किलोल के रूप में 'गम्भीरा' नदी की चंचल-चितवन को विफल न जाने देता हुआ चित्रित हुआ है। दूसरी ओर कहीं 'वेत्रवती' नदी गर्जनपूर्वक तीर से जल-ग्रहण के रूप मे मेघ द्वारा अधर पान करने पर झुँझलाकर चंचल तरंगों के रूपों में भृकुटि ताने हुए है, कही 'प्रतनु सलिल' की एक वेणी बाँधे हुए कृश-गात 'सिन्धु' अपनी विरहावस्था को व्यक्त कर रही है, कहीं प्रवास से आकर सूर्य अपने करों से विरह-पीड़ित नलिनी के कमल-वदन पर गिरते हुए ओस के आँसू पोंछ रहा है और कहीं 'जन्हु-कन्या' (गंगा) अपने फेन से गौरी के भ्रूभंग का उपहास करती हुई वियोग के भय से लहर-करों द्वारा शिवजी के केशों को पकड़े हुए है। कालिदास के 'मेघदूत' में मानव के अन्तर्जगत् की कोमल अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब लेकर भावाक्षिप्त प्रकृति का यह सारा मानवीकरण स्पष्टतः संकेत-पद्धति को लिये हुए है। कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो मेघदूत के प्रणय-वृत्त को भौतिक धरातल से उठाकर अध्यात्म-पद पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। उनके मत में कालिदास का यक्ष काम-विह्वल मानव का प्रतीक है, क्योंकि यक्ष बड़ा कामी हुआ करता है।[1] मेघ मेहन (सिञ्चन) करने वाला काम है, क्योंकि वह भी काम की तरह धरा का सिंचन करता है। इसीलिए उसे इन्द्र का काम-रूप प्रधान-पुरुष (प्रकृति-पुरुषं कामरूपं मघोनः) कहा गया है। जिस तरह मेघ का इन्द्र से सम्बन्ध है, उसी तरह काम का वृष से। ब्राह्मण-ग्रन्थों में तो इन्द्र को ही वृष माना गया है। अतएव लौकिक संस्कृत में इन्द्र और वृष दोनों पर्याय-शब्द हैं। वृष वर्षण-शक्ति या सेचन-सामर्थ्य को कहते हैं, जिससे सारा जगत् पैदा होता है। 'मेघदूत' में कवि द्वारा काम-रूपी मेघ को स्थल-स्थल पर शिव की पूजा के नगाड़े बजाने (कुर्वन् सन्ध्याबलिपटहताम्) एवं शिव के चरण-न्यास की परिक्रमा करने (भक्ति-नम्रः परीयाः) का उपदेश करना साभिप्राय है, क्योंकि शिव के प्रतीप बने काम का सर्वनाश ही समझें। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में "मेघदूत में जो काम की प्रबल धारा बही है और जिसके प्रभाव से चेतनाचेतन जगत् में कोई

१. **यक्षः = हः = कामः अक्ष्णोः यस्य सः ।**

भी अछूता नहीं बचा है, वह स्थूल भोग को पुष्ट करने के लिए नहीं है; प्रत्युत उसके द्वारा कवि ने यह दिखाया है कि काम का आश्रय लेकर भी किस प्रकार विराट् प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करके अन्त में परम शिवात्मक ज्योति के दर्शन सम्भव हैं। जो मेघ निर्विन्ध्यादि नायिकाओं के साथ अनेक विलास करता है, वही अन्त में मणि-तट पर शिव और पार्वती के आरोहण में सहायक होता है। योगियों के मणितट, बुद्धों के मणिपद्म और ज्ञान की पुरी काशी की मणिकर्णिका में कोई भेद नहीं है। वहाँ पहुँचकर आनन्द-ही-आनन्द है।"[1]
कालिदास का दूसरा खण्ड-काव्य 'ऋतु संहार' है। वहाँ भी षड्-ऋतुओं से अनुगत हुआ युवा-युवतियों का प्रणय प्रकृति के बाह्य सौन्दर्य से भव्य समन्वय और सहानुभूति पाकर खूब किलोलें करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। उसकी सारी प्रकृति प्रेम-विभोर है। लंका को मानवी-रूप देने वाले वाल्मीकि की तरह कालिदास ने अपने 'रघुवंश' मे अयोध्या को भी मानवी रूप दे रखा है। कवि के ये सारे प्रकृति-रूपक एवं जड़ों का चेतनीकरण उसकी छायावादी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। कालिदास के बाद भारवि, माघ, भट्टि, श्रीहर्ष आदि महाकवियों के रूढ़िगत महाकाव्य, जो या तो रामायण के कथानक पर आधारित हैं या महाभारत के कथानक पर, देवासुर-संघर्ष के सामान्य आध्यात्मिक रहस्य की हल्की-सी व्यञ्जना पूर्ववत् रखे हुए ही चले आते हैं। रसिकराज जयदेव के 'गीत-गोविन्द' में 'भागवत' के आधार पर वर्णित राधा-कृष्ण की लौकिक प्रणय-लीला के पीछे अभिव्यक्त जीव-ब्रह्म के अलौकिक-मिलन की रहस्य-भावना, जो अब तक हिन्दी में भी चली आ रही है, हम पीछे बता आए हैं।

प्रतीकात्मक संस्कृत नाटक

काव्यों के अतिरिक्त संस्कृत-नाटकों मे भी प्राचीन काल से ही अन्योक्ति-पद्धति के दर्शन होते हैं। 'ऋग्वेद' में जिन इन्द्र-इन्द्राणी सरमा-पाणि, पुरुरवा-उर्वशी इत्यादि आख्यानों के अन्तर्निहित आध्यात्मिक संकेतों की व्याख्या यास्क और योगिराज अरविन्द घोष ने कर रखी है, वे सब प्रसिद्ध जर्मन मनीषी वान स्क्रोएडर के विचारानुसार 'रहस्यात्मक नाटक' थे।[2] कुछ समय हुआ प्रो० लूडर्स के प्रयत्न से तुरफन (मध्य एशिया) में ताड़-पत्रों पर लिखित प्रसिद्ध बौद्ध कवि अश्वघोष (प्रथम शती ई०) के

१. 'मेघदूत', पृ० ८३-८४।

२. Mysterium und Mimus in Ṛgved. Leipzig, 1908. डॉ० एस० एन० गुप्ता द्वारा अपनी History of Sanskrit Literature, पृ० ४४, में उद्धृत।

(शारिपुत्र-प्रकरण) के कुछ खण्डित पृष्ठ मिले है। प्रतीक-पद्धति में लिखा हुआ संस्कृत का यह पहला प्रतीकात्मक नाटक (Allegorical Drama) है। इसमें बुद्धि, कीर्ति, धृति, ये अमूर्त्त मनोवृत्तियाँ मानवी चोला पहनकर परस्पर बातें करती हुई मिलती हैं। इस बौद्ध नाटक के बहुत समय बाद फिर कृष्णमिश्र (११वीं शती ई० उत्तरार्ध) का 'प्रबन्ध चन्द्रोदय' नाटक आता है, जिसमें भी मानसिक भावों का मानवीकरण हुआ मिलता है। प्रो० कीथ के शब्दों में इसका निश्चय नहीं किया जा सकता कि अश्वघोष से लेकर कृष्ण-मिश्र तक ऐसे रूपक-नाटकों की परम्परा मौजूद थी अथवा कृष्णमिश्र ने स्वयं ही इस नई जाति के नाटक की उद्भावना की, परन्तु प्रथम-पक्षीय सिद्धान्त अधिक सम्भव है।[१] यदि सचमुच ही परंपरा वाला सिद्धान्त ठीक है, तो प्रश्न उठता है कि अश्वघोष और कृष्णमिश्र के मध्य एक हजार वर्ष के अन्तराल के बने प्रतीकात्मक नाटक सब-के-सब कहाँ चले गए ? चन्द्रबली पाण्डे अपने 'कालि-दास' ग्रन्थ में कालिदास को चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य' का सम-सामयिक सिद्ध करते हुए उनके 'विक्रमोर्वशीय' को प्रतीकात्मक नाटकों में गिनते हैं। इस विषय में उनके प्रमाण और तर्क पुष्ट हैं। उनके विचारानुसार 'साहसांक' चन्द्र-गुप्त का दूसरा विरुद है और जिस साहस का काम उसने किया है उसीका प्रतीकात्मक विवरण कालिदास का 'विक्रमोर्वशीय' है। नाटक के नामकरण में उर्वशी के साथ पुरुरवा का नाम न देकर श्लिष्ट विक्रम शब्द देना विक्रमादित्य की ओर स्पष्ट संकेत है। पाण्डेजी के ही शब्दों में 'विक्रमोर्वशीय' के विक्रम को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य समझें और उसकी प्रेयसी उर्वशी को ध्रुवदेवी मान लें, फिर देखें कि महासेन के सैन्यपत्य की संगति कुमारगुप्त से बैठती है या नहीं। रही 'ज्येष्ठ-माता', सो उसे प्रभावती गुप्त की माता 'कुबेरनागा' मान लें। इसी तरह नाटक का महेन्द्र चन्द्रगुप्त के ज्येष्ठ भ्राता रामगुप्त का प्रतीक है, जो इतना क़ायर रहा कि शकाधिपति से पराजय खाकर उसकी माँग पर अपनी परम सुन्दरी पत्नी ध्रुवदेवी उसे देने को तैयार हो गया था। शकाधिपति का प्रतीक दानव केशी है, जो उर्वशी को भगा रहा था।[२] तब किस साहस के

---

१. It must remain uncertain whether there was a train of tradition leading from Aṣvaghosa to Krishna Misra or whether the latter created the type of drama afresh; the former theory is the more likely. —Sanskrit Drama, Part I Page 81.

२. 'कालिदास', पृ० १४।

साथ चन्द्रगुप्त ने शकराज के चंगुल से अपनी भ्रातृ-जाया को छुड़ाया और बाद में स्वयं उससे विवाह कर लिया, यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है।[1] 'विक्रमोर्वशीय' के बाद कृष्णमिश्र के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का ही स्थान है। उसके बाद संस्कृत साहित्य में प्रतीकात्मक नाटकों की बाढ़-सी आ गई। यशपाल (१२वीं शती ई०) का 'मोह-पराजय', परमानन्ददास सेन (१५७२) का 'चैतन्य-चन्द्रोदय', भूदेव शुक्ल (१६वीं शती ई०) का 'धर्म-विजय', वेद कवि का 'विद्या परिणय' तथा इसी तरह 'अमृतोदय', 'सूर्योदय', 'यतिराज विजय' आदि नाटक इसी परम्परा में आते हैं। १७वीं से २०वीं शती (ई०) तक 'प्रबोध चन्द्रोदय' के हिन्दी में कितने ही अनुवाद होते चले आए। भारतेन्दु का 'पाखंड-विडम्बन', प्रसाद की 'कामना' तथा अधुनातन कुछ अन्य हिन्दी-नाटक भी इसी शैली पर लिखे गए हैं। इस तरह प्रतीकात्मक नाटकों की परम्परा आज तक यथावत् चली आ रही है।

श्रव्य-दृश्य काव्यों के साथ-साथ गद्य-काव्य में भी प्राचीन काल से अन्योक्ति-पद्धति की गहरी मुद्रा पड़ी हुई है। हमारा जितना भी जन्तु-कथा-

गद्यात्मक जन्तुकथा-साहित्य संकेतात्मक

साहित्य है, वह सारा प्रतीकात्मक है। पुरुरवा-उर्वशी आदि वाली लोक-कथाओं की तरह जन्तु-कथाएँ तो वेदों में नहीं मिलती, परन्तु उनके बीज वहाँ अवश्य विद्यमान हैं। वेदों से हमें पता चल जाता है कि मानव-मस्तिष्क पहले से ही अपने समीपवर्ती जीव-जन्तुओं में मानवी अनुभूतियाँ, प्रवृत्तियाँ, एवं व्यवहार संक्रमित करना भली-भाँति जानता था। 'ऋग्वेद' (७,१०३) में मेढ़कों की स्तुति आती है और यज्ञ में मन्त्रों का गान करते हुए ब्राह्मणों की तुलना टरटराते हुए मेढ़कों से की गई है। इससे प्रकट होता है कि हम मानव और जन्तुओं के मध्य कुछ सादृश्य-सम्बन्ध पहले से ही स्वीकार करते थे, जो उपनिषदों में स्पष्ट हो गया है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में हमें कुत्तों की एक ऐसी अन्योक्ति मिलती है, जिसमें वे अपने लिए भौंककर भोजन की सूचना देने वाले अपने एक अग्रणी की खोज में है। दूसरी, दो हंसों की कथा है, जिनका परस्पर वार्तालाप रैक्व के ध्यान को आकृष्ट करता है। तीसरी में सत्यकाम को बैल, हंस और पक्षिगण उपदेश देते हुए उल्लिखित हैं।[2] प्रो० कीथ के शब्दों में "माना कि ये जन्तु-कथाएँ नहीं है, जिनमें जन्तुओं की चेष्टाओं को मानव के लिए शिक्षा देने का साधन बनाया गया हो, तथापि हम

१. इस विषय से अधिक परिचय के लिए प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' देखिए।
२. १।१२।२, ४।१।१-५, प्र० ४।

अनुभव करते हैं कि इस प्रकार के शिक्षा-रूप पर चल पड़ना कितना सुगम है।"[१] शिक्षाप्रद जन्तु-कथाओं का एक स्वतन्त्र साहित्य-शैली के रूप मे वास्तविक विकास तो महाकाव्यों (Epics) के काल में हुआ है। 'महाभारत' में चतुर शृगाल, लोभी गृध्र, दुरात्मा बिल्ली आदि जन्तुओं की कथाओं द्वारा नैतिक शिक्षा दी गई है। भरहुत स्तूप में कुछ ऐसी जन्तु-कथाएँ खुदी हुई मिलती है, जिनसे दूसरी शती (ई० पू०) में जन्तु-कथाओं का प्रचलन सिद्ध होता है। जातकों में भी बौद्ध नीति अथवा गुणों को जन्तु-कथाओं द्वारा निर्दशित किया गया है। इन्हीं सब स्रोतों से बाद के 'पंचतन्त्र' में वर्णित पशु-पक्षियों की कथाओं के पूर्ण विकास के लिए सामग्री मिली है। ये कथाएँ स्वतन्त्र रूप से जन्तुपरक ही नहीं है, जैसे कि जन्तु-कथाएँ हुआ करती हैं, अपितु इनमें कुछ नीति अथवा मौलिक उपदेश गर्भित रहता है, जो बड़े कलात्मक ढंग से मानवीय स्वभाव, गुणों और कार्यों को जन्तुओं में आरोपित करता है। इन कथाओं में जन्तु अप्रस्तुत—प्रतीकात्मक—रहते हैं और मानव प्रस्तुत। इस तरह जन्तु-कथा, लोक-कथा से बिलकुल भिन्न एक स्वतन्त्र अन्योक्ति-शैली का साहित्य है। इसका सम्बन्ध नीति-शास्त्र एवं अर्थशास्त्र से रहता है और उद्देश्य विनेय राजपुत्र-प्रभृति को राजनीति और व्यवहार-नीति में शिक्षित करना होता है। 'पंचतन्त्र' की प्रत्येक कथा के अन्त में एक पद्य रहता है, जिसमें जन्तु-जीवन का अप्रस्तुत-विधान खोलकर प्रस्तुत विनेयों को मानव-जीवन की शिक्षा दी जाती है जैसा कि जायसी के 'पद्मावत' में भी मिलता है। अंग्रेजी में प्रतीकों द्वारा उपदेश देने वाली ऐसी छोटी-छोटी कहानियों को फेबल्स या पैरेबल्स कहा जाता है।[२] क्षेमचन्द्र ने इन्हें 'निदर्शन-कथा' कहा है।[३]

---

१. A History of Sanskrit Literature, p.p. 245.

२. "The fable or parable is a short story with one definite moral." —Encyclopaedia Britanica.

३. 'काव्यानुशासन', ८।७०८।

५ : हिन्दी-साहित्य में अन्योक्ति-पद्धति

संस्कृत की अन्योक्ति-पद्धति के बाद जब हम हिन्दी के अन्योक्ति-साहित्य पर विचार करते है, तो इसके लिए सबसे पहले हमें हिन्दी के आदि-काल की ओर जाना पड़ता है, क्योंकि हिन्दी के अन्योक्ति-साहित्य का इस युग से बड़ा सम्बन्ध है। शुक्लजी के विचारानुसार हिन्दी का आदि-काल सं० १०५० से १३७५ तक ठहरता है। क्योंकि हिन्दी की उत्पत्ति अपभ्रंश प्राकृत से हुई है, इसलिए इस काल को हम दो भागों में विभक्त करते हैं—अपभ्रंश-काल और देश-भाषा-काल। अपभ्रंश की रचनाएँ तो इस काल के पहले से भी चली आ रही हैं, जो अधिकतर जैन और बौद्ध धर्म-सम्बन्धी तत्त्व-निरूपण-परक हैं। इन सिद्धान्त-प्रतिपादक रचनाओं को निस्संदेह साहित्य-कोटि में तो हम नहीं रख सकते, किन्तु इनके धर्म-निरूपण का बहुत-सा अंश प्रतीकात्मक है, जिसने कबीर, जायसी वाले सन्त-सम्प्रदाय की अन्योक्ति-पद्धति के लिए पूर्वपीठिका का काम किया है। बौद्ध वज्रयान-शाखा के चौरासी सिद्धों की हिन्दी धार्मिक रचनाएँ, राहुल सांकृत्या-यन द्वारा भूटान में प्राप्त 'सरह' में संगृहीत है, जिनका काल डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य के कथनानुसार सं० ६९० है। नमूने के लिए सहज (उजु = ऋजु) मार्ग को छोड़कर वक्र (बंक) मार्ग न ग्रहण करने के लिए सरहपा (८वीं शती) का यह प्रतीकात्मक उपदेश देखिए :

> नाद न बिन्दु न रवि न शशि मंडल,
> चिअराअ सहावे मूकल।
> उजु रे उजु छाड़ि मा लेहु रे बंक,
> निअहि बोहि मा जाहु रे लंक।[1]

इसी तरह लुहिपा सिद्ध (सं० ८३०) के गीतों में से भी एक उदाहरण लीजिए :

> काआ तरुवर पंच बि डाल,
> चंचल चीए पइट्ठा काल।

१. शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ९ (सं० २०१४)।

दिढ करिअ महासुह परिमाण,
लुई भणइ गुरु पुच्छिअ जाण।
सअल समहिहि काह करिअइ,
सुख दुखेतें निचित मरिअइ।
छडिअउ छंद बाँधकरण कपटेर आस,
सुण्ण-पक्ख भिडि लेहु रे पास।
भणइ लुई आम्हे भाणे दिट्ठा,
धमण-चमण वेणि उपरि बइट्ठा॥[1]

रहस्यवादी प्रवृत्ति के अनुसार सिद्ध लोग अपनी 'बानियाँ' गुह्य—सांकेतिक—रखते थे। इस गुह्य वाणी को सरहपा ने 'गहिण गुहिर भास' (गहन गुह्य भाषा) कहा है। उपर्युक्त लुहिपा के गीत में रवि, शशिमण्डल, कौआ, विडाल आदि वस्तुएँ संकेतात्मक हैं। 'पंच विडाल' बौद्ध शास्त्र में प्रतिपादित पंच प्रतिबन्धों—आलस्य, हिंसा, काम, विचिकित्सा एवं मोह के प्रतीक हैं। ये पंच-विकार ज्यों-के-त्यों बाद में निर्गुण ज्ञान-धारा के सन्तों और हिन्दी के सूफी कवियों ने भी अपनाए हैं, अन्यथा हिन्दू-दर्शनों के अनुसार इन विकारों की संख्या राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, इस तरह छः होती है। बौद्ध वज्रयान पर आधारित गोरखपंथ के अनुयायी कोई-कोई जोगी आजकल भी भीख माँगते हुए शहरों की गलियों में 'जो हमें देगा उसके पाँच मरेंगे' इस तरह अन्योक्ति भाषा बोलते दिखलाई पड़ते हैं। वज्रयानियों के अनुसार साधना द्वारा प्राप्य निर्वाण—'महासुह' (महासुख)—वह अवस्था है, जिसमें साधक का शून्य में यों विलय हो जाता है, जैसे कि जल में नमक की डली का। इस अवस्था का शृंगारिक प्रतीक उनके सिद्धान्त में 'युगनद्ध' अर्थात् नर-नारी की परस्पर गाढ़ालिंगनबद्ध मुद्रा है। यही कारण है कि इनकी वाम-मार्गी साधना एवं तान्त्रिक प्रक्रिया में मद्य-मांस तथा स्त्रियों—विशेषतया डोमिनी, कोलिनी, शबरी आदि निम्न-जातियों—का सेवन अनिवार्य है, क्योंकि इनके यहाँ स्त्रियाँ महामुद्रा या प्रज्ञा (सुरति, चित्त-एकाग्रता) का प्रतीक मानी जाती हैं। किन्तु प्रतीक को साध्य मान लेने की अवस्था में इनका पतन स्वाभाविक ही था, और वह खूब हुआ। उदाहरण रूप में सिद्ध डोम्बिपा का डोम्बी-विषयक एक रहस्यवादी गीत देखिए :

सिद्धों की रहस्यात्मक अन्योक्ति पद्धति

1. चर्यापद १, 'हिन्दी काव्यधारा', पृ० १३७ से उद्धृत (राहुल सांकृत्यायन)।

गंगा जउँना माँझे बहइ नाई ।
तँह बुडिली मातंगी पोइआ लीलें पार करेइ ।
बाहतु डोम्बी बाहलो डोम्बी, वाट भइल उछारा ।
सद्गुरु पाअ-प(सा)ए जाइब पुनु जिनउरा ।
पाँच केडुआल पडन्ते माँगे पीठत काच्छी बाँधी ।
गअण-दुखोलें सिचहू पाणी न पइसइ साँधी ।
चंद-सूज्ज दुई चक्का सिठि-संहार-पुलिन्दा ।
वाम दहिन दुइ भाग न चेवइ वाहतु छन्दा ।।
कवड़ी न लेइ वोडी न लेइ सुच्छडे पार करई ।
जो एथे चड़िया बाहब न जा (न) इ कूलें कूल बुड़ाई ।[1]

"गंगा और जमुना इन दोनों के बीचोंबीच से एक नौका बह रही है। उसमें एक मातंगी बैठी है, जो लीलाभाव, सहजभाव से योगियों को पार उतार देती है। खेती चलो, ओ डोम्बी, खेती चलो, पथ में देर हो रही है। सद्गुरु-पाद के उपदेश से हम पंचजिनपुर (पंच तथागतों का देश) में शीघ्र पहुँच जायँगे। पाँच पतवार इस नाव को खे रहे हैं। पाल बँधे हुए हैं। गगन-शून्य पात्र से नौका में भर आने वाले जल को मैं उलीच रहा हूँ। सूर्य और चन्द्र ये दोनों दो चक्र हैं, सृष्टि और संसार के पालों को फैलाने और उतारने के। वाम और दक्षिण इन दोनों कूलों से बचकर स्वच्छन्द मार्ग पर चलती चलो। यह डोम्बी कौड़ी लेकर पार नहीं उतारती, स्वेच्छा से श्रम करती है। जिन्होंने यह यान ग्रहण नहीं किया, और अन्य रथ पर चढ़े हैं वे (अन्य सम्प्रदाय के योगी) पार नहीं उतर पाते।"[2]

यहाँ नौका जीवन का प्रतीक है एवं गंगा, यमुना, सूर्य, चन्द्र आदि हठयोग-साधन किन्हीं अन्तःशरीरी नाड़ियों के संकेत हैं, यह हम आगे देखेंगे। डोम्बी प्रज्ञा के लिए सकेत है।

बौद्ध वज्रयानियों की उलटबासियाँ

निर्गुण धारा के कबीर आदि रहस्यवादी सन्तों की शुद्ध-बुद्ध जीवात्मा के माया-ग्रस्त हो जाने की अवस्था आदि को लक्ष्य करके कही गई विरोधमूलक प्रतीक-विधान वाली 'उलटवासियों'—उलट-पुलट, अटपटी बातों— की मूल-भित्ति हमें इन्हीं वज्रयानियों की गुह्य वाणी में मिलती

---

१. चर्यापद १४, 'हिन्दी काव्यधारा', पृ० १४० (राहुल सांकृत्यायन) से उद्धृत।

२. डॉ० धर्मवीर भारती, 'सिद्ध-साहित्य', पृ० २७६।

है। सिद्ध टेंडण (तंत्ति) पा (८४५) की एक 'उलटबासी' देखिए :

टालत मोर घर नाहि पडिवेशी।
हाँडीत भात नाहि निति आवेशी॥
वेंगस साप वडहिल जाअ।
दुहिल दुधु कि वेन्टे समाअ॥
बलद बिआअल गविआ बाँझे।
पिटहु दुहिअइ ए तिनो साँझे॥
जो सो बुधी सोध नि-बुधी।
जो सो चोर सोई साधी॥
निति सिआला सिहे सम जूझअ।
टेंटण पाएर गीत बिरले बूझअ॥[1]

'टीले पर मेरा घर है, पर कोई भी पड़ौसी नहीं है। हाँडी में भात का दाना भी नहीं, पर अतिथि आ रहे हैं। मेढक से सर्प भयभीत है। दुहा हुआ दूध क्या थनों में लौट जायगा? बैल ने प्रसव किया है, गाय बाँझ हो गई है। बैल तीनों समय दूध देता है। जो बुद्धिमान है, वही बुद्धिहीन है। जो चोर है, वही साह है। एक शृगाल सिंह से युद्ध करता है। टेंटणपा की यह चर्या बिरले ही बूझ सकते हैं।'

देखने में परस्पर-विरोधी होते हुए भी ये प्रतीक अपने किन्ही सैद्धान्तिक अर्थों में संगत हो जाते हैं, परन्तु वास्तव में साहित्यिक दृष्टि से यह निरी कष्ट-कल्पना ही समझिए।

बौद्ध वज्रयानियों में से सिद्ध गोरखनाथ (गोरक्षपा) ने शैव सिद्धान्त पर अपने एक नये ही सम्प्रदाय की नींव डाली, जिसे नाथ-पंथ कहते हैं। गोरख का समय राहुल सांकृत्यायन के अनुसार विक्रम की नवीं शती है। इनका पंथ बहुत-कुछ अंश में वज्रयानी होता हुआ भी अपने स्वतन्त्र विचार भी रखता है। इसमें वज्रयानियों की बीभत्स एवं अश्लील बातों को तो छोड़ दिया गया है और पातंजल-योग के ईश्वरवाद को लेकर साधना में हठयोग का सूत्रपात किया गया है। इसके अनुयायियों में हिन्दू और मुसल-मान दोनों ही हैं, जिनका प्रचार-क्षेत्र अधिकतर राजस्थान और पंजाब रहा है। भाषा के सम्बन्ध में गोरखपंथियों की बानियों ने अपभ्रंश और देशी भाषा (हिन्दी) के बीच संयोजक—मध्य-कड़ी—का काम किया है अर्थात् इनमें

गोरखपंथियों का योगवाद

1. 'हिन्दी काव्यधारा', पृ० १६४ (राहुल सांकृत्यायन) से उद्धृत।

देश-भाषा की उत्पत्ति तो हुई, किन्तु उसके साथ-ही-साथ अपभ्रंश के शब्दों का भी बहुत मिश्रण चलता ही रहा। इनकी रचनाओं में योग-साधना एवं साम्प्रदायिक शिक्षा-मात्र मिलती है, हृदय की कोमल और स्वाभाविक अनुभूतियों के दर्शन नहीं होते, जिसके कारण वे साहित्य के भीतर नही आ सकती। फिर भी अपनी अन्तर्मुखी साधना-प्रक्रिया अथवा योगवाद में इन्होंने भी वज्रयानियों की तरह घट—शरीर—के भीतर की इड़ा, पिंगला, षट्चक्र, सहस्रदल, अनाहत नाद आदि की ओर संकेत करने वाली रहस्यमयी उक्तियाँ मुनाकर अन्योक्ति-पद्धति का ही आश्रय लिया है। उदाहरणार्थ गोरखनाथ की निम्नलिखित उक्ति देखिए :

नीझर झरै अमीरस पिवरण,
सटदल वेध्या जाई।
चाँद विहूरण चाँदरण,
देखा गोरख राई।[1]

अर्थात् 'षट्दल का भेदन हो जाने पर पीने के लिए अमृत-रस का झरना झरने लगता है। गोरखनाथ ने वहीं पर चन्द्रमा के न होने पर भी चाँदनी देखी।' यहाँ षट्दल, अमृत का झरना एवं चन्द्र के अभाव में भी चन्द्र के प्रकाश वाली उलटवासियों की-सी विपर्यय-उक्ति सभी सांकेतिक है।

सं० १२४१ में प्रसिद्ध जैन पंडित सोमप्रभ सूरि द्वारा लिखे हुए 'कुमार पाल प्रतिबोध' एवं 'स्फुट पद्य' नामक सुभाषित-संग्रह दो ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें अपभ्रंश की बहुत-सी मुक्तक अन्योक्तियाँ भरी हुई हैं। 'कुमारपाल प्रतिबोध' चार संदर्भों में विभक्त है। प्रथम संदर्भ का नाम 'जीवमनःकरण-संलाप कथा' है, जो एक छोटा-सा रूपक-काव्य है। इसका कथानक

सोमप्रभ की जीवमनःकरण-संलाप कथा

इस तरह है—"देह नामक नगर है जिसमें आयु-कर्न का प्राकार खींचा हुआ है। यहाँ सुख, दुःख, क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोक आदि बहुत-से लोग निवास करते हैं। आत्माराम इस नगर के राजा है, जिसकी पटरानी है बुद्धिदेवी। प्रधान मन्त्री मन है, जिनके नीचे ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मचारी है। एक बार मन और आत्मा (राजा) में संवाद छिड़ जाता है। मन जीव की निष्फलता बतलाते हैं जिसके लिए सारा बखेड़ा और अन्याय संसार में खड़ा है। पाँचों कर्माध्यक्षों (ज्ञानेन्द्रियों) की निरंकुशता की भी शिकायत करते है। राजा अपने विविध अनुभव सुनाकर और उन सबमें समन्वय स्थापित करने का मन्त्र बताकर

१. 'आत्मबोध', पृष्ठ २२६।

संवाद समाप्त कर देते हैं।"[1] सूरि का मानसिक भावों का यह मानवीकरण एक उसी तरह का अध्यवसित रूपक है, जैसा कि संस्कृत में कृष्णमिश्र का 'प्रबोध-चन्द्रोदय' अथवा हिन्दी में नूर मोहम्मद की 'अनुराग-बाँसुरी' एवं प्रसाद की 'कामना।'

विद्यापति का माधुर्य-भाव

हिन्दी भाषा के उत्पन्न होते-होते ही देश को मुस्लिम आक्रान्ताओं का सामना करना पड़ा और कई वर्षों तक रण-क्षेत्र बने रहने की अशान्त राजनीतिक परिस्थिति में भाषा और कला को पनपने का बहुत कम योग मिला। इस संघर्ष-युग में रणभेरियाँ बजीं और चारणों ने वीर-काव्य लिखे, जो घटनात्मक और वर्णनात्मक ही होते थे। हाँ, 'मैथिल-कोकिल' विद्यापति ही एक ऐसे कलाकार हुए, जिन्होंने राधा-माधव को नायक-नायिका बनाकर शृंगारात्मक कोमल-कांत पदावली लिखी, जो हिन्दी-साहित्य की बहुत ही मधुर आदि-सम्पत्ति है। ये पद संस्कृत के 'गीत-गोविन्द' के अनुकरण पर रचे प्रतीत होते हैं, जिनमें डॉ० बड़थ्वाल के शब्दों में "निर्गुण-पंथियों के अनुसार जयदेव ने अन्योक्ति के रूप में ज्ञान कहा है। गोपियाँ पंचेन्द्रियाँ हैं और राधा दिव्य ज्ञान। गोपियों को छोड़कर कृष्ण का राधा से प्रेम करना यही जीव की मुक्ति है।"[2]

माधुर्य-भावमूलक रहस्यवाद

हम देखते हैं कि परमात्म-साक्षात्कार करने वालों में दाम्पत्य प्रणय को परमात्मीय प्रेम का प्रतीक बनाने की प्रथा बहुत पहले से प्रायः सर्वत्र पाई जाती है। ज्ञानाश्रयी धारा के निर्गुणपन्थी सन्तों, सूफ़ी कवियों एवं वर्तमान काल के रहस्यवादियों की रचनाओं में यही दाम्पत्य-भावना मेरुदण्ड बनी रहती है। यूरोपीय साहित्य में भी यही बात पाई जाती है। अंग्रेज़ कवि पैटमोर ईसाई धर्म के सम्बन्ध में लिखते हैं—"ईसा मसीह के साथ जीवात्मा का उनकी विवाहिता स्त्री का सम्बन्ध ही उस भक्ति-भाव की कुञ्जी है जिससे युक्त होकर उनके प्रति प्रार्थना, प्रेम एवं श्रद्धा प्रदर्शित होनी चाहिए।"[3]

---

१. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', (काशी) सं० २००२ अंक ३, ४ में डॉ० हीरालाल जैन एम० ए० के लेख 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य' से।

२. 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', पृष्ठ ६५।

३. मिस स्पर्जन द्वारा अपनी पुस्तक 'Mysticism in English Literature', P. 49, तथा डॉ० बड़थ्वाल द्वारा अपने ग्रंथ 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', पृ० ३६२, में उद्धृत।

संस्कृत-साहित्य में तो यह भावना बडी पुरानी है। वैदिक ऋषियों ने बहुत पहले "इयं कल्याण्यजरा मृत्यस्यामृता गृहे"[1] (यह कल्याणी कभी न जीर्ण होने वाली तथा मरणधर्मा शरीर में अमृता—नित्य—है) कहकर आत्मा को नारी रूप में चित्रित कर दिया था। भागवत की सारी 'रास-पंचाध्यायी' जीव-ब्रह्म-मिलनपरक है, यह हम पीछे देख आए है। 'वृहदारण्यक उपनिषद्' में जीव-ब्रह्म के मिलन की उपमा पति-पत्नी के मिलन से यों दी है :

"तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्,
एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्।"[2]

अर्थात् "जिस तरह अपनी प्रियतमा द्वारा अच्छी तरह आलिंगित हुआ मनुष्य कुछ भी बाहरी ज्ञान नहीं रखता, उसी तरह चित्स्वरूप परमात्मा में मिले हुए जीवात्मा को भी कोई बाह्य ज्ञान नही होता।" उपनिषद् की यह उपमा ही बाद को प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भेद-स्थगन होने पर अन्योक्ति-रूप में प्रयुक्त होने लगी। हिन्दी में इस माधुर्य-भाव के रहस्यवाद का श्रीगणेश बहुत-से लोग विद्यापति की रचना से मानते है। उदाहरण के लिए उनका एक पद देखिए :

लोचन धाए फेधाएल हरि नहि आएल रे।
सिव सिव जिवओ न जाए आस अरुझाएल रे॥
मन करे तहाँ उड़ि जाइअ जहाँ हरि पाइअ रे।
प्रेम परसमनि जानि आनि उर लाइअ रे॥
सपनहु संगम पाओल रंग बढ़ाओल रे।
से मोरा बिहि बिघटाओल निंदओ हेराएल रे॥
भनइ विद्यापति गाओल धनि धइरज धर रे।
अचिरे मिलत तोहि बालम पुरत मनोरथ रे॥[3]

"आँखें प्रतीक्षा में दौड़-दौड़ सूज गई, हरि नहीं आए। शिव-शिव, जिया नही जाता, मिलन की आशा प्राणों को उलझाये हुए है, मन कहता है वहाँ उड़कर चली जाऊँ जहाँ हरि मिल जायँ और उन्हें प्रेम का पारसमणि जानकर छाती से लगा लूँ। स्वप्न में भेंट हुई थी, आनन्द आया, किन्तु विधि ने स्वप्न नष्ट कर दिया; नींद भी मुझे भूल गई है। विद्यापति कहते हैं, 'बाले, धीरज धर। प्रियतम तुम्हें शीघ्र ही मिलेंगे और तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करेंगे'।" राधिका

१. महादेवी वर्मा द्वारा 'अथर्व वेद' से उद्धृत। 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', पृ० १२७।

२. ४।३।२१।

३. 'विद्यापति की पदावली', पद १९३।

की हरि-वियोग की वेदना और उनसे मिलने की आतुरता मीरा और महादेवी वर्मा की वेदना और आतुरता से तुलनीय है। मैथिल-कोकिल की इन माधुर्य-भरी गीतियों का बंगला-साहित्य एवं कवीन्द्र रवीन्द्र पर बड़ा प्रभाव पड़ा, जिनका हिन्दी की रहस्यवादी एवं छायावादी प्रतीक-प्रवृत्तियों के प्रणुदन में बड़ा हाथ है।

विद्यापति की अन्योक्ति अध्यवसित रूप में

इसके अतिरिक्त विद्यापति ने राधा-माधव के सौन्दर्यांकन में कुछ ऐसे दृष्ट-कूट भी लिखे हैं, जो पूर्णतः अन्योक्ति-पद्धति पर आधारित है। उनमें कवि ने प्रतीकों द्वारा ही सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की है। हमारे देखने में सूरदास अपने दृष्ट-कूटों के लिए विद्यापति के ही ऋणी हैं। उदाहरण के लिए विद्यापति का एक दृष्ट-कूट देखिए :

जुगल सैल-सिम हिमकर देखल
एक कमल दुइ जोति रे।
फुलल मधुरि फुल सिंदुर लोटाएल
पाँति बइसलि गज-मोति रे।।
आज देखल जाति के पतिआएत
अपुरुब बिहि निरमान रे।
बिपरित कनक-कदलि-तर सोभित
थल-पंकज के रूप रे।।[1]

इसमें विद्यापति ने राधिका का चित्र खीचा है—"दो शैलों के समीप हिमकर (चाँद) दिखलाई देता है। एक कमल है और उसमें दो ज्योतियाँ हैं। फूली हुई मधुरी (लता) के फूल पर सिन्दूर लपेट दिया गया है। पास ही गज-मोतियों की पंक्ति बैठी हुई है। आज देखकर उस पर कौन विश्वास करेगा? यहाँ देखो तो विधि का निर्माण ही अपूर्व है। उलटे सुवर्ण-कदली वृक्षों के नीचे स्थल-पंकज शोभित हैं।" यहाँ शैलों से कुच, लता से गात, गज-मोतियों से दाँत, कदलियों से जाँघें और स्थल-पंकजों मे पैरों का पूर्ण अध्यवसित रूपक है। इसकी सूर से तुलना कीजिए :

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज क्रीड़त है, ता पर सिंह करत अनुराग।।
हरि पर सरवर, सर पर गिरवर, गिरि पर फूले कंज-पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग।।

---

१. 'विद्यापति की पदावली', पद १३।

फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक पिक मृग मद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग॥

दृष्ट-कूटों के अतिरिक्त विद्यापति का प्रकृति-चित्रण भी बड़ा अनूठा और जीवन्त है। इसके बहुत-से प्रकृति-चित्र उद्दीपन न होकर आलम्बन तथा छायावादियों की तरह मानवीकृत रूप में मिलते हैं।

अन्योक्ति समासोक्ति-रूप में

वसन्त कहीं 'राजा', कही 'दुलहा', कहीं 'विवादी' और कहीं 'नवजात शिशु' के रूप में चित्रित हैं। उदाहरण के लिए वसन्त का राजा के रूप में आते ही उसके सम्मान और प्रजा के आनन्द का दृश्य देखिए :

अभिनव कोमल सुन्दर पात।
सबारे बने जनि पहिरल रात॥
मलय-पवन डोलए बहु भाँति।
अपन कुसुम रस अपने माति॥
कोकिल बोलए साहर भार।
मदन पाओल जग नव अधिकार॥
पाइक मधुकर कर मधु-पान।
भमि-भमि जोहए मानिनि-मान॥
दिसि-दिसि से भमि, विपिन निहारि।
रास बुझाबए मुदित मुरारि॥[1]

"वसन्त महाराज के आगमन पर सारे वन-वृक्षों ने अभिनव, कोमल, सुन्दर पल्लवों के रंगीन वसन पहन लिये। मलय पवन चारों तरफ डोल रहा है। पुष्प अपना ही मकरन्द पीकर मस्त हो गए हैं। कोयल सहकार (आम) की मंजरी पर बैठकर घोषणा कर रही है कि ऋतुराज के मित्र वसन्त को अब उसके राज्य में नया अधिकार प्राप्त हो गया है। मधुकर (सिपाही) मधु-पान करके चारों तरफ घूम-घूमकर राज-द्रोहिणी मानिनियों के मान का पता लगा रहा है और चारों दिशाओं में घूमकर विपिन में मुरारी को रास-लीला करते देखकर मुदित हो रहा है।" इस वर्णन की छायावादी कविवर पंत से तुलना कीजिए :

फिर वसन्त की आत्मा आई,
मिटे प्रतीक्षा के दुर्वह क्षण,
अभिवादन करता भू का मन !
फूलों में मृदु अंग लपेट कर,

१. 'विद्यापति की पदावली', पद १८१।

किरणों के सौ रंग समेट कर,
गुञ्जन कूजन से जग को भर !
× × ×
फिर वसन्त की आत्मा आई,
आम्र-मौर में गूँथ स्वर्ण कण,
किंशुक को कर ज्वालवसन तन !
सिहरी माँसल वन-श्री थर-थर,
अंगों पर काँपा छायांबर,
सहसा पुष्प शिखर उठे उभर,
फिर वसन्त की आत्मा आई,
पल्लव क्षितिज बना परिरंभण,
शोभा करती आत्म-समर्पण ![1]

भक्ति-काल की परिस्थिति और उसकी धाराएँ

आचार्य शुक्ल के अनुसार भक्ति-काल सं० १३७५ से १७०० तक माना गया है। आदि-काल की अपेक्षा यह कुछ शान्ति का काल रहा। अब मुसलमानों का देश में प्रभुत्व प्रायः जम ही गया था, इसलिए इकट्ठा रहने के लिए विजित और विजेताओं में परस्पर समन्वय के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प ही न था। इस समन्वय की सबसे अधिक आवश्यकता पहले दोनों जातियों के धर्म-क्षेत्र में अनुभव हुई, क्योंकि मुस्लिम आक्रान्ताओं का अपने आक्रमणों के पीछे उतना ध्येय राजनीतिक प्रभुत्व-स्थापन का नहीं था, जितना कि अपने दीन—धर्म—के प्रसार का। इधर देखो तो दोनों धर्म प्रायः परस्पर-विरोधी थे। हिन्दू-धर्म मूर्ति-पूजक था, तो मुस्लिम-धर्म मूर्ति-भंजक। एक में बहु-देवतावाद था, तो दूसरे में एक-अल्लाहवाद। एक का कर्म-कांड एक तरह का था, तो दूसरे का दूसरी ही तरह का। इस कारण दोनों धर्मों में सामंजस्य लाना ही उस समय की ज्वलन्त समस्या थी। ऐसे ही समय में मध्वाचार्य, नामदेव, निम्बाचार्य, वल्लभाचार्य, रामानन्द आदि महान् धर्म-प्रचारक शक्तियाँ आविर्भूत हुई, जिन्होंने धर्म-क्षेत्र में देश का सारा वातावरण ही बदल दिया। यही कारण है कि हिन्दी का यह सारा द्वितीय काल 'भक्ति-काल' कहलाता है।

भक्ति-काल में हम भक्ति को निर्गुण और सगुण दो धाराओं में बहती हुई पाते हैं। निर्गुण-धारा भी फिर ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी इन दो और

१. 'उत्तरा', पृ० १४४ (सं० २०१२)।

उपधाराओं में विभक्त हुई। पहली धारा वाले कवियों को 'सन्त' कहते हैं और दूसरी धारा वालों को 'सूफ़ी'। रचना-प्रकार की दृष्टि से सन्त कवि और सूफी कवि दोनों ने अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देने में प्रतीकों को अपनाकर अधिकतर अन्योक्ति-पद्धति का ही आश्रय लिया है, इसीलिए यदि निर्गुण-धारा युग को हम अन्योक्ति-युग ही कहें, तो अनुचित न होगा।

ज्ञानाश्रयी शाखा में कबीर, नानक, दादू, सुन्दरदास, मलूकदास आदि उल्लेखनीय हैं। इन सन्त कवियों में अधिकतर निम्न-श्रेणी के थे, जिनको

ज्ञानाश्रयी शाखा

श्रवण और सत्संग द्वारा ज्ञान प्राप्त हुआ था, अध्ययन द्वारा नहीं, क्योंकि ये अधीत नहीं थे। कबीर ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है :

मसि कागद छूयो नहीं, कलम गहि नहिं हाथ।
चारौं जग महातम, मुखहि जनाई बात॥

सन्त कबीर इनके अग्रणी और मुख्य प्रतिनिधि है। इनके निर्गुण-पन्थ का सामान्य भक्ति-मार्ग निराकार एकेश्वरवाद पर आश्रित है। वास्तव में यह निराकार एकेश्वरवाद शुद्ध भारतीय वेदान्त ही है, किन्तु यह शुष्क था, अतएव इसमें सरसता लाने के लिए सन्त कवियों ने इस्लामी सूफियों की तरह इसे अंशतः प्रेम-तत्त्व से परिसिक्त कर दिया। रागात्मक तत्त्व के आ जाने से इनका पन्थ गोरख-पन्थ-जैसा हृदय-शून्य न रहा और यही इस पन्थ की नवीनता भी है। इस तरह इनके यहाँ 'ज्ञान' के साथ 'भक्ति' का योग हो गया, किन्तु कर्म में ये निरे गोरखपन्थियों एवं बौद्ध वज्रयानियों के ही अनुयायी रहे। इनके यहाँ प्रयुक्त 'विज्ञान', 'शून्य', 'निर्वाण' आदि शब्दों पर बौद्ध छाप स्पष्ट है, यद्यपि इनकी अर्थ-छाया बौद्धों की अपेक्षा अवश्य कुछ बदली हुई है। अन्तः-साधना की प्रक्रिया में 'पुर' (शरीर) के भीतर 'षट्चक्र', 'विन्दु', 'अमृत-कुण्ड', 'इंगला', 'पिंगला' आदि योगवाद की बहुत-सी पारिभाषिक शब्दावली इन्हें नाथ-पन्थ से मिली हुई दाय है। अन्तःशरीरी को अभिव्यक्त करने के लिए इनके यहाँ विभिन्न प्रतीक हैं, जिनका मूल हमें वेदों[1] और उपनिषदों में मिलता है। पहेली-शैली में कबीर की उलटवासियाँ भी इसी तरह प्रतीकात्मक हैं, इसलिए वे इसी योगवादी रूपक-वर्ग में आती हैं, अन्तर्मुखी यौगिक एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए ऐसी गूढ़ प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

१. (क) **अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोद्धयाः।**
पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्॥ अथर्ववेद।

(ख) **नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्नकारयन्। गीता ५।१३।**

के शब्दों में 'आध्यात्मिक अनुभव की अनिर्वचनीयता के कारण और····अर्थ को जान-बूझकर छिपाने के लिए भी हुआ करता है, जिससे आध्यात्मिक मार्ग के रहस्यों का पता अयोग्य व्यक्तियों को न लगने पावे अथवा यदि बाइबिल के शब्दों में कहा जाय, तो 'मोती के दाने सूअरों के आगे न बिखेर दिए जायँ'।''[१] सन्त कवियों की ऐसी उलटबाशियाँ, जहाँ तक वे जीवन और अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों के भावात्मक व्यक्तीकरण से सम्बन्ध रखती हैं, उनके गोपन से नहीं, वहाँ तक निस्सन्देह काव्य-कोटि के भीतर आ जाती है, किन्तु योगवाद की जो उक्तियाँ केवल रहस्यों को गूढ़ रखने के लिए रची गईं और पहेली-मात्र हैं, उन्हें हम काव्य से बाहर ही रखेंगे। उनमे हृदय का रस नहीं है, निरा मस्तिष्क का उफान है। साहित्य-दर्पणकार के शब्दों में वैसी उक्तियाँ रस-परिपन्थी होने के कारण 'काव्यान्तर्गड्डभूत' अर्थात् काव्य-रूपी गन्ने की गाँठें ही होती हैं।[२]

ज्ञानाश्रयी शाखा के कुछ प्रतीक और यौगिक संकेत

सन्त कवियों की प्रतीक-पद्धति पर लिखी हुई कुछ उक्तियों को दिखाने के पूर्व हम उनके यौगिक एवं आध्यात्मिक प्रतीकों और संकेतों का भी यहाँ थोड़ा-सा परिचय दे देना आवश्यक समझते हैं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि जिस तरह साधारण भाषाओं में एक अर्थ के प्रतिपादक कितने ही शब्द हुआ करते हैं, ठीक उसी तरह संकेत-भाषा में भी एक भाव की अभिव्यक्ति के लिए एक ही नहीं, बल्कि अनेक प्रतीक और संकेत हुआ करते है। सबसे पहले आत्मा को ही लीजिए। निर्गुण-पन्थी युग के आत्मा के व्यंजक संकेतों में से कुछ है हंस, बादशाह, साह, खग, सती, बाँझ, वियोगिनी, सुन्दरी, दुलहिन, बेली इत्यादि; इसी तरह परमात्मा के सागर, दरिया, अनाहद, कुम्हार, प्रीतम, दुल्हा, खसम आदि; मन के मृग, मेढ़क, मूसा, सियार, भँवरा, बगुला, मत्त गजेन्द्र, कौवा आदि; इन्द्रियों के पांडव, पाँच लड़िका, सखी सहेलरी, गाय आदि; माया के साँपणी, बिलैया, मगर, हिरणी, पापिणी, डंकिणी, डाइन, कोढणी आदि; शरीर के पिंड, घट, मोम, महल, नौका, चादर, वन, बंक-कूप, गोकुल आदि; एवं साधक के अहेरी, पारधी, जुलाहा आदि संकेत होते है। इसके अतिरिक्त अन्तःशरीरी श्वासोच्छ्वास की योग-क्रियाओं द्वारा अपने भीतर ही परमात्म-साक्षात्कार से सम्बन्ध रखने वाली कुछ नाड़ियों एवं अवयव-संस्थानों के भी प्रतीक होते हैं।

१. 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', पृष्ठ ४०६।
२. 'साहित्य दर्पण', परि० १०।

उपस्थ के नीचे से लेकर नाभि, हृदय, भ्रूमध्य एवं मस्तिष्क में अवस्थित षट्-चक्रों के लिए विभिन्न दलों वाले कमल-संकेत है।[1] ये चक्र सुषुम्ना नाड़ी से सम्बद्ध हैं, जिसके वाम और दक्षिण में इडा और पिंगला दो नाड़ियाँ भी हैं। इन तीनों नाड़ियों के संकेत क्रमशः गंगा, जमुना और सरस्वती एवं सम्मिलित संकेत 'त्रिवेणी' है। ये त्रिकुटी अथवा भृकुटि(भौहों के बीच के स्थान) में मिलती हैं। इसे काशी कहते हैं, जहाँ मृत्यु-काल में साधक को मोक्ष मिलता है। इन अन्तर्भूमियों के षट्चक्रों में कहीं सूर्य और कहीं चन्द्र रहता है। उपरितन में अमृत-कुण्ड भी है, जिससे अमृत रस झरता रहता है। साधारण बुद्धि वालों को अष्टांग-योग की ये सारी बातें अपने वास्तविक रूप में ही समझनी कठिन होती हैं, प्रतीक-रूप में तो कहना ही क्या। इसलिए इनके नितान्त पारिभाषिक होने के कारण अधिक विस्तार न करते हुए हम इस सम्बन्ध में कबीर का नीचे एक ही निदर्शन देते हैं :

चन्द सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि।
झूलें पंच पियारियाँ, तहाँ झूलै जिय मोरि॥
द्वादस गम के अन्तरा, तहाँ अमृत कौ ग्रास।
जिनि यहु अमृत चाषिया, सो ठाकुर हंम दास॥
सहज सुंनि कौ नेहरौ, गगन मण्डल सिरिमौर।
दोऊ कुल हम आगरी, जौ हम झूलैं हिंडोल॥
अरध उरध की गंगा जमुनां, मूल कवल कौ घाट।
षटचक्कर की गागरी, त्रिबेणीं संगम बाट॥[2]

निगुण-पंथियों की उलटबासियों में अन्योक्ति-पद्धति

योगानुभूतियों की तरह निर्गुण-पन्थियों की उलटबासियाँ भी रहस्यात्मक हैं। इनमें अन्योक्ति-पद्धति द्वारा ज्ञान की सूक्ष्म बातें कही गई हैं, किन्तु स्मरण रहे कि यहाँ अन्योक्ति सादृश्य-मूलक प्रतीक-विधान के स्थान में विरोध-मूलक प्रतीक-विधान को लेकर चलती है। शब्दान्तर में यह कह लें कि विरोध-मूलक अन्योक्ति को ही उलटबासी कहते हैं। उसमें विरोध भी आपाततः ही रहता है, वस्तुतः नहीं। उपनिषदों के अनुसार, 'विभु, नित्य, सर्वद्रष्टा, सर्वकर्ता आत्मा शरीर में अधिष्ठित होकर संसार-यात्रा में प्रवृत्त हुआ अपने अन्तिम गन्तव्य-स्थान—'परम पद'—की ओर

१. प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ गीता ८।१०।

२. 'कबीर ग्रन्थावली', पृ० ८४ (सं० २०१६)।

जा रहा है। कठोपनिषद् की आलंकारिक भाषा में आत्मा अधिष्ठाता—स्वामी—है, शरीर रथ, इन्द्रियाँ घोड़े, मन लगाम एवं बुद्धि सारथी।[1] ये सभी यात्रा-सहायक यदि ठीक-ठीक कर्तव्य-पालन करते हुए चलें, तो यात्री का अपनी मंजिल पर पहुँचना ठीक ही है और यही स्वाभाविक क्रम भी है, किन्तु इसके विपरीत यदि स्वामी की अनवधानता से सभी स्वतन्त्र होकर पथ-भ्रष्ट हो जायँ, तो इसका दुष्परिणाम यही होगा कि वह भी इनके साथ ही इधर-उधर भटके और नाना कष्ट भोगे। इस उल्टी अवस्था के अतिरिक्त कभी-कभी श्रोताओं में चमत्कार और कुतूहल का भाव पैदा करने के लिए भी आध्यात्मिक अनुभूतियों को वैपरीत्यमुखेन अभिव्यक्त किया जाता है। यदि संकेत समझ में आ जायँ, तो उलटबासियाँ समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। उदाहरण के लिए देखिए :

> ऐसा अद्भुत मेरे गुरि कथ्या, मैं रह्या उभेषै।
> मूसा हसती सौ लड़ै, कोई बिरला पेषै॥
> मूसा पैठा बांबि मैं, लोरै सापणि धाई।
> उलटि मूसै सापणि गिली, यहु अचिरज भाई॥
> चींटी परबत ऊषण्यां, ले राख्यौ चौड़ै।
> मुर्गा मिनकी सूं लड़ै, झल पांणीं दौड़ै॥
> सुरहीं चूंषै बछतलि, बछा दूध उतारै।
> ऐसा नवल गुंणीं भया, सारदूलहि मारै॥
> भील लुक्या बन बीझ मैं, ससा सर मारै।
> कहै कबीर ताहि गुर करौं, जो या पदहि बिचारै॥[2]

इस उलटबासी में मोह के कारण मन, इन्द्रिय और बुद्धि के अधीन हुई जीवात्मा की दशा का विभिन्न प्रतीकों द्वारा चित्र खींचा गया है। कबीर परा सत्ता को राम मानते हैं, जो जगत् का कारण है, किन्तु स्वयं किसी का कार्य नहीं। इस सम्बन्ध की भी उलटबासी देखिए :

---

१. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥३।३॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥३।४॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥३।५॥

२. 'कबीर ग्रन्थावली', पृ० १२२ (सं०, २०१६)।

बांझ का पूत, बाप बिन जाया, बिन पांउँ तरवरि चढ़िया।
अस बिन पाषर गज-बिन गुडिया, बिन षंडै संग्राम जुड़िया॥
बीज बिन अंकूर पेड़ बिन तरवर, बिन साषा तरवर फलिया।
रूप बिन नारी पुहुप बिन परमल, बिन नीरै सरवर भरिया॥[1]

इसी तरह सुन्दरदास की भी एक उलटवासी देखिए :

कुंजरकूँ कीरी गिल बैठी, सिंघहि खाइ अघानो स्याल।
मछरी अग्नि माँहि सुख पायो, जल में बहुत हुती बेहाल॥
पंगु चढ़यो परवत के ऊपर मृतकहिं डेराने काल।
जाका अनुभव होय सो जानै, 'मुन्दर' उल्टा ख्याल॥[2]

'इसमें संसार की माया-ममता से ऊपर उठी हुई जीवात्मा का वर्णन है। 'कीड़ी, चींटी अर्थात् आत्मा कुन्जर हाथी अर्थात् वृहद् संसारी माया को निगले बैठी है; अथवा शब्दान्तर में, शृगाल सिंह को खा बैठा। मछली, आत्मा, अग्नि अर्थात् ज्ञान में ही सुख पाती है, जल—माया—में बड़ी विह्वल रहती थी। पंगु—अब साधक द्वारा इन्द्रियों का प्रयोग न करने के कारण लंगड़ी जीवात्मा पर्वत पर अर्थात् आध्यात्मिक अनुभूति की उन्नत अवस्था मे पहुँच गई है। काल (मृत्यु) स्वयं उस 'मृतक'—सांसारिक दृष्टि से मुर्दे—से डरता है। इस उल्टी वात को, जिसको अनुभव हो, वही जानता है।' उक्त उलटबासियों का भी साधनात्मक रहस्यवाद की तरह अधिकतर सम्बन्ध, जैसा हम पीछे कह आए हैं, ज्ञान-चर्चा एवं प्रभाव-स्थापन से है। वे भावात्मक नहीं हैं, अन्योक्ति-पद्धति में रची केवल योगवादी सूक्तियाँ या पहेलियाँ हैं, इसलिए निर्गुण-मार्गियों को हम सुधारक एवं प्रचारक अधिक और कवि कम कहेंगे। कबीर ही इनमें से एक ऐसे निकले, जो कुछ भाव-क्षेत्र में भी उतरे, जिसके कारण वे हिन्दी-कवियों में अपना प्रमुख स्थान बना बैठे।

कबीर की प्रेमपरक अन्योक्ति-पद्धति

कबीर की रचना को हम दो भागों में बाँट सकते है—सूक्ति और काव्य। काव्य-भाग में रागात्मक तत्त्व आ जाने से इनका भाव-पक्ष कहीं-कही बहुत ऊँचा उठ गया है, जिसने हिन्दी-साहित्य में प्रेमपरक रहस्यवाद के लिए नई दिशा खोली है। इस तरह के रहस्यवाद के वास्तविक संस्थापक कबीर ही माने जाते है। महाकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने

१. 'कबीर ग्रन्थावली', पृष्ठ १२१ (सं० २०१६)।
२. पौड़ी हस्तलेख, पृ० ३२३। डॉ० बड़थ्वाल द्वारा 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', पृ० ४१२ से उद्धृत।

'हंड्रड पोएम्स ऑफ़ कबीर' में इनके सौ पदों का अंग्रेजी अनुवाद किया और उन्हींसे मूल प्रेरणा लेते हुए उसमे अपनी अन्तर-अनुभूति के साथ-साथ पश्चिम के कलाकारों की सामयिक भावना का पुट देकर 'गीताजलि' रची, जो कविता-क्षेत्र में विश्व के नोबल-पुरस्कार की पात्र बनी। कबीर ने अपने ज्ञान-क्षेत्र वाले जीव-ब्रह्म के शुष्क अद्वैतवाद को भाव-क्षेत्र में भी उतारकर उसे पति-पत्नी के अभेद-मिलन के प्रतीक में चित्रित किया है। इसमें सन्देह नही कि इस विषय में उन पर सूफी-सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा है, किन्तु कबीर के प्रेम का सूफियों की तरह जीव और ब्रह्म के क्रमशः 'आशिक' और 'माशूक' के संकेतों में न होकर, इसके विपरीत, प्रियतमा और प्रियतम के संकेतों में होना भावात्मक रहस्यवाद का शुद्ध भारतीय रूप है। इसलिए भक्ति-क्षेत्र में यह सखी-सम्प्रदाय के भीतर आता है। कबीर की अन्तर्वर्ती जीवात्मा—'दुलहिन'—माया का 'घूँघट' डाले हुए अपने 'प्रीतम' के पास जाने को बड़ी लालायित रहती है और प्रतिक्षण प्रश्न किया करती है :

> वै दिन कब आवैंगे माइ।
> जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंगि लगाइ ॥[1]

तड़पन के अधिक बढ़ जाने पर वह स्वयं अपने 'बाल्हा' को संदेश भेजने की चेष्टा करती है :

> बाल्हा आव हमारे ग्रेह रे, तुम्ह बिन दुखिया देह रे।
> सब को कहै तुम्हारी नारी, मोकौं इहै अदेह रे।
> एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे।
> आन न भावै नींद न आवै, ग्रिह बन धरै न धीर रे।
> है कोई ऐसा परउपगारी, हरि सूं कहै सुनाइ रे।[2]

अनुराग की तीव्रता से अभिभूत हुई वह तन्मयता में सारे ही विश्व एवं स्वयं को भी अपने 'लाल' की लाली से 'लाल' हुई पा रही है।[3] उसके प्रियतम की आराधना के निमित्त ही गुरु नानक के शब्दों में :

> गगन में थाल रवि चन्द दीपक बने,
> तारक मंडल जनक मोती।

---

१. 'कबीर ग्रन्थावली', पृष्ठ १६४ (सं० २०१६)।

२. वही, १६४।

३. लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ॥

धूप मलयानिलो पौन चौरी करे,
बनराइ फुलन्त जोती।
कैसी आरती होइ भव खंडना तेरी,
आरती अनाहता बाजत भेरी।[1]

अर्थात् "गगन के थाल पर सूर्य और चन्द्रमा दीपक तथा तारा-मंडल मोती बने हुए हैं, मलयाचल का वायु धूप दे रहा है, पवन चावरी कर रहा है, वन के वृक्ष फूलों की जोत दे रहे हैं, और अनहद की भेरी वज रही है। विश्व कैसी अच्छी आरती कर रहा है!" बेचारी दुलहिन को विरह असह्य हो जाता है। वह भी क्या करे। विरह-वेदना होती ही ऐसी है:

बिरह बान जेहि लागिया, औषध लगे न ताहि।
सुसुकि सुसुकि मरि मरि जिवे, उठे कराहि कराहि।।

सौभाग्यवश जब वह अपने 'गवन' (गौने) की बात सुन लेती है, तो मन-ही-मन आकुलता में कभी-कभी यों गुनगुनाने लगती है:

सुनी के गवन मोरा जियरा घबराई।
आजु मंदिरवा में अगिया लागि है, कोउ न बुझावन जाई।

अन्त में वह 'पहरि ओढ़ि के चली समुरिया।' परन्तु 'पिय' का 'मारग अगम, अगाध है'; उसकी 'ऊँची गैल राह रपटीली पाँव नहीं ठहराय।' उधर देखो, तो विरहिन के 'अभिसार की यात्रा' बड़ी लम्बी ठहरी। साथ ही वहाँ 'चोरन को डर बहुत कहत हैं' और:

जंगल मैं का सोवना, औघट है घाटा।
सिंह बाघ गज प्रजलै, अरु लंबी बाटा।।
निस बासुरि पेड़ा पड़ै, जमदानी लूटै।
सूर धीर साचै मतै, सोइ जन छूटै।।

कबीर के इस वर्णन से प्रभावित टैगोर के निम्न रहस्यवादी गीत से तुलना कीजिए, यद्यपि टैगोर का रहस्यवाद भक्ति-क्षेत्र में कबीर की तरह सखी-सम्प्रदाय का न होकर यहाँ सखा-सम्प्रदाय का है:

आजि झड़ेर राते तोमार अभिसारे,
परानसखा बन्धु हे आमार।
× × ×
तोमार पथ कोथाय भाबि ताइ
सुदूर कोन नदीर पारे

---

१. 'गुरु ग्रन्थ साहब', पृष्ठ ३०८।

गहन कोन बनेर धारे
गभीर कोन अन्धकारे।[1]

'हे हमारे प्राणसखा बन्धो, आज इस तूफ़ानी रात में तुम्हारे अभिसार पर निकला हूँ। तुम्हारा पथ कहाँ होगा? किस सुन्दर नदी के पार तुम हो? किस गहन वन के छोर मे हो? किस गम्भीर अन्धकार में हो?'

कबीर की विरहिणी (आत्मा) धीरज बाँधकर प्राणों को हथेली पर रखकर प्रेम-मत्त हुई अपने मार्ग पर डटी चली ही जा रही है। सच्ची लगन हृदय में है। प्रियतम के लिए आत्म-बलिदान का कोई भी प्रयत्न उठा नही रखा है, इसलिए चलते-चलते एक दिन अपनी मंजिल—'साईं की नगरी'—पहुँच ही जाती है। कुछ देर तो वहाँ लज्जा और डर के मारे ठिठककर यों सोचने लगती है:

निसदिन खेलत रही सखियन संग,
मोहि बड़ा डर लागे।
मोरे साहब की ऊँची अटरिया,
चढ़त में जियरा काँपे।
जो सुख चहै तो लज्जा त्यागे
पिया से हिल मिल लागे।
घूँघट खोल अंग भर भेंटे।
नैन आरती साजे॥

प्रथम मिलन के ऐसे ही चित्र जायसी और पंत ने भी खींच रखे है:

अनचिह्न पिउ काँपै मन माहाँ। का मैं कहब गहब जो बाँहाँ॥
बारि बएस गौ प्रीति न जानी। तरुनी भइ मैमंत भुलानी॥
जोबन गरब किछु मैं नहिं चेता। नेहु न जानिउँ स्याम कि सेता॥
अब जौं कंत पूँछिहि सेइ बाता। कस मुँह होइहि पीत कि राता॥
(पद्मावत)

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात!
विकम्पित मृदु-उर पुलकित-गात,
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप
जड़ित पद, नमित-पलक-दृग-पात। (गुंजन)

अन्त में साहस बटोरकर विरहिणी अपने 'साहब' की 'ऊँची अटरिया' में चढ़ ही जाती है और भय-लज्जा का नियन्त्रण तोड़कर अपना 'घूँघट का पट' खोल देती है। फिर तो 'दूल्हा-दुलहिन मिल गए' और:

१ 'गीतांजलि', पद २३।

कोटिन भानु-चन्द्र-तारागन छत्र की छाँह रहाई।
मन में मन, नैनन में नैना, मन नैना इक हो जाई।
सुरत सोहागिन मिलन पिया को, तनकै नयन बुझाई।
कहैं कबीर मिलै प्रेम-पूरा, पिया से सुरत मिलाई।[1]

कबीर का प्रतीक-वैविध्य

कबीर ने अपनी अन्योक्ति-पद्धति में सूफी कवियों की तरह केवल माधुर्य-भावना के प्रतीक द्वारा ही अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों का चित्रण किया हो, सो बात नहीं। उन्होंने अन्य प्रतीकों का भी प्रयोग करके अपने रहस्यवाद में प्रतीक-वैविध्य दिखाया है। उदाहरण के लिए कबीर द्वारा 'नलिनी' के प्रतीक में खींचा हुआ आत्मा का चित्र देखिए :

काहे री नलनीं तूं कुमिलांनीं,
तेरें हीं नालि सरोवर पांनीं।
जल मैं उतपति जल मैं बास, जल मैं नलनीं तोर निवास॥
ना तलि तपति न ऊपरि आगि, तोर हेतु कहु कासनि लागि॥
कहै कबीर जे उदिक समांन, ते नहीं मूए हंमारे जान॥[2]

यहाँ जीवात्मा नलिनी है, परमात्मा सरोवर पानी है। पानी की शीतलता के सामने ताप का प्रश्न ही नहीं उठता। इस रहस्य को समझने वाले तत्त्वदर्शी मर ही कैसे सकते है ?

महात्मा गाँधी की परम-प्रिय प्रसिद्ध प्रभाती 'उठ जाग मुसाफिर भोर भई' में कबीर ने जीवात्मा का मुसाफिर के प्रतीक से प्रतिपादन किया है। किन्तु इन सभी फुटकल प्रतीकों की अपेक्षा दाम्पत्यमूलक प्रतीक ही इनका अधिक धारावाही रूप में चला है, इसलिए इनका रहस्यवाद मुख्यतया माधुर्य-भाव का है। कबीर के अतिरिक्त दादू, सुन्दरदास आदि निर्गुण-पंथियों ने भी कबीर के अनुकरण पर माधुर्य भाव के संकेत से अपनी अनुभूतियों के चित्र खींचे हैं, यद्यपि कबीर के स्तर पर वे कम ही पहुँच सके हैं।

अब हम अन्योक्ति-पद्धति पर आधारित निर्गुण-पन्थ की प्रेमाश्रयी शाखा पर विचार करते है। इसमें अधिकतर मुसलमान है, जिन्हें सूफी कवि

प्रेमाश्रयी शाखा की अन्योक्ति-पद्धति

कहते हैं। इनका रहस्यवाद भी साधनात्मक और भावनात्मक दोनों प्रकार का है। साधनात्मक प्रकार में ये भारतीय हैं और गोरख-पन्थियों के प्रतीकों के

---

१. **'कबीर', पृष्ठ २८५ (डॉ० हजारीप्रसाद)।**
२. **'कबीर ग्रन्थावली', पृष्ठ ९५ (सं० २०१६)।**

अनुयायी हैं। किन्तु इनका भावनात्मक प्रकार उस विदेशी पुट को लिये हुए है, जिसका उदय अरब और फारस में हुआ है। सूफी मत में ज्ञान-क्षेत्र के सर्वात्मवाद की माधुर्य भावना द्वारा अभिव्यक्ति सन्त कवियों की तरह परमात्मा और जीवात्मा के प्रियतम और प्रियतमा के रूप में नहीं, बल्कि, जैसा कि हम कह आए हैं, प्रियतमा और प्रियतम के रूप में होती है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार भारतीय साहित्य-परम्परा तो यह है—'आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पश्चात् पुंसस्तदिंगितैः'[1] अर्थात् पहले स्त्री का अनुराग बताओ, उसकी चेष्टाओं से पुरुष का बाद को। यही कारण है कि तमाम संस्कृत-काव्यों में प्रेम-निवेदन की पहल नायिका की ओर से होती है और वह अपने प्रियतम के लिए वियोग के नाना क्लेशों एवं कष्टों को झेलती है। 'राम-चरित मानस' में भी तुलसीदास ने जनक की वाटिका में राम-सीता के परस्पर प्रथम साक्षात्कार के समय सीता की आँखों में ही पहले अनुराग की रेखा खींची है। किन्तु फारसी साहित्य में प्रेम के श्रीगणेश की बात ही दूसरी है। यहाँ तो 'परवाना' 'शमा' पर टूटता है और अपनी बलि दे देता है। लैला के लिए मजनू क्या-क्या नहीं करता, परन्तु लैला उससे उतनी प्रभावित नहीं दिखलाई पड़ती। इसी तरह सूफी-मत में भी जीव-प्रियतम ब्रह्म-प्रियतमा से मिलने के लिए आकुल हो उठता है। वह जगत् के उस विराट् सौन्दर्य के पीछे अपना जब सब-कुछ न्योछावर कर देता है, तब कहीं अन्त में उससे मिलन होता है। यही सूफी सिद्धान्त की स्थूल रूप-रेखा है। सूफी कवियों ने हिन्दू-आख्यानों को लेकर इन पर कल्पना का मनोरम मुलम्मा चढ़ाते हुए पद्यों में लौकिक प्रेम की बड़ी रोमांटिक—स्वाच्छान्दिक—कहानियाँ लिखी है। डॉ॰ बड़थ्वाल के शब्दों में 'ये कहानियाँ एक प्रकार से अन्योक्तियाँ हैं, जिनमें लौकिक प्रेम ईश्वरोन्मुख प्रेम का प्रतीक है।'[2] शब्दान्तर में, इन्हें हम पार्थिव आवरण में अध्यात्मवाद की व्याख्याएँ कह सकते हैं। स्पष्ट है कि 'प्रतीक ही सूफी-साहित्य के राजा हैं। उनकी अनुमति के बिना सूफियों के क्षेत्र में पदार्पण करना एक सामान्य अपराध है।'[3]

हिन्दी में इन प्रेम-परक रूपक-काव्यों का प्रारम्भ मियाँ कुतुबन (सं॰ १५५०) की 'मृगावती' से हुआ, जिसमें चन्द्रनगर के राजकुमार और कंचनपुर की राजकुमारी मृगावती की प्रेम-गाथा का वर्णन है। उन्हींके अनुकरण पर

१. 'साहित्य-दर्पण', ३। श्लो॰ २२३।

२. 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', पृ॰ ८३।

३. 'चन्द्रबली पांडे, 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत', पृ॰ ९७।

मंझन शेख ने अपनी 'मधुमालती' लिखी। फिर इस परम्परा में सर्व-शिरोमणि 'पद्मावत' आता है, जो मलिक मुहम्मद जायसी ने (१५२० ई० के लगभग) लिखा। इसके बाद तो हिन्दी मे प्रेम-काव्यों की एक बाढ़-सी आ गई, जिनकी संख्या डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ की नवीनतम शोध के अनुसार ६३ है, और परम्परा बीसवीं सदी तक चली आ रही है।[1] हिन्दी के हालावादी कवि 'बच्चन' आदि की रचनाएँ भी इसी फारसी परम्परा के अन्तर्गत आती है, यद्यपि सूफी प्रेम-काव्यों की तरह वे कथात्मक न होकर उमर खय्याम की रूबाइयों के अनुकरण पर लिखे मुक्तक प्रेम-गीत है, जो रीतियुगीन कवियों की तरह रहस्यवाद के पवित्र देव-मन्दिर को छोड़कर भौतिक विलास-भवन में गाये हुए हैं।

सूफ़ी कवियों के प्रसिद्ध प्रतिनिधि जायसी हैं, जिनका 'पद्मावत' हिन्दी-जगत् में आज विशेष चर्चा और आदर का पात्र बना हुआ है। इसमें राजस्थान की वीरागना पद्मावती की कथा है और श्री रामबहोरी शुक्ल एवं डॉ० भगीरथ मिश्र के शब्दों में "इसमें उनकी धार्मिक आस्था और साधन-प्रणाली का भी प्रतीकात्मक अध्यवसान है।"[2] कथा इस प्रकार है :

जायसी के 'पद्मावत' की कथा-वस्तु

सिंहल द्वीप के राजा गन्धर्वसेन की पद्मावती नामक एक परम सुन्दरी कन्या थी। उसके पास हीरामन नाम का एक सूआ था। पद्मावती के युवावस्था में आने पर एक दिन हीरामन उसके लिए एक योग्य वर ढूँढ़ने के लिए जाने की बातें कर रहा था कि राजा को पता लग गया। वह उस पर बड़ा कुपित हुआ और उसे मरवा डालना ही चाहता था कि लड़की के अनुनय-विनय पर सूआ उस समय किसी तरह बचा लिया गया, किन्तु बाद को राजा से डरा हुआ सूआ जंगल में उड़ गया। वहाँ वह एक व्याध की पकड़ में आ गया, जिसने उसे चित्तौर के बाज़ार में एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया। ब्राह्मण ने भी तोते को बड़ा गुणी कहकर उसे चित्तौड़ के राजा रत्नसेन के पास बेच दिया।

एक दिन हीरामन रत्नसेन की रानी नागमती के पास पद्मावती के परम सौन्दर्य की प्रशंसा कर बैठा। डाह में रानी जल उठी और दासी को तत्काल उसे मार देने की आज्ञा दे दी। दासी समझदार थी। राजा के डर से उसने सूए को तो कहीं छिपा दिया और रानी को यों ही कह दिया कि उसे मार दिया गया है। रत्नसेन सूए के मारे जाने की बात का पता चलने पर जब बड़ा दुखी हुआ, तो दासी ने झट उसे ला दिया। राजा ने भी जब हीरामन से

१. 'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य', पृ० १७।

२. 'हिन्दी-साहित्य का उद्भव और विकास', पृ० १४७।

पद्मावती के सौन्दर्य का वृत्तान्त सुना, तो वह अपने वश में न रह सका और उसे प्राप्त करने के लिए हीरामन और जोगियों के वेश में सोलह हजार राज-कुमारों के साथ लेकर स्वय भी जोगी बन घर छोड़कर चल पड़ा। जोगी-दल मध्य-प्रदेश के बीहड़, विकट मार्ग को पार करके सिंहल द्वीप के लिए प्रस्थित हुआ। सातों भीषण समुद्रों के तूफानों को पार करके अन्त मे वे सिंहल द्वीप उतर गए और वहाँ नगर के बाहर शिव के मन्दिर में डेरा डाल दिया। उधर हीरामन ने उड़कर अन्तःपुर में पद्मावती को राजा के गुणों और उसके आगमन की बात कह सुनाई। राजकुमारी भी एक दिन शिव-पूजन के बहाने से रत्नसेन को देखने मन्दिर में आ गई। सौन्दर्य की उस अलौकिक ज्योति को देखकर राजा मूर्छित हो गया। जब उसे चेतना आई, तब तक राजकुमारी वापस चली गई थी। किन्तु प्रयत्न करने पर भी राजा को होश में न आते हुए देखकर वापस होती हुई राजकुमारी यह सन्देश छोड़ गई थी कि 'जोगी, तेरी तपस्या के फल का जब अवसर आया, तब तू सो गया।' अब तो राजा और भी अधीर एवं व्याकुल हो उठा और वह अग्नि-प्रवेश द्वारा अपनी असह्य वेदना का अन्त करना ही चाहता था कि इतने में कोढ़ी के वेश में शिव-पार्वती आ पहुँचे। दोनों ने उसके प्रेम की कड़ी परीक्षा ली और उसे कुन्दन बना हुआ पाकर शिव ने उसे सिद्ध वटी देते हुए सिंहगढ़ पर चढ़ने की सलाह दी। रत्नसेन रात को गढ़ पर चढ़ ही रहा था कि गढ़ के सैनिकों ने उसे पकड़ लिया। गन्धर्वसेन की आज्ञा से रत्नसेन जब शूली देने के लिए ले जाया जाने लगा, तो इतने में सोलह हजार जोगियों ने धावा बोल दिया। शिव और हनुमान भी उनके साथ हो लिए। गन्धर्वसेन की सारी सेना क्षण-भर में हार गई। गन्धर्वसेन ने शिव को पहचान लिया और तत्काल उनके पैरों पर गिर गया। रत्नसेन का सारा वृत्तान्त विदित हो जाने पर शिव की आज्ञा से गन्धर्वसेन ने धूम-धाम से पद्मावती का विवाह उसके साथ कर दिया।

उधर जब से राजा घर छोड़कर चला गया था, नागमती के दुःख का कोई पारावार न रहा। बेचारी की रातें रो-रोकर कटती थीं। एक रात एक पक्षी उसे पूछ बैठा, तो उसने अपनी सारी व्यथा-कथा उसे कह सुनाई। दयार्द्र होकर पक्षी उसका विरह-सन्देश लेकर सिंहलद्वीप पहुँचा। उससे नागमती का हाल सुनकर रत्नसेन ने अब घर चलने की ठानी और बहुत-से धन के साथ पद्मावती को लेकर चित्तौड़ के लिए प्रस्थान किया। दैवयोग से समुद्र में तूफ़ान उठता है और उनका जहाज डूब जाता है; किन्तु लक्ष्मीदेवी की सहायता से तीर पर पहुँचकर वे सब-के-सब सकुशल चित्तौड़ आ जाते हैं। पति को घर आया हुआ

देखकर नागमती खुशी से फूली नहीं समाती। राजा का दोनों रानियों के प्रति समान प्रेम होने के कारण सपत्नियों की ईर्ष्या परस्पर प्रेम में बदल जाती है। कुछ समय बाद राजा को नागमती से नागसेन और पद्मावती से पद्मसेन नाम के दो पुत्र प्राप्त होते हैं।

रत्नसेन के दरबार में राघवचेतन नाम का एक पंडित था, जिसे यक्षिणी सिद्ध थी। एक बार अमावस्या के दिन राजा ने उससे तिथि पूछी, तो उसके मुँह से सहसा निकल गया 'आज द्वितीया है।' अन्य पंडितों ने जब प्रतिवाद किया, तो राघव ने सिद्ध की हुई यक्षिणी के प्रभाव से शाम को आकाश में चन्द्रमा दिखा दिया। पीछे से राजा को जब इस रहस्य का पता चला, तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने उस वामी पंडित को देश से निकाल दिया। रानी पद्मावती को एक ब्राह्मण का निकाला जाना अखरा। उसने दया में आकर उसको जाते समय अपने हाथ का एक कंगन दान में दे दिया। अपमान से जला-भुना राघव अब चाणक्य बन गया। बदला लेने के लिए वह दिल्ली पहुँचा। वहाँ उसने बादशाह अलाउद्दीन से पद्मावती के अद्भुत सौन्दर्य की चर्चा की और उसका कंगन भी दिखाया। बादशाह काम-वशीभूत हो गया। उसने रत्नसेन को पत्र लिखा कि पद्मावती को शीघ्र ही दिल्ली-दरबार में भेज दो। रत्नसेन को यह बात बड़ी बुरी लगी। वह बहुत बिगड़ा और दूत को कोरा लौटा दिया। इसके बाद अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर धावा बोल दिया। कहते हैं कि वर्षों तक संघर्ष चलता रहा, पर मुसलमान गढ़ न ले सके। अन्त में बादशाह के मस्तिष्क में सन्धि की चाल आई, जिसकी शर्त यह रखी गई कि राजा अपने महल में दर्पण पर पद्मावती की छाया-मात्र देखने दे, तो बादशाह सन्तुष्ट होकर दिल्ली वापस चला जायगा। वैसा ही किया गया। रानी की परछाई दिखाकर राजा अलाउद्दीन को विदा करने के लिए गढ़ के फाटक तक आया ही था कि तत्काल अपने सैनिकों से गिरफ़्तार करवाकर बादशाह उसे दिल्ली ले आया। उसकी इस नीचता पर चित्तौड़ में सर्वत्र क्षोभ और क्रोध छा गया। इधर अवसर का लाभ उठाते हुए रत्नसेन के शत्रु पड़ौसी कुँभलनेर के राजा देवपाल ने भी ठीक इसी समय पद्मावती पर डोरे डालने आरम्भ कर दिए। चारों तरफ से विपद्ग्रस्त होकर बेचारी रानी अपने मायके के गोरा और बादल नामक दो वीरों को बुला लाई और उनकी सलाह से सोलह सौ पालकियों में सशस्त्र सैनिकों को बिठलाकर पति को छुड़ाने स्वयं दिल्ली पहुँची। वहाँ रानी ने एक चाल चली। उसने बादशाह को सन्देश भेजा कि अपनी दासियों समेत मैं स्वयं आपके पास आ रही हूँ; सिर्फ एक बार अपने पति से मिलकर उन्हें उनके

गढ़ की चाबी देने की आज्ञा चाहती हूँ और फिर सदा के लिए आपकी ही बनी रहूँगी। अलाउद्दीन ने आज्ञा दे दी। राजा के पास पहुँचते ही पालकी में से उतरकर एक लोहार ने झट उनकी बेड़ी काट दी और रत्नसेन पहले से ही तैयार खड़े किये घोडे पर सवार होकर भाग निकले। उधर एकदम युद्ध छिड़ पड़ा। पीछे आती हुई मुगल सेना को गोरा रोके रहा और बादल राजा-रानी को लेकर चित्तौड़ पहुँच गया। रात को रानी से देवपाल के अपकर्म का वृत्तान्त सुनकर राजा को बड़ा क्रोध आया और उसने दूसरे दिन ही कुंभलनेर पर चढ़ाई कर दी। युद्ध में देवपाल और रत्नसेन दोनों मारे गए। पद्मावती और नागमती दोनों राजा के साथ सती हो गई। चिता की आग अभी बुझी भी न थी कि इतने में शाही सेना भी चित्तौड़ आ पहुँची। बादल ने गढ़ की रक्षा करते-करते प्राण दे दिये। चित्तौड़ पर अलाउद्दीन का अधिकार तो हो गया, पर वह अपनी मनोरथ-बिन्दु—सार्वभौम सुन्दरी—के स्थान में एक राख की ढेरी के अतिरिक्त और कुछ न पा सका।

जायसी का रहस्यवाद और प्रतीक-समन्वय

उपरोक्त कथानक में पद्मावती, रत्नसेन (भीमसिंह), अलाउद्दीन-सम्बन्धी बातें तो ऐतिहासिक तथ्य है, किन्तु जोगियों की टोली, सिंहलद्वीप, मानसरोवर, शिवमन्दिर आदि कवि की कल्पना-मात्र हैं। हम पीछे कह आए है कि गोरख-पंथी शैव होते है। वे सिंहल-द्वीप को एक सिद्ध-पीठ मानते हैं, जहाँ सिद्धि के लिए साधक को जाना पड़ता है। गोरख-पंथ को प्रभावित करने वाले बौद्धों का केन्द्र-स्थान भी वही है। पद्मिनियों का वह घर है। कहते है कि स्वयं गोरखनाथ के गुरु मछन्दरनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) वहाँ एक बार पद्मिनियों के जाल में फँस गए थे, जिन्हें पीछे गोरखनाथ ने जाकर छुड़ाया। इस तरह ये सब बातें कथा के लिए आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण करने में उपयोगी बनीं जैसा कि अन्योक्ति-काव्यों में साधारणतः हुआ ही करता है। जायसी ने अपने 'पद्मावत' में दो लौकिक प्राणियों की सच्ची प्रेम-कहानी की ओट में जीव-ब्रह्म के रहस्यमय अभेद-मिलन को मुखरित किया है; अथवा यों कहिए कि नीरस दार्शनिक ज्ञान-साधना को लौकिक मधुर शृंगार का रुचिर परिधान पहनाकर मूर्त्त और मांसल बना दिया है। हम कह आए हैं कि कबीर भी रहस्यवादी हैं, किन्तु शुक्लजी के शब्दों में "कबीर में जो कुछ रहस्यवाद है, वह सर्वत्र एक भावुक या कवि का रहस्यवाद नहीं है। हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद है, तो जायसी में, जिनकी

भावुकता बहुत ही ऊँची कोटि की है।"[1] विश्व-हृदय की अधिष्ठात्री पद्मावती के रूप में कवि ने उस विराट् सौन्दर्य—चिन्मयी महान् ज्योति—की ओर संकेत किया है, जो समस्त लोकों को आलोकित कर रहा है :

रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।
रतन पदारथ मानक मोती।

पद्मावती ने :

नयन जो देखा कमल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग-हीर।

अर्थात् जहाँ दृष्टि डाली, वहाँ कमल हो गया। उसके निर्मल शरीर के स्पर्श से जल निर्मल बन गया, जिधर हँसकर देखा, वहाँ हंस उत्पन्न हो गए। उसके दाँतों की पंक्ति से हीरे-पन्ने प्रकट हो गए। जायसी की तरह रहस्यवादी कवि डॉ० रामकुमार वर्मा के अन्तःस्थ कलाकार ने भी पहले तो जिज्ञासा उठाई :

ओसों का हँसना बालरूप,
यह किसका है छविमय विलास।
विहगों के कण्ठों में समोद,
यह कौन भर रहा है मिठास ?

और फिर उत्तर दिया :

'मेरे हँसने से ही शशि-किरणों का उज्ज्वल हास हुआ।
मेरे आँसू की संख्या से तारों का उपहास हुआ।'

वर्माजी का चित्र व्यष्टि-समष्टि की अभेद-अवस्था का चित्र है। ऐसा ही चित्र ब्रह्मैकात्म्य की अनुभूति में एक वैदिक ऋषिका वाक् ने भी खींचा है :

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥[2]

प्रकृतिवादी कवियों की तरह जायसी के सभी प्रकृति-चित्र आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण करके अलौकिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करते हैं। यही बात

१. 'जायसी-ग्रन्थावली', भूमिका, पृ० १६४ (सं० २००८)।

२. ऋग्वेद, ८।७।११।१।

हिन्दी-रूपान्तर :

रुद्र और वसुओं में मैं ही रहती,
आदित्य कभी औ' विश्वदेव बनती,
मित्रवरुण दोनों में मेरा प्रकाश,
रुद्र, अग्नि, अश्विनि मेरा विकास।

अन्य सूफ़ी कवियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जायसी की तरह अंग्रेजी-कवि शैली भी अन्योक्ति-पद्धति में रचित अपनी रहस्यवादी रचना Epipsychidion में प्रकृति के उपकरणों में विराट् प्रियतमा की वाणी यों सुना करता था :

Insolitudes
Her voice came to me through the whispering woods,
And from the fountains, and the odours deep,
Of flowers, which like lips murmuring in their sleep,
Of the sweet kisses which had lulled them there,
Breathe but of her to the enamoured air.[1]

जायसी ने 'नखशिख खंड' में पद्मिनी के सभी अंगों का ऐसा ही वर्णन किया है जिसमें आँखों के आगे व्यंग्य रूप से परासत्ता—समष्टि चेतना—का भी चित्र खिच जाता है। पद्मिनी का घर सिंहलद्वीप है, जो शिवलोक का प्रतीक है। उसके चारों ओर मानसरोवर है और 'ऊँची पोरी ऊँच अवासा, जनु कैलास इन्द्र कर वासा'। शैवागम में कैलास को ही 'परम पद' कहा गया है। इस सिंहलद्वीप-रूपी कैलास में 'फूलै फरै छवौ रितु, जानहु सदा वसन्त'। 'कामायनी' में प्रसादजी के मनु और श्रद्धा भी तो अन्ततोगत्वा ऐसे ही कैलास में पहुँचे थे, जहाँ :

उन्मद माधव मलयानिल
दौड़े सब गिरते पड़ते;
परिमल से चली नहाकर
काकली, सुमन थे झड़ते।

उधर रत्नसेन का निवास-स्थान चित्तौड़गढ़ है, जो शरीर का प्रतीक है

---

१. हिन्दी-रूपान्तर :

एकान्त प्रदेशों में
उसकी ध्वनि मेरे कानों में आई
फुस-फुस करते कानन के कोनों से,
झर-झर झरते पर्वत के झरनों से,
उन कुसुमों की गहरी महक-महक से,
जो अधरों के से मधु-चुम्बन द्वारा
अलसाए, सोए, बड़-बड़ करते,
मुग्ध पवन को उसका आना कहते।

और स्वयं रत्नसेन शरीर-बद्ध जीवात्मा (जायसी के अनुसार 'मन') का प्रतीक है। गढ़ के 'नव पौरी बाँकी, नव खडा' शरीर के नव द्वार हैं। गढ़ का पहरा देने वाले 'पाँच कोतवार' शरीर के पंच-वायु है। 'दसवें दुवारा' पर बजने वाला 'राज-घरियारा' साधक की अन्तर्मुखी साधना में ब्रह्म-रन्ध्र का 'अनाहत नाद' है। हीरामन सूआ, जो पद्मिनी को जानता है, ऐसे गुरु का प्रतीक है, जिसे तत्त्व-दर्शन हो चुका है। सूए से पद्मिनी का परिचय प्राप्त करके रत्नसेन का विह्वल होना गुरु-उपदेश से जिज्ञासु को तत्त्व की लगन पैदा होना है। राजा का पद्मिनी की खोज में घर-बार छोड़कर निकल पड़ना एवं रास्ते की बीहड़ यात्रा, समुद्र और तूफान आदि का सामना करना साधक का परमार्थ-प्राप्ति के मार्ग में पड़ने वाली विघ्न-बाधाओं तथा कष्टों को झेलना है। अन्त में राजा को पद्मावती की प्राप्ति साधक की तत्त्व-प्राप्ति है। नागमती की तरफ से संदेश लाने वाली 'पंखी' एक मनोवृत्ति है, जो साधक को संसार की याद दिलाती है। नागमती, कवि के शब्दों में 'दुनिया धंधा'—संसारी माया—है। राजा के घर लौट आने पर पद्मिनी और नागमती का विवाद साधक में परमार्थ और सांसारिक वृत्ति के मध्य संघर्ष है। राजा द्वारा समान प्रेम दिखलाने पर दोनों का कलह-शमन और समन्वय साधक की परमार्थी एवं संसारी वृत्तियों का, योग और भोग का परस्पर सन्तुलन—'समरसता'—है। इस 'आनन्द-समन्वय' के निष्कंटक साम्राज्य में विघ्न-बाधा डालने के लिए दुर्जीव राघव-चेतन शैतान के प्रतीक में काँटे बोने आता है, जो माया का प्रतीक है। देवपाल का चोला पहनकर माया दूसरे रूप में भी आती है। इस तरह से सभी विविधरूपिणी मायाएँ उस विराट् साम्राज्य को वीरान बनाने का प्रयत्न करती हैं। कभी-कभी तो ये अपने प्रयत्नों में सफल हुई-सी दृष्टिगत होती है, किन्तु गोरा और बादल के रूप में साधक की बलवती सद्-वृत्तियाँ उन्हें पीछे धकेल देती हैं। वास्तव में वह 'ज्योति' सर्वथा मायातीत ठहरी। माया का कोई भी रूप उसको छू तक नहीं सकता। यह तो रत्नसेन जीवात्मा को लेकर एक हो गई है और शाश्वत काल तक एक ही रहेगी। व्यष्टि-चेतना का समष्टि-चेतना के साथ ऐकात्म्य ही इस प्रेम-कथा का व्यंजनावृत्ति-बोध्य आध्यात्मिक पक्ष है, जो प्रत्येक मानव पर लागू हो सकता है। जायसी ने ग्रन्थ के उपसंहार में अपनी अन्योक्ति के इन सभी प्रतीकों को स्वयं खोल भी दिया है :

चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माँहीं।
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पद्मिनी चीन्हा।।

गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा । बिनु गुरु जगत् को निरगुन पावा ।
नागमती यह दुनिया धंधा । बाँचा सोइ न एहि चित बंधा ॥
राघव दूत सोई सैतानू । माया अलाउदीं सुलतानू ॥
प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु । बूझि लेहु जौ बूझै पारहु ॥[1]

जायसी की अन्योक्ति के दोष और 'कामायनी'

हमारे विचार से प्रतीयमान अर्थ को अभिधा द्वारा खोलकर जायसी ने ठीक नहीं किया है, क्योंकि शब्द और अर्थ के वैशिष्ट्य द्वारा बोध्य व्यंग्यार्थ को व्यंग्य एवं गूढ़ रखने में ही जो आस्वाद्यता, सहृदय-संवेद्यता एवं प्रेषणीयता रहती है, वह उसके वाच्य अथवा स्पष्ट बन जाने पर नष्ट हो जाया करती है। ऐसी अवस्था में ध्वनि अपने उच्च आसन से उतरकर गुणीभूत व्यंग्य-काव्य के भीतर आ जाती है। इसीलिए सादृश्य को वाच्य बनाने वाले भट्ट वाचस्पति के निम्न पद्य को लक्ष्य करके साहित्यदर्पणकार की आलोचना हम सुतराम् जायसी पर भी लागू कर सकते हैं :

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया,
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम् ।
कृतालंकाभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ॥

"यहाँ 'मैं राम बन गया' ऐसा न कहने पर भी शब्द-शक्ति से ही राम बन जाना अवगत हो जाता है। उसके वाच्य बन जाने पर सादृश्यमूलक तादात्म्यारोप स्पष्ट होता हुआ अपनी गोपनीयता खो बैठा, इसलिए वाच्य बना हुआ सादृश्य वाक्यार्थान्वय—वाच्यार्थ—का अंग बन गया है (स्वतन्त्र नहीं रहा)।"[2] इस दृष्टि से कामायनीकार में कला का यह टैक्नीक अच्छा निखरा है। इसके अतिरिक्त भारतीय अध्यात्मवाद की दृष्टि से जायसी के अन्योक्ति-निर्वाह में भी कुछ दोष आ गए हैं। पद्मिनी की प्राप्ति के बाद रत्नसेन का नागमती का संदेश पाकर फिर वापस उसके पास घर आ जाना 'न स पुनरावर्तते, न पुनरावर्तते' के अनुसार ब्रह्म-प्राप्ति के बाद जीवात्मा का फिर कभी मायाबद्ध हो

---

१. 'जायसी ग्रन्थावली' पृ० ३०१ (सं० २००८)।

२. "इत्यत्र 'रामत्वं प्राप्तम्' इत्यवचनेऽपि शब्द-शक्तेरेव रामत्वमवगम्यते । वचनेन तु सादृश्यहेतुकतादात्म्यारोपणमाविष्कुर्वता तद्गोपनमपाकृतम् । तेन वाच्यं सादृश्यं वाक्यार्थान्वयोपपादकतयांऽगतां नीतम् ।"

साहित्य दर्पण, श्लोक २०८ ।

संसार में न आने के सिद्धान्त के विपरीत है।[1] स्वयं जायसी ने भी

अगम्म पंथ पिय तहाँ सिधावा।
जो रे गयउ सो बहुरि न आवा।

कहकर उसे माना है। इसी तरह माया के प्रतीक-भूत राघव चेतन, अला-उद्दीन और देवपाल के अपकृत्यों का प्रसंग भी सिद्धान्ततः बाद में न आकर पहले आना चाहिए था, क्योंकि माया की बाधाएँ ब्रह्म-प्राप्ति के पूर्व ही आया करती हैं, पीछे नहीं। इसके अतिरिक्त ब्रह्म-प्रतीक पद्मिनी का अन्त में सती होने के रूप में विनाश दिखाना, ब्रह्म का जीव के लिए आत्म-बलिदान करना भी सर्वथा अनुपपन्न है। सिद्धान्त की दृष्टि से हमारे विचार में रत्नसेन द्वारा पद्मिनी-प्राप्ति तक ही काव्य-कथा समाप्त हो जानी चाहिए थी। वास्तव में कवि ने लौकिक कथा ही ऐसी घटना-क्रम वाली चुनी है, जिसके शरीर पर भारतीय अध्यात्मवाद का चोला फिट नहीं बैठता। यही कारण है कि 'पद्मावत' में आध्यात्मिक अन्योक्ति का उपक्रम स्पष्ट होने पर भी मध्य से शिथिल होती हुई वह अन्त में अस्पष्ट और प्रायः भौतिक कथा-परक ही रह जाती है। सम्भवतः अपनी इस प्राविधिक त्रुटि का अनुभव होने पर ही कवि को अभिधा की शरण लेकर सिद्धान्त-प्रचार एवं उपदेश के अभिप्राय से अपनी अन्योक्ति को पूर्वनिर्दिष्ट प्रकार से वाच्य बनाना पड़ा हो। तुलनात्मक दृष्टि से भारतीय आधार पर खड़ी 'कामायनी' की अन्योक्ति को भी देखिए कि वह किस तरह इन सभी सैद्धान्तिक दोषों से सर्वथा निर्मुक्त है। स्पष्ट है कि जायसी तथा उनके साथी सूफ़ी सन्त भारतीय नाम-रूपों को लेकर अपने 'मुहम्मद'-वाद को हमारे ब्रह्मवाद का बाना पहनाकर मुस्लिम धर्म के प्रचार में सर्वथा विफल ही रहे, यद्यपि रसवाद की दृष्टि से उनकी रचनाएँ हृन्मर्म को छूती हैं और हिन्दी-साहित्य की अमूल्य दाय हैं।

उसमान की 'चित्रावली'

अन्योक्ति-पद्धति पर रचे प्रेम-कथा-साहित्य में जायसी के बाद उसमान कवि का नाम आता है। इन्होंने 'पद्मावत' के आधार पर ही १६१३ ई० में अपनी 'चित्रावली' लिखी। यद्यपि इसकी कहानी ऐतिहासिक न होकर कवि के ही शब्दों में 'हिए उपाइ' अर्थात् हृदय-कल्पित है, जो अपने साथ कुछ तिलस्मी पुट भी लिये हुए है। इसमें नेपाल के राजकुमार सुजान और रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली का प्रणय-वृत्तान्त है। 'पद्मावत' की तरह इसमें भी दो नायिकाएँ हैं—चित्रावली और कँवलावती। राजकुमार का पहले सम्बन्ध

1. यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम। गीता १५।६।

चित्रावली से होता है। वह उसका चित्र देखकर विह्वल हो उठता है, पर उसके मिलने में अभी बड़ी बाधाएँ हैं। इधर इस बीच एक और राजकुमारी कँवलावती सुजान को देखकर मुग्ध हो जाती है और बाद को उन दोनों का विवाह भी हो जाता है, परन्तु राजकुमार चित्रावली के प्राप्त होने तक कँवलावती को छूना तक नहीं। उधर जब चित्रावली के पिता को सुजान के प्रति अपनी लड़की के प्रेम का पता चलता है, तो वह दोनों का विवाह कर देता है। तब नागमती की तरह कँवलावती का भी विरह-कांड आरम्भ होता है। उसका वियोग-सन्देश प्राप्त करके राजकुमार चित्रावली को लेकर अपने देश को जाता हुआ रास्ते में कँवलावती को भी साथ में ले लेता है और बाद को दोनों के साथ समान प्रेम रखता हुआ आनन्द के दिन बिताता है। अन्योक्ति की दृष्टि से यहाँ कँवलावती अविद्या की प्रतीक है और चित्रावली विद्या की। सुजान ज्ञानी पुरुष के रूप में कल्पित है। सुजान की चित्रावली के प्राप्त होने तक कँवलावती से समागम न करने की प्रतिज्ञा साधक को साधना-काल में अविद्या को बिना दूर रखे विद्या की प्राप्ति न होना है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "सरोवर-क्रीड़ा के वर्णन में एक दूसरे ढंग से कवि ने 'ईश्वर-प्राप्ति' की साधना की ओर संकेत किया है। चित्रावली सरोवर के गहरे जल में यह कहकर छिप जाती है कि मुझे जो ढूँढ ले, उसकी जीत समझी जायगी। सखियाँ ढूँढती हैं और नहीं पाती हैं :

सरवर ढूँढ़ि सबै पचि रहीं। चित्रिन खोज न पावा कहीं॥
निकसी तीर भई बैरागीं। धरे ध्यान सब बिनवै लागीं॥
गुपुत तोहि पावहि का जानी। परगट महँ जो रहै छपानी॥
चतुरानन पढ़ि चारो बेदू। रहा खोजि पै पाव न भेदू॥
हम अंधी जेहि आप न सूझा। भेद तुम्हार कहाँ लौ बूझा॥
कौन सो ठाऊँ जहाँ तुम नाहीं। हम चख जोति न, देखहि काहीं॥
खोज तुम्हार सो, जेहि दिखरावहु पंथ।
कहा होइ जोगी भए, और बहु पढ़े ग्रंथ॥[1]

सूफी कवियों में तीसरा महत्त्वपूर्ण स्थान नूर मोहम्मद का आता है। इन्होंने सं० १८०१ में 'इन्द्रावती' और सम्वत् १८२१ में 'अनुराग-बाँसुरी' दो प्रबन्ध-काव्य लिखे। 'इन्द्रावती' में कालिजर के राजकुमार तथा आगमपुर की राजकुमारी 'इन्द्रावती' की प्रेम-कथा वर्णित है। "कथानक तो अत्यन्त सरल है, परन्तु लेखक ने मानवीय प्रवृत्तियों आदि को मूर्त्त रूप देकर पात्रों के रूप

१. 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृ० १०१ (सं० २०१४)।

नूर मोहम्मद की 'इन्द्रावती' और 'अनुराग-बाँसुरी'

में खड़ा किया है। इस कारण पाठक उसमें कुछ उलझा-सा रहता है'।"[1] "'अनुराग-बाँसुरी' का विषय तत्त्वज्ञान सम्बन्धी है, शरीर, जीवात्मा और मनोवृत्तियों आदि को लेकर पूरा अध्यवसित रूपक (Allegory) खड़ा करके कहानी बाँधी है। अन्य सभी सूफी कवियों की कहानियों के बीच-बीच में दूसरा पक्ष व्यंजित होता है, किन्तु अनुराग-बाँसुरी की समग्र कहानी एवं समग्र पात्र ही रूपक है।"[2] इसमें बताया गया है कि मूर्तिपुर (शरीर) नाम का एक नगर है, जिसमें जीव नामक राजा राज्य करता है। उसका अन्तःकरण नाम का पुत्र उत्पन्न होता है, जिसके संकल्प, विकल्प, चित्त और अहंकार सखा एवं महामोहिनी रानी होती है, इत्यादि। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त की दृष्टि से ये रचनाएँ संस्कृत के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक, अंग्रेजी के मध्ययुगीय आचार-रूपकों तथा हिन्दी की आधुनिक 'कामना', 'छलना' आदि रचनाओं से साजात्य रखती है। विस्तार के भय से निर्गुण-पन्थियों की प्रेम-शाखा के उपर्युक्त तीन ही प्रमुख कलाकारों की अन्योक्ति-पद्धति दिखाकर अब हम भक्ति-काल की सगुण-धारा पर आते हैं।

सगुण-धारा परमात्मा को असीम, अनाम, अरूप-रूप में न लेकर ससीम, सरूप-रूप में लेती है। निर्गुणवादियों के विपरीत सगुणोपासकों की

सगुण-भक्तिवाद और उसकी शाखाएँ

अवतारवाद पर दृढ़ आस्था रहती है। उनके मत में 'सगुन-अगुन दोउ ब्रह्म सरूपा' है। उनके राम कबीर आदि की तरह 'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्' इस व्युत्पत्ति वाले अव्यक्त राम नहीं हैं। उनके राम है तुलसी के शब्दों में :

> जेहि इमि गावहिं बेद, बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
> सोई दसरथ सुत भगतहित कोसलपति भगवान्॥

राम वाली बात समान रूप से कृष्ण पर भी लागू होती है। तुलसी ने राम को और सूर ने कृष्ण को अवतार के रूप में ही अपने काव्यों में लिया है। इस तरह सगुण-धारा राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति—इन दो शाखाओं में विभक्त हुई है, जिनके प्रमुख कवि भी उपरोक्त तुलसी और सूर ही गिने जाते है। इन्होंने प्रेम के साथ श्रद्धा का मेल किया है। धर्म के मार्ग पर चलने वाली श्रद्धा—पूज्यत्व बुद्धि—ही वास्तव में भक्ति का आधार हुआ करती है। धर्म

१. डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ, 'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य', पृ० २३६।
२. शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० १०५ (सं० २०१४)।

ब्रह्म के सद्-रूप की क्रियात्मक अभिव्यक्ति है, इसलिए राम और कृष्ण दोनों प्रत्यक्ष 'धर्मावतार' हैं। राम-भक्ति-शाखा में तो हम भक्ति को अपने पूर्ण रूप में पाते हैं, क्योंकि उसमें धर्म—सदनुष्ठान—के रूप में लोक-संग्रह-पक्ष का भी पूरा-पूरा सम्बन्ध है, किन्तु कृष्ण-भक्ति-शाखा ने भगवान् कृष्ण के लोक-संग्रह-परक पक्ष को, उनके धर्म-स्वरूप को विशेष महत्त्व न देकर मधुर स्वरूप को ही अपनाया है। फलतः इसमें भगवान् कृष्ण का लोक-कल्याणकारी सौन्दर्य तिरोहित हो गया। उधर निर्गुण-पन्थियों के सम्बन्ध में हम कह ही आए हैं कि उनका भक्ति-मार्ग श्रद्धा को छोडकर केवल प्रेम को लेकर ही चला है और भक्ति के व्याज से श्रृङ्गारिक प्रवृत्ति वाला कोई भी सम्प्रदाय लौकिक धर्म की उपेक्षा करता हुआ विलासिता के गर्त्त की ओर स्वभावतः पतित हो ही जाया करता है। निर्गुण-पन्थ की दूसरी बात यह भी है कि वह अपनी साधना में परमात्मा को अन्तःस्थ मानकर चला है और परमात्मा के 'घट' के भीतर आ जाने से जहाँ वह गुह्य, रहस्यमय, ऐकान्तिक एवं व्यक्तिगत बना. वहाँ उसकी अभिव्यक्ति की भाषा भी आधुनिक छायावादियों की तरह टेढ़ी-मेढ़ी, ऊट-पटाँग, प्रतीकात्मक और जन-साधारण की समझ से परे की हो गई। यही कारण है कि निर्गुण-पन्थ सगुण-भक्तिवाद द्वारा प्रचारित ईश्वर के सर्व-साधारणीकरण तथा अनैकान्तिकता के आगे न टिक सका। उसे :

> **सूधे [illegible] सूधे वचन, सूधी सब करतूति।**
> **'तुलसी' सूधी सकल विधि, रघुबर प्रेम प्रसूति॥**

तथा

> **काहे को रोकत मारग सूधो।**
> **सुनि ऊधो! निर्गुण कंटक ते राजपन्थ क्यों रूँधो?**

सगुणवादियों की इन सीधी चुनौतियों के सामने अपनी हार माननी पड़ी।

सगुणवाद रहस्यात्मक नहीं

सगुणवाद के उपर्युक्त संक्षिप्त स्वरूप-विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि उसका प्रतिपाद्य सगुण ईश्वर राम अथवा कृष्ण है, जो व्यक्त, सर्वोपास्य तथा सर्व-प्रत्यक्ष है, निर्गुणवादियों के ब्रह्म की तरह अज्ञात एवं रहस्यमय नहीं। इसीलिए सगुण-निर्गुण का भेद बताती हुई महादेवीजी कहती हैं—"सगुण-गायक हमारे साथ-साथ जीवन की रागिनी सुनाता है और पथ बताता हुआ चलता है, पर रहस्य का अन्वेषक कहीं दूर अन्धकार में खड़ा हुआ पुकारता है 'चले आओ, थकना हार है, रुकना मृत्यु है'।"[1]

१. **'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', पृष्ठ १४०।**

इसके अतिरिक्त निर्गुणी का हमेशा अनन्त की ओर आकर्षण रहता है। वह असीम को खोजता है और उसीसे सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, जबकि सगुणी का ससीम से सम्बन्ध रहता है और वह इसी पार्थिव जगत् में विचरता है, इससे परे नहीं जाता। इस तरह अवतार-सिद्धान्तानुसार राम और कृष्ण के रूप में असीम के ससीम, परोक्ष के प्रत्यक्ष एवं गुह्य के प्रकट हो जाने पर सगुणवाद में रहस्यवाद के लिए कोई स्थान नहीं रहता। रहस्यवाद सदा अज्ञात और रहस्यमय निर्गुण तत्त्व पर ही आधारित रहा करता है। हिन्दी के गोरखपन्थी, कबीर, दादू, जायसी आदि प्राचीन रहस्यवादी और रवीन्द्र, प्रसाद, महादेवी आदि आधुनिक रहस्यवादी सभी सदा निर्गुणोपासक ही रहे। इसके विपरीत "सगुणोपासक भगवान् को मनुष्य के जीवन-क्षेत्र में उतारते हैं और उनकी प्रस्तुत नर लीला में—उनकी शैशव-क्रीड़ा में, उनकी नटखटी में, (उनके शौर्य-कर्म और धनुर्भंग में) उनके चरम सौन्दर्य और गोपियों के चित्ताकर्षण में, (उनके समुद्र-तरण और रावण-मारण में) अथवा उनके वेणु-वादन (अथवा धनुष-टंकार में)—अपना हृदय रमाया करते हैं। यही उनके हृदय की स्थायी वृत्ति है, रहस्य-भावना नहीं।"[1] अतः महादेवी के शब्दों में 'आराध्य जब नाम-रूप से बँधकर निश्चित स्थिति पा गया, तब रहस्य का प्रश्न ही नहीं रहता।'[2] यही कारण है कि 'रामचरितमानस' और 'सूर सागर' दोनों विषय-प्रधान (Objective)—वर्णनात्मक—काव्य के भीतर आते हैं, विषयी-प्रधान (Subjective)—अन्तर्मुख—काव्य के भीतर नहीं। इनमें तुलसी और सूर की काव्य-कला बहिर्मुखी है, रहस्यवादियों की तरह अन्तर्मुखी तथा नाम-रूप से परे की नहीं। इस तरह रहस्यवाद के अभाव में सगुणवाद में अन्योक्ति-पद्धति भी नहीं।

सगुणवादियों में आंशिक अन्योक्ति-तत्त्व : सूरदास

सगुणवाद में व्यापक रूप से अन्योक्ति-मुखेन रहस्य की व्यंजना न होने पर भी उसके साहित्य में अन्योक्ति-तत्त्व न हो, सो बात नहीं। तुलसी की 'विनय-पत्रिका' तथा सूर के 'सूर-सागर' के पदों में आनुषंगिक तौर पर यत्र-तत्र रहस्य की ओर कुछ संकेत मिल जाते हैं। कृष्ण के मिट्टी खाने की घटना के प्रसंग में सूर का कवि-कर्म व्यक्त से परे भी पहुँचा हुआ दीखता है। जायसी के सिंहल गढ़ में यदि

> **भोग विलास सदा सब माना। दुःख चिन्ता कोई जनम न जाना॥**

---

1. शुक्ल, 'सूरदास', पृष्ठ ६६।
2. 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', पृष्ठ १३४।

तो सूर का भी :

नित्य धाम बृन्दावन श्याम । नित्य रूप राधा ब्रज वाम ।
नित्य रास जल नित्य विहार । नित्य नाम खंडिताभिसार ।।
नित्य कुञ्ज सख नित्य हिंडोर । नित्यहि त्रिविधि समीर झकोर ।।[१]

जायसी की 'रवि, ससि, नखत, दिपहि ओहि जोति' वाली पद्मिनी की तरह सूर के कृष्ण के सौन्दर्य में भी विराट् सौन्दर्य के रहस्य का संकेत मिलता है :

नन्द-नन्दन बर गिरिवरधारी । देखत रीझी घोषकुमारी ।।
कोटि इन्दु छवि बदन बिराजै । निरखि अंग प्रति मन्मथ लाजै ।।
रविशत छबि कुण्डल नहि तूलै । दशन दमक द्युति दामिनि भूलै ।।[२]

कबीर की :

रमैया की दुलहिन लूटा बजार ।
सुरपुर लूटा, नागपुर लूटा, तीन लोक मचा हाहाकार ।
ब्रह्मा लूटे, महादेव लूटे, नारद मुनि के परी पिछार ।

की तरह सूर के कृष्ण की वंशी-ध्वनि का मोहक प्रभाव भी देखिए कितना सार्वभौम है :

मेरे साँवरे जब मुरली अधर धरी ।
सुनि ध्वनि सिद्ध समाधि टरी ।
ग्रह नक्षत्र तजत न रास । याही बँधे ध्वनि पास ।।
झरना झरत पाषान । गन्धर्व मोहे कल गान ।।
सुनि खग मृग मौन धरे । फूल तृण सुधि बिसरे ।।
सुनि चंचल पवन थके । सरिता जल चलि न सके ।।[३]

यहाँ कबीर की रमैया की दुलहिन की तरह कृष्ण की मुरली पर माया का रहस्यात्मक संकेत लगता है ।

संस्कृत और हिन्दी के ऐसे भी आलोचक हैं—और इनकी संख्या कम नहीं है, जो कृष्ण के समग्र चरित्र को ही लाक्षणिक एवं संकेतात्मक मानते हैं ।

---

१. 'सूरसागर', स्कन्ध १०, पद ७२ ।

२. चीरहरणलीला ।

तुलना कीजिए :

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ।। (गीता ११।१२) ।

३. 'सूरसागर', पृष्ठ १६० ।

समग्र कृष्ण-भक्ति-शाखा को अन्योक्ति मानने वाला एकदेशी मत

डॉ० रामरतन भटनागर के विचारानुसार "कृष्ण परब्रह्म हैं। राधा उनकी शक्ति या प्रकृति है। गोपियाँ जीवात्माएँ हैं। मुरली योगमाया है या भगवान् की 'पुष्टि' है, जो मनुष्य को जागरूक बनाकर संसार से नाता छुड़ाकर ब्रह्म की ओर ले जाती है। रास जीवात्मा का परमात्मा के साथ आनन्दमय लय होना ही है। इस अवस्था में जीवात्मा-परमात्मा में द्वैत नहीं रहता। इस रास के लिए ही सारी साधनाएँ हैं। इसका माधुर्य अलौकिक है, अनिर्वचनीय है। इस रास की प्राप्ति कैसे हो? एक ही मात्र उपाय है। आनन्द-भाव से आत्म-समर्पित होकर कृष्ण (ब्रह्म) की कृपा पर अवलम्बित रहें (पुष्टिभाव)।"[1] इसी रास को लक्ष्य करके पं० नन्ददुलारे वाजपेयी भी लिखते हैं "रास की वर्णना में सूरदास का काव्य परिपूर्ण आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँच गया है। केवल 'श्रीमद्भागवत' की परम्परागत अनुकृति कवि ने नहीं की है; वरन् वास्तव में वे अनुपम आध्यात्मिक रास से विमोहित होकर रचना करने बैठे हैं। उन्होंने रास की जो पृष्ठभूमि बनाई है, जिस प्रशान्त और समुज्ज्वल वातावरण का निर्माण किया है, पुनः रास की जो सज्जा, गोपियों का जैसा संगठन और कृष्ण की ओर सबकी दृष्टि का केन्द्रीकरण दिखाया है और रास की वर्णना में संगीत की तल्लीनता और नृत्य की बँधी गति के साथ भावना की तन्मयता के जो प्रभाव उत्पन्न किये हैं, वे कवि की कला-कुशलता और गहन अन्तर्दृष्टि के द्योतक हैं।"[2] श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने सूरदास के कितने ही पदों और कृष्ण-चरित की तत्तत् घटनाओं के उद्धरण देकर उनकी संकेतात्मकता का विवेचन भी किया है।[3] वे जायसी के 'पद्मावत' के सम्बन्ध में शुक्लजी द्वारा उठाये गए प्रस्तुत-अप्रस्तुत के विवाद की भित्ति पर 'पद्मावत' को अन्योक्ति कहने की उनकी कठिनाई का उल्लेख करते हुए लिखते हैं :

"सूर की कविता में उस तरह की कोई कठिनाई नहीं आती। कथानक काव्य भी पूरे-के-पूरे प्रतीकात्मक होते हैं—अन्योक्ति कहला सकते हैं—जैसे अंग्रेज़ी की प्रसिद्ध हास्य-पुस्तक 'गुलीवर्स ट्रेवल्स'।[4] वास्तव में कृष्ण-चरित पर यह आध्यात्मिक रूपक नया नहीं, प्रत्युत, जैसा हम पीछे देख आए हैं, भागवत के

१. 'सूरदास', पृ० १५८।
२. 'सूर सन्दर्भ', पृ० २५।
३. 'महाकवि सूरदास', पृ० १२३, १४०।
४. वही, पृ० १२५।

आधार पर है ।[1] स्वयं व्यास ने ही कृष्ण-गोपियों की रास-लीला को तुलनात्मक रूप में जीव-ब्रह्म-मिलन के समानान्तर रखकर रूपक के लिए दृढ़ भित्ति खड़ी कर दी थी, जिसकी परम्परा जयदेव, विद्यापति आदि के माध्यम से होकर कृष्ण-भक्ति-शाखा में अविरत चली आ रही है। हिन्दी मे कृष्ण-भक्ति के प्रवर्त्तक वल्लभाचार्य ने भी कृष्ण-चरित्र को आध्यात्मिक रूप देने के लिए अपनी भागवत टीका में 'नाम-लीला-रूपं वेणुनादं निरूपयति' 'नहि लीलायां किंचित् प्रयोजनमस्ति....।' 'सा लीला कैवल्यम् मोक्षः' इत्यादि लिखकर वंशी-ध्वनि को नाम-लीला—माया—का प्रतीक तथा रास, कुञ्ज-बिहार, होली आदि लीला को जीव-ब्रह्म-मिलन—मोक्ष—का प्रतीक माना है। सूरदास द्वारा खीचे हुए राधा-माधव के निम्नलिखित भेंट के चित्र में महामिलन झाँकता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है :

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव माधव-राधा कीट भृंग गति ह्वै जु गई ।।
माधव राधा के रंग राँचे राधा माधव रंग गई।
राधा-माधव प्रीति निरन्तर, रसना करि सो कहि न गई।
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहीं अन्तर यह कहिकै इन ब्रज पठई।
'सूरदास' प्रभु राधा माधव, ब्रज बिहार नित नई-नई।

सूरदास के बाद 'अष्टछाप' के प्रसिद्ध कवि नन्ददास ने भी अपनी 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' के अन्त में कृष्ण-सम्बन्धी सारे शृंगार को यों निवृत्ति-परक सिद्ध किया है :

नाहिन कछु शृंगार कथा इहि पंचाध्यायी।
सुन्दर अति निरवृत्ति परां तें इती बड़ाई ।।

इस विचार से तो सारा-का-सारा कृष्ण-चरित्र अन्योक्ति-पद्धति पर लिखा हुआ बृहद् गीत-काव्य सिद्ध हो जाता है, परन्तु यह मत एकदेशी है, सर्व-सम्मत नहीं। सूर-साहित्य में भ्रमर-गीत, भावाक्षिप्त प्रकृति तथा दृष्टकूट ही ऐसे भाग हैं, जिनमें अन्यापदेश सर्वथा निर्विवाद है ।

भ्रमर-गीत

भ्रमर-गीत 'सूर-सागर' का एक उत्कृष्ट अंश है। यद्यपि हम मानते हैं कि इसका मूलाधार भी[2] भागवत ही है, तथापि सूर ने इस प्रसंग को जिस साहित्यिक एवं दार्शनिक ऊँचाई पर उठाया है, वह उनकी अपनी कला-उपज्ञा है, अपनी मौलिक वस्तु है। भ्रमर-

१. 'भागवत', पृ० ११।३२।८-१०,२३।
२. दशम स्कन्ध, अध्याय ११, श्लोक १२-२१।

गीत में कवि अप्रस्तुत भ्रमर के माध्यम से प्रस्तुत कृष्ण और उद्धव को गोपियों के उपालम्भ का विषय बनाता है। सीधे ढंग से न कहकर अन्य ही प्रकार से—अप्रस्तुत-मुखेन—कही गई उक्ति द्वारा प्रसूत रमणीयता ही तो काव्य में प्राणाधान करती है। भावुकता जहाँ ऐसी उक्ति को हृदय की गहराई प्रदान करती है, वहाँ विद्रूप उसमें हास्य और चुभतापन ला देता है। सूर के भ्रमर-गीत में हमें ये सभी बातें मिलती हैं, इसलिए कवि को अमर प्रतिष्ठा दिलाने में भ्रमर-गीत का बड़ा हाथ है। उदाहरण के रूप में देखिए, गोपियाँ मधुकर के प्रतीक में किस तरह कृष्ण को उलाहना देती हैं :

मधुकर काके मीत भए ?
दिवस चारि की प्रीति सगाई सो लै अनत गए ॥
डहकत फिरत आपने स्वारथ पाखंड और ठए ।
चांडै सरे चिह्लारी मेटी करत हैं प्रीति न ए ।[1]

ब्रज-वनिताओं का रस लेकर अब मथुरा में ही रम जाने वाले कृष्ण मधुकर के स्वार्थी प्रेम पर यह कैसी चुभती चुटकी है। मधुकर के ही प्रतीक में गोपियों द्वारा उद्धव की आड़े हाथों ली हुई खबर भी देखिए :

मधुकर ! बादि बचन कत बोलत ?
तनक न तोहि पत्याऊँ, कपटी अन्तर कपट न खोलत ॥
तू अति चपल अलप को संगी बिकल चहूँ दिसि डोलत ।
मानिक काँच, कपूर कटु खली, एक संग क्यों तोलत ?
सूरदास यह रटत बियोगिनि दुसह दाह क्यों झोलत ?[2]

उद्धव की कोरे ज्ञान की बातों की भी गोपांगनाओं ने विविध अन्योक्तियों द्वारा खूब खिल्ली उड़ाई है। उनके ज्ञानोपदेश को प्रतीक रूप में वे कभी 'काग की भाषा' कहती हैं और कभी उनको 'दादुर बसे निकट कमलन के जन्म न रस पहिचानै' कहकर मेंढक बनाती है। इस तरह सूर और नन्ददास आदि 'अष्ट-छाप' के कवियों के भ्रमर-गीत में अन्योक्ति-पद्धति की स्पष्ट छाप है।

भावाक्षिप्त प्रकृति

सूर-साहित्य में प्रकृति-चित्रों की कमी नहीं है। वे शुद्ध भी हैं और भावाक्षिप्त भी। भावाक्षिप्त चित्रों में कलाकार प्रकृति के साथ साहचर्य-सम्बन्ध स्थापित करके अपने अन्तर्जगत् को उस पर भी प्रति-बिम्बित हुआ देखता है और फिर सभी मानवीय भावों और चेष्टाओं का आरोप करने लग जाता है। प्रकृति

१. 'भ्रमरगीत-सार', पद २५४। (आचार्य शुक्ल)।
२. वही, पद २५२।

का यह मानवीकरण ही बाद को छायावादी चित्रों का पृष्ठ-पट बना। प्रस्तुत पर अप्रस्तुत-व्यावहारारोप भी अन्योक्ति-पद्धति के अन्तर्गत होता है, यह हम कह आए हैं। कालिदास के विरही यक्ष की तरह सूर की गोपांगनाएँ भी प्रकृति को अपनी विरह-वेदना में संवेदनशील एवं भाव-मग्न पाती हैं। उनके कानों में यमुना के जल-कलकल में भी विरह की वही टीस सुनाई पड़ती है, जो उनके हृदय में उठती है। उन्हें अपनी तरह यमुना भी विरह से यों काली पड़ी हुई दीखती है :

दिखिअति कालिंदी अतिकारी।
कहियो पथिक! जाय उन हरिसों भई विरह ज्वर ज्वारी।
मर्न पर्यंक ते परी धरणि धुकि तरंग तलफ नित भारी।
तट-बारू उपचार-चूर जल परी प्रसेद पनारी।
बिगलित कच कुस-कास कुलिन पर पंकजु काजल सारी।
मन में भ्रमर ते भ्रमत फिरत है दिशि दिशि दीन दुखारी।
निशि दिन चकई बादि बकत है प्रेम मनोहर हारी।
सूरदास प्रभु जोई जमुन गति सोइ गति भई हमारी।[1]

यह प्रकृति के साथ विरहिणियों की तादात्म्य-अनुभूति का कितना स्पष्ट चित्र है। इसी प्रकार सूर की गोपियाँ बादल को भी अपने उपजीवी चातक, दादुर आदि के प्रति सहानुभूति-पूर्ण पाकर अपनी ओर रुखाई अपनाये हुए कृष्ण को यों उलाहना-भरा सन्देश भेजती है :

बरु ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि, नन्दनन्दन गरजि गगन घन छाए॥
सुनियत है सुरलोक बसत सखि, सेवक सदा पराए।
चातक-कुल की पीर जानि कै तेउ तहाँ ते धाए॥
द्रुम किए हरित हरषि बेली मिलि, दादुर मृतक जिवाए।
छाए निबिड़ नीर तृन जहँ तहँ पंछिन हूँ प्रति भाए॥
समझति नहिं सखि, चूक आपनी बहुतै दिन हरि लाए।
सूरदास स्वामी करुनामय मधुबन बसि बिसराए॥[2]

इस चित्र में सूर ने प्रकृति और मानव-जीवन के मध्य परस्पर कितना सहानुभूति-पूर्ण वातावरण तथा सौहार्द्र-पूर्ण सम्बन्ध बतलाया है।

सूर-साहित्य में दृष्टकूट का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। हम मानते हैं कि

१. 'सूरसागर', पद २७२।
२. 'भ्रमरगीत-सार', पद २८२। (आचार्य शुक्ल)

इसमें कवि का भाव-पक्ष के स्थान में कला-पक्ष ही दिखलाई देता है और यही कारण है कि बहुत से आलोचक दृष्टकूट वाली 'साहित्य-लहरी' को भक्तशिरोमणि सूरदास द्वारा प्रणीत न मानकर सूरदास नामधारी किसी दूसरे ही कवि की रचना समझते हैं। किन्तु यह उनका भ्रम है। दृष्टकूट भी वास्तव में आदि-सूरदास की ही कलाकृति है। दृष्टकूट-पदों में कवि ने छायावादियों की तरह साध्यवसाना लक्षणा अथवा रूपकातिशयोक्ति को अपनाकर अप्रस्तुत से ही प्रस्तुत का प्रतिपादन किया है। फलतः उनमें कुछ छायावाद की-सी दुरूहता आना स्वाभाविक ही था। प्रत्यक्ष-सगुणवादी सूरदास द्वारा इस प्रहेलिकात्मक प्रतीक-पद्धति के अपनाये जाने के कारण के विषय में श्री द्वारिकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल लिखते है: "जहाँ तक सूरसागर के दृष्टकूट-पदों का सम्बन्ध है, उनकी सार्थकता भी स्वयं-सिद्ध है। 'परोक्ष-प्रियाह वै देवाः', 'देव को परोक्ष गानादि प्रिय होते हैं', इस श्रुति-वाक्य के अनुसार सूरदास ने दृष्टकूट-पदों द्वारा अपने इष्टदेव का परोक्ष गायन किया है, अतः इन पदों को कला-प्रदर्शन की अपेक्षा परोक्ष गायन का साधन मानना उचित है। तभी हम सूरदास के साथ वास्तविक न्याय कर सकते हैं।"[1] वास्तव में यह काव्य-शैली सूर को विद्यापति के दृष्टकूट, साधनात्मक रहस्यवाद वाले गोरख-पंथियों के प्रतीक-विधान तथा कबीर आदि सन्त-कवियों की संकेतात्मक उलटबासियों से मिली हुई दाय थी, जिसका उन्होंने 'साहित्य-लहरी' में खुलकर प्रयोग किया है। निदर्शन के रूप में सूर-कृत राधिका का यह प्रतीकात्मक सौन्दर्यांकन देखिए:

> **अद्भुत एक अनूपम बाग।**
> **जुगल कमल पर गज क्रीड़त है, ता पर सिंह करत अनुराग।।**
> **हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।**
> **रुचिर कपोत बसे ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग।।**
> **फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक पिक मृग मद काग।**
> **खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग।।**

इसमें एक ऐसे 'बाग' का चित्रण है, जिसमें कमल-पुष्प, पल्लव आदि खिले हुए हैं और गज, सिंह आदि पशु तथा कपोत-पिक-खंजन आदि पक्षी विहार कर रहे हैं। वह बाग स्वयं राधिका है। कमल-युगल उसके दो पैरों के लिए प्रयुक्त हैं। उन पर खेलते हुए गज से उसका विलासपूर्ण गति वाला नितम्ब विवक्षित है। उसके ऊपर सिंह कटि का बोधक है। कटि पर नाभि का प्रतीक

१. 'सूर-निर्णय', पृष्ठ ३०३।

सरवर है। सरवर पर गिरिवर कुचों और कजपराग कुचाग्रों एवं उनकी लालिमा के उपलक्षक है। कपोत, अमृत फल, शुक, पिक, खंजन, धनुष और चन्द्रमा क्रमशः कंठ, मुख, नाक, स्वर, नयन, भौंह और भाल के प्रतीक हैं। अन्त में मणिधर नाग से सिन्दूरबिन्दु-युक्त केश-पाश अभिप्रेत है। इस तरह ये सब कवि के लाक्षणिक प्रयोग है, जिनमें राधिका का प्रतीकात्मक वर्णन है। तुलना के लिए प्रसाद और पंत के अध्यवसित रूप में ऐसे ही एक-दो छायावादी चित्र भी देखिए :

बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से?
मणि वाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से?
विद्रुम सीपी सम्पुट में
मोती के दाने कैसे?
है हंस न, शुक यह, फिर क्यों
चुगने को मुक्ता ऐसे?[१]

कमल पर जो चारु दो, खंजन प्रथम
पंख फड़काना नहीं थे जानते
चपल चोखी चोट कर अब पंख की
वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को।[२]

सूर ने विद्यापति की तरह अन्योक्ति-पद्धति को केवल राधाकृष्ण के सौन्दर्यांकन तक ही सीमित रखा हो, सो बात नहीं। वे तो इसका क्षेत्र अपेक्षाकृत कितना ही व्यापक बना गए हैं। उदाहरण के लिए अवधि बीत जाने पर भी कृष्ण के मथुरा से वापस न आने के कारण वियोग की टीस से अकुलाई हुई गोपांगनाओं का प्रतीकात्मक भाषा में विष खाकर आत्म-घात करने का विचार देखिए :

कहत कत परदेसी की बात।
मन्दिर अरध अवधि बदि हमसों हरि अहार चलि जात।।
ससि रिपु बरष, सूर रिपु जुग बर, हर-रिपु कीन्हौ घात।
मघ पंचक लै गयौ साँवरौ, तातैं अति अकुलात।।

---

१. प्रसाद, 'आँसू', पृ० २१-२३ (सं० २०१५)।
२. पन्त, 'ग्रंथि', पृ० १८ (सं० २००६)।

नखत, वेद, ग्रह, जोरि अर्ध करि सोइ बनत अब खात।
सूरदास बस भईं बिरह के, कर मींजै पछितात॥[१]

परदेसी से अभिप्रेत कृष्ण है। वे लौट आने के लिए मन्दिर-अरध (भवन का आधा)=पक्ष (पखवाड़ा) अवधि कह गए थे, किन्तु यहाँ तो हरि-अहार (सिंह का भोजन)=मास (महीना) चला जा रहा है। ससि-रिपु (दिन) और सूर-रिपु (रात) युग के समान कट रहे हैं। हर-रिपु (काम) अपना प्रहार करता फिर रहा है। श्याम मघ-पचक (रविवार से पंचम)=वृहस्पति=जीव (जीवन) ले गए हैं। इससे हृदय अकुला रहा है। नक्षत्र २७, वेद ४, ग्रह ९ को जोड़कर (४०) उनका आधा २०=विष खाने से हमें कौन रोक सकता है। इस वर्णन में पहेलियों की तरह अनुभूति की अपेक्षा मस्तिष्क की कष्ट-कल्पना अधिक हो गई है। यही कारण है कि कुछ आलोचक कूटों को भावुक सूर की रचनाएँ न मानकर सूर-नामधारी किसी और ही कवि की मानते हैं।

अपरोक्षवादी तुलसी ने भी अपनी रचनाओं में कहीं-कहीं अनुभूतियों को अप्रस्तुत-विधान के द्वारा अभिव्यक्ति दी है। जिस तरह सूर ने अपने मन को 'माधव जू! यह मेरी इक गाइ' यों गाय की अन्योक्ति द्वारा प्रतिपादित किया है, वैसे ही तुलसी ने भी राम-प्रेम को चातक और मीन के प्रेम के प्रतीक से प्रबन्ध-रूप में अपने कितने ही दोहों म प्रकट किया है। स्वाति-जल के लिए चातक का अनन्य प्रेम-व्रत जगत् में सर्वविदित ही है। चातक की तरह भक्त भी निष्काम भाव से अपने प्रभु के अतिरिक्त और कहीं देखता तक नहीं है। उदाहरण के लिए तुलसी की यह अन्योक्ति-पद्धति देखिए :

तुलसी की अन्योक्ति-पद्धति

उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहुँ दूसरी ओर॥
नहिं जाचत, नहिं संग्रही, सीस नाइ नहिं लेइ।
ऐसे मानी माँगनेहि, को बारिद बिन देइ॥
मुख मीठे मानस-मलिन, कोकिल मोर चकोर।
सुजस धवल चातक नवल रह्यो भुवन भरि तोर॥
बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्यजल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेमपट मरतहु लगी न खोंच॥
अंड फोरि कियो चेटुवा, तुष पर्‌यो नीर निहारि।
गहि चंगुल चातक चतुर, डार्‌यो बाहिर वारि॥

१. 'सूरसागर', दशम स्कन्ध, ३९७६।४५९४।

तुलसी के मत चातकहि, केवल प्रेम पियास।
पियत स्वाति जल जान जग, जाचक बारह मास ॥[1]

यहाँ उपल-कुलिस आदि साधना-मार्ग में विघ्न-बाधाओ के प्रतीक हैं, मेघ से प्रभु विवक्षित है। नीर—'जलमाया'—में संसार का संकेत है। मुख-मीठे कोकिल, मोर, चकोर में बगला-भक्तों की अभिव्यंजना है। इसी तरह मीन-जल के प्रेम के सम्बन्ध में भी तुलसी उसे पहले तो तुलनात्मक रूप में राम और भक्त के प्रेम के समानान्तर यों रखते हैं :

ज्यों जग बैरी मीन को, आपु सहित, बिनु बारि।
त्यों तुलसी रघुबीर बिन, गति आपनी बिचारि ॥५६॥

इसमें प्रस्तुत रघुवीर के प्रति तुलसी के प्रेम की अप्रस्तुत मीन के जल-विषयक प्रेम के साथ उपमा दी गई है। किन्तु बाद को तुलसी ने प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भेद मिटाकर अन्योक्ति-पद्धति द्वारा ही राम-प्रेम को बताया है :

देउ आपने हाथ जल मीनहिं माहुर घोरि।
तुलसी जियै जो बारि बिनु, तौ तु देहि कवि खोरि ॥
मकर, उरग, दादुर, कमठ, जल-जीवन जल-गेह।
तुलसी एकै मीन को, है साँचिलो सनेह ॥
सुलभ प्रीति प्रीतम सबै, कहत करत सब कोइ।
तुलसी मीन पुनीत ते, त्रिभुवन बड़ो न कोइ ॥[2]

मीरा का सगुण और निर्गुण भक्तिवाद

कृष्ण-भक्ति शाखा में मीराबाई का विशिष्ट स्थान है और वह इसलिए कि वह भक्ति-काल की सगुण और निर्गुण दोनों धाराओं का संगम, सयोजक मध्य-कड़ी हैं। एक तरफ वह अपनी सगुणोपासना में कृष्ण की उपासिका हैं और 'मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरो न कोई' की धुन में मस्त रहा करती है, और दूसरी तरफ, कबीर और सूफी कवियों की तरह निर्गुणवाद के माधुर्य भाव को लेकर चलती हैं तथा 'गगन-मण्डल पै सेज पिया की मिलणा किस बिधि होय' की रट लगाए रहती हैं। मीरा की निर्गुण-भक्ति को देखकर हम वर्तमान काल की प्रसिद्ध रहस्यवादिनी महादेवी को अपनी अतृप्त भावनाओं को लिये हुए जन्मान्तर-प्राप्त मीरा कह सकते हैं। यदि महादेवी के हृदय में 'पीड़ा का साम्राज्य' बसा हुआ है, तो मीरा भी 'हे री मैं तो प्रेम दिवाणी मेरा दरद न जाणे कोय' कहती हुई रोती रही। दोनों में

१. 'तुलसी दोहावली', दोहा २८३, २९०, २९६, ३०२, ३०३, ३०८।
२. 'तुलसी दोहावली', दोहा ३१७, ३१८, ३२०।

भेद इतना है कि मीरा के दर्द में जो सीधी अभिव्यक्ति है, मधुरता है, वह महादेवी की पीड़ा के नवनवोन्मेषों एवं रंगीन कल्पनाओं में नहीं है। दूसरे, जैसा कि श्री नन्ददुलारे बाजपेयी ने कहा है, "मीरा का काव्य दिव्य प्रेम और विरह पर आश्रित है, जो एक ओर उसे सहज हृदयग्राही बनाता है और दूसरी ओर, काव्य-विषय को विस्तीर्ण कर देता है, किन्तु महादेवी के काव्य में वैराग्य-भावना का प्राधान्य है।"[1] मीरा अपने साधनात्मक रहस्यवाद में ज्ञानमार्गी कवियों द्वारा क्षुण्ण रूपक-मार्ग पर 'मान-अपमान दोऊ घर पटके, निकली हूँ ज्ञान-गली' का डिंडिम पीटती हुई चली :

सुरत निरत का दिवला सँजोले, मनसा की कर बाती।
प्रेम हटी का तेल मँगा ले, जगा करै दिन राती॥
ऊँची अटरिया लाल किवड़िया निरगुण सेज बिछी।
सेज सुषमणा मीरा सोवै, सुभ है आज घरी॥

रीतिकाल और उसके शृंगार में अन्योक्ति-पद्धति का अभाव

भक्ति-काल के बाद रीति-काल, जो सं० १७०० से १६०० तक रहा, अपने कलापूर्ण भोगवाद में डूबा हुआ मिलता है। काव्य की जितनी भी अलंकरण सामग्री जुटाई जा सकती थी, उतनी जुटाने में ही इस युग के कवि-कर्म की इतिकर्तव्यता रही। फलतः कविता-कामिनी का कलेवर 'नानाभरण-भूषित' तो बना, किन्तु उसकी अन्तरात्मा से भक्ति-युगीन पावनता तथा उत्थानिका दोनों जाती रहीं। वह शृंगारिकता की दलदल में फँसकर काम-कर्दम से लिप्त हो गई। इस तरह भक्ति-काल का दिव्य प्रेम अपनी आध्यात्मिकता के उत्तुंग शिखर से उतरकर भौतिक धरातल पर आ बैठा, निर्गुण का सगुण रूप कृष्ण और उसकी जीव-शक्ति राधिका अपने दिव्य और लोकातिशायी परिधान उतारकर लोक-सामान्य नायक-नायिका में बदल गए। वास्तव में साहित्य के इस अधःपतन का कारण वह सम-सामयिक मानव-समाज ही था, जिसे कवियों ने चित्रित किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह वह काल रहा जब कि भारत में मुसलमानों का पूर्ण आधिपत्य स्थापित हो चुका था और वे अपने वैभव के उन्माद में नीति-अनीति का कुछ भी विचार न रखते हुए ऐश्वर्य के भोगवाद में आकण्ठ-मग्न थे। यही कारण है कि वैषयिक परितृप्ति के अनुकूल साहित्य-कला, स्थापत्य, संगीत, चित्र-कला और अन्य कलाएँ, सभी ने दासी-सी बनकर इस समय जितना योग इस ऐन्द्रिय पर्व की भोगवादी प्रदर्शनी मे दिया उतना शायद ही

१. 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', पृ० १८१।

अन्य काल में दिया हो। 'यथा राजा तथा प्रजा' के सिद्धान्तानुसार प्रजा की मनोवृत्तियों और प्रवृत्तियों का भी भोग-परायण होना स्वाभाविक था। दूसरे, परास्त होकर दास बने हुए हिन्दू राजा-महाराजाओं के लिए अवरोध में मुँह छिपाकर पराजय के अवसाद और नैराश्य से भरे हुए अपने मन को रमणी के मधुर वचनामृत से, उसकी मद-भरी चितवन की संजीवनी से तथा उसके प्रेमार्द्र हाव-भावों के रस-संचार से अनुप्राणित करने के अतिरिक्त और कोई चारा भी न था। उनके आश्रयवर्ती कवियों की कला को भी काल की नाड़ी देखकर हृदय का मधुर स्वर ही अलापना पड़ा। फलतः काव्य-जगत् में चारों ओर वासना और शृंगार का महान् प्लावन आ गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस शृंगार को भक्ति-युग के कबीर-जायसी आदि ने 'आरोपित' रूप मे लेकर आध्यात्मिक प्रेम का प्रतीक बनाया था और सूर आदि भक्तों ने राधा-कृष्ण के 'मधुर' रूप में लेकर पवित्र भक्ति का साधन अपनाया था, वही शृंगार रीति-कवियों के हाथों साध्य बन गया और डॉ० प्रेमनारायण के शब्दों में "जब प्रतीक साधन न होकर साध्य बन जाता है तब वह अपने महत्त्व को नष्ट कर देता है और काव्य का उपकारी न होकर अपकारी बन जाता है।"[1]

रीतियुगीन प्रेम में प्रतीकवाद का भ्रम उसका निराकरण

रीतियुगीन प्रवृत्तियों के उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उस समय शृंगार जीवन का यथार्थवाद था। इसलिए डॉ० नगेन्द्र के साथ हम इस बात से पूर्णतः सहमत हैं कि[2] "रीतियुगीन शृंगार का मूलाधार रसिकता है, जो शुद्ध ऐन्द्रिय, अतएव उपभोग-प्रधान है। उसमे पार्थिव एवं ऐन्द्रिय सौन्दर्य के आकर्षण की स्पष्ट स्वीकृति है, किसी प्रकार के अपार्थिव अथवा अतीन्द्रिय सौन्दर्य के रहस्य-सकेत नही। इसीलिए वासना को उसमें अपने प्राकृतिक रूप में ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि को निश्छल रीति से प्रेम-रूप में स्वीकार किया गया है, उसको न आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है, न उदात्त और परिष्कृत करने का।" फिर भी कुछ आलोचक और विद्वान् इस युग के शृंगार में राधा-कृष्ण के नाम-मात्र से आध्यात्मिक संकेत देखते हुए इसे भी अन्योक्ति-पद्धति के भीतर लाने की चेष्टा करते हैं। 'विहारी-दर्शन' के रचयिता पं० लोकनाथ द्विवेदी साहित्याचार्य ने उद्धरण दे-देकर बिहारी के दोहों के शृंगार को शुद्ध भक्ति-

---

१. 'हिन्दी-साहित्य में विविध वाद', पृ० ४७०।

२. 'रीति-काव्य की भूमिका', पृ० १६३ (सं० १६५३)।

मय तथा अध्यात्मपरक लगाया है।[1] उनकी धारणा को दूर करने के लिए हम भक्ति-काल और रीति-काल के दो प्रसिद्ध कवि लेते हैं और उनके मुँह से ही यह स्पष्ट कहलवा देना चाहते हैं कि उनकी रचनाओं के शृंगार का उनके अपने व्यावहारिक जीवन से कैसा सम्बन्ध था—तात्त्विक या प्रतीकात्मक ? भक्ति की निर्गुण धारा के प्रतिनिधि कबीर माधुर्य-भाव के प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि हैं, यह हम देख आये हैं। उन्होंने अपने गीतों में अलौकिक प्रेम ही गाया है, किन्तु उनका अपना व्यावहारिक जीवन हमेशा बिलकुल संयत एवं संभोग-परक कामनाओं से बहुत परे रहता था। उन्होंने अपने प्रेम-गीतों के सम्बन्ध में स्वयं कहा है :

तुम्ह जिनि जानौं गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे॥[2]

अर्थात्, जिन्हें तुम प्रेम-गीत समझ बैठे हो, वह मेरे व्यावहारिक जीवन की वस्तु नहीं। वह तो आध्यात्मिक समस्याओं की व्याख्या है, आत्म-प्राप्ति का सारभूत साधन है। ठीक इसके विपरीत, रीति-काव्य के कवि आचार्य केशव को भी देखिए। वे जब बूढ़े हो चुके थे और सिर चाँदी हो गया था, तो एक दिन कुएँ पर बैठे हुए नारी-सौन्दर्य निहार रहे थे। स्त्रियों ने स्वभावतः उन्हें 'बाबा' कहकर पुकार दिया, फिर तो क्या था, 'बाबा' एकदम जल-भुन गए और अपने केशों पर ही यों बरस पड़े :

केसव केसनि अस करी, जस बैरिहु न कराहिं।
चन्द्रबदनि मृगलोचनी, 'बाबा' कहि कहि जाहिं॥

इस दोहे में उनके निजी जीवन से कामुकता की कितनी कटु गन्ध निकल रही है और भोग-प्रधान युवावस्था के चले जाने पर कितना विपुल विषाद व्यक्त हो रहा है। हमारे विचार में सम्भवतः अपनी इन अतृप्त वासनाओं के कारण ही केशव 'बाबा' को प्रेत बनना पड़ा हो। इसके अतिरिक्त इनका 'रसिकप्रिया' लिखकर अपने आश्रय-दाता राजा इन्द्रजीतसिंह की सभा की वेश्या 'प्रवीणराय' को समर्पण करना भी साभिप्राय है। इसी कारण तो प्रसिद्ध सन्त कवि सुन्दरदास ने इनकी 'रसिकप्रिया' तथा अपने ही नामराशि सम-सामयिक सुन्दरराय की 'रसमंजरी' एवं 'सुन्दरसिंगार' को यों आड़े हाथ लिया था :

रसिकप्रिया, रसमंजरी, और सिंहारहि जान।
चतुराई करि बहुत विधि विषै बनाई आनि।

---

१. देखिए, पृ० ११८-१५५।
२. 'कबीर-ग्रन्थावली', पृ० ८९।

विषै बनाई आनि, लगत विषयिन कौ प्यारी।
जागै मदन प्रचण्ड, सराहैं नख-शिख नारी।।
ज्यों रोगी मिष्टान्न खाई, रोगहि विस्तारै।
सुन्दर यह गति होई, जो रसिकप्रिया धारै।।[1]

अपने अद्वैत के 'युगनद्घ' प्रतीक को साध्य-रूप में लेने वाले, लक्ष्य वस्तु को वाच्य बनाने वाले बौद्ध वज्रयानियों का धार्मिक पतन एक इतिहास की वस्तु है। साधन को साध्य में परिणत कर देने वाले शाक्त सम्प्रदायों का भी यही हाल रहा। स्वयं राधा-कृष्ण का माधुर्य-भाव भी भौतिक धरातल पर उतरकर गोपी-रूप में देवदासी-जैसी घृणित प्रथा को जन्म देता हुआ भक्तिवाद के विमल मुख-कमल पर पाप की अमिट कालिमा पोत गया। सहजिया-सम्प्रदाय भी धर्म के इसी कुत्सित चक्र में फँसा हुआ है। इसी तरह रीति-काव्य का युगधर्म भी हमें स्पष्टतः वासना के गर्त्त में गिरा हुआ मिलता है। इसे हम सर्वथा तात्त्विक ही कहेंगे, प्रतीकात्मक नहीं। क्या उमर खैयाम की रूबाइयों को पढ़कर कोई यह कहने का साहस करेगा कि उसकी मदिरा और मदिरेक्षणा तात्त्विक नहीं, प्रतीकात्मक हैं? इस तरह रीतिकालीन साहित्य में शृङ्गारिकता के प्रस्तुत रहने से उसमें अन्योक्ति-पद्धति का प्रश्न ही नहीं उठता।

रीतियुग में अन्योक्ति-तत्त्व

हमारा यह अभिप्राय नहीं कि रीति-युग में अन्योक्ति-तत्त्व है ही नहीं। जैसा कि हम पीछे दिखला आए हैं, मुक्तक-रूप में अन्योक्ति भी सूक्तियों के साथ इस युग की बड़ी सम्पन्न देन है। बाबा दीनदयाल गिरि का 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' रीतियुगीन हिन्दी-साहित्य की एक अमूल्य निधि है। पद्धति के रूप में अन्योक्ति हमें केशव की विज्ञान-गीता में अवश्य जरा झाँकती हुई मिलती है, जिसमें उन्होंने अमूर्त्त भावों को मानवी रूप दे रखा है, किन्तु उनकी यह रचना स्वतन्त्र न होकर संस्कृत के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक की केवल नकल-मात्र है, स्वोपज्ञ नहीं। हाँ, देव द्वारा 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की शैली पर लिखी हुई 'देवमाया-प्रपंच' इस युग की अन्योक्ति-पद्धति की रचना मानी जा सकती है। इसी तरह कहीं-कहीं कुछ गीतों एवं सन्दर्भों में भी पद्धति के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए बाबा दीनदयाल गिरि की ही लगातार मालिनी-छन्द के पद्यों में पथिक के प्रतीक में जीवात्मा को दी जाने वाली यह चेतावनी देखिए :

सुनहु पथिक, भारी कुञ्ज लागी दवारी।
जँह तँह मृग भागे देखिए जात आगे।।

---

1. 'सुन्दर-विलास', पृ० ५२।

फिरत कित भुलाने पाय ह्वै हैं पिराने।
सुगम सुपथ जाहू बूझिए क्यों न काहू॥
बहुत दिवस बीते गैल में तोहि मीले।
मुख रुख कुम्हिलाने बैठिले या ठिकाने॥
अहह! सँग न साथी दूर है देस पाथी।
बिलम नहिं भलो जू सँबलै लै चलो जू॥[1]

अन्योक्ति-पद्धति पर आधारित छायावाद-युग के दो निम्नोक्त चित्रों से बाबा जी की तुलना कीजिए :

पैरों के नीचे जलधर हों, बिजली से उनके खेल चलें,
संकीर्ण कगारों के नीचे, शत-शत झरने बेमेल मिलें,
सन्नाटे में हो विकल पवन, पादप निज पद हों चूम रहे,
तब भी गिरिपथ का अथक पथिक ऊपर ऊँचे झेल चलें। (प्रसाद)

बाँध लेंगे क्या तुझे ये मोम के बन्धन सजीले ?
पन्थ की बाधा बनेंगे तितलियों के पर रँगीले ?
विश्व का क्रन्दन भुला देगी मधुप की मधुर गुन-गुन
क्या डुबा देंगे तुझे ये फूल के दल ओस-गीले ?
तू न अपनी छाँह को अपने लिए कारा बनाना !
जाग, तुझको दूर जाना ! (महादेवी)

आधुनिक काल और उसके चार चरण

आधुनिक काल सं० १९०० वि० से लेकर आज तक चला आ रहा है। राजनीतिक दृष्टि से यह राष्ट्रीय चेतना का काल कहा जाता है। रीति-काल का भोगवाद राज-यक्ष्मा बनकर मुस्लिम साम्राज्य को ले बैठा ही था कि झट अंग्रेजी सत्ता उसके स्थान पर आ धमकी और राष्ट्रीय जीवन के सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक और अन्य, सभी पहलुओं पर प्रहार करने लगी। फलतः राष्ट्र की प्रसुप्त चेतना जाग उठी। साहित्य ने भी करवट बदली। शृङ्गार की दलदल में फँसी पड़ी कविता-कामिनी का उद्धार, परिस्थिति वातावरण के अनुरूप शोधन तथा परिष्कार हुआ। ब्रजभाषा के स्थान में खड़ी बोली को अभिषिक्त किया गया और उसके लिए उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि गद्यात्मक विविध साहित्य-विधाओं के कार्यक्षेत्र भी खोल दिये गए। 'भारतेन्दु' हरिश्चन्द्र इस नवोत्थान के मूल स्तम्भ

१. 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम', ४।११, १२॥

हैं और दीप-स्तम्भ भी हैं। इस काल को हम चार चरणों में बाँट सकते हैं—'भारतेन्दु-युग', 'द्विवेदी-युग', 'छायावाद-युग' और 'प्रगतिवाद-युग'।

भारतेन्दु-युग

भारतेन्दु-युग हमारे साहित्य में ऐसा काल है, जिसमें सभी प्रवृत्तियाँ अंकुरित हो उठी है।[1] यह संक्रान्ति-युग भी कहलाता है, क्योंकि इसमें प्राचीन धारा भी चलती रही, किन्तु भक्ति और शृङ्गार के अतिरिक्त कविता में देश-काल के अनुकूल देश-प्रेम, समाज-सुधार, अतीत-गौरव आदि कितने ही नवीन विषय भी समाविष्ट किये गए। वास्तव में भारतेन्दु ने हिन्दी-काव्य को केवल नये-नये विषयों की ओर ही उन्मुख किया, उसके भीतर किसी नवीन विधान या प्रणाली का सूत्रपात नही किया। दूसरी बात उनके सम्बन्ध में उल्लेखनीय यह है कि वे केवल 'नर-प्रकृति' के कवि थे। बाह्य प्रकृति की अनन्त-रूपता के साथ उनके हृदय का सामंजस्य नहीं पाया जाता। उन्होंने जो दो-एक प्रकृति-चित्र खीचे हैं, उन्हें रीति-कवियों की तरह रूढ़ि-बद्ध ही समझिए। उनमें उनके हृदय का प्रतिबिम्ब नही है। भारतेन्दु की तरह इस युग के अन्य कवियों की दृष्टि भी स्वभावतः बहिर्मुख और वस्तु-निष्ठ (Objective) रही, सन्तों की जैसी [illegible] (Subjective)—नहीं बन सकी। संस्कृत के आधार पर सूक्तियों के साथ-साथ विद्रूप और विनोद के अभिप्राय से काव्यों में अन्योक्ति का अपने मुक्तक रूप में ही प्रयोग होता रहा, पद्धति के रूप में नहीं।

भारतेन्दु के प्रतीकात्मक नाटक 'विद्या-सुन्दर'

भारतेन्दु के कुछ नाटक अवश्य ऐसे हैं, जिनमें हम अन्योक्ति-पद्धति को झाँक लेते हैं। 'रत्नावली' के बाद भारतेन्दु का दूसरा नाटक 'विद्या-सुन्दर' इसी जाति का है; यद्यपि यह मौलिक न होकर बंगला के 'विद्या-सुन्दर' का अनुवाद-मात्र है। प्रेमाश्रयी शाखा वाले कवियों की आध्यात्मिक प्रेम-कथाओं की तरह इसमें भी लौकिक प्रेम-कथानक पर झीना-सा आध्यात्मिक आवरण पड़ा हुआ प्रतीत होता है। इसका संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है : 'वर्धमान के महाराज वीरसिंह की कन्या विद्या ने प्रतिज्ञा की कि किसी भी जाति का जो कोई पुरुष मुझे विवाद में परास्त कर देगा, उसे ही मैं वरण करूँगी। राजकीय गंगाभाट ने स्थान-स्थान में इस बात की सूचना पहुँचा दी। दूर-दूर से कितने ही राज-पुत्र और विद्वान् राजकुमारी को वरने

---

१. 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', पृ० १५७।

आए, पर शास्त्रार्थ में सभी उससे हार खाते गए। राजा-रानी को बड़ी चिन्ता होने लगी कि अब तो हमारी विद्या कुँआरी रह जायगी। अन्त में काँचीपुर के राजा गुणसिन्धु के पुत्र सुन्दर को जब इसका पता लगा, तो वह अज्ञात रूप में वर्धमान नगर पहुँचा और राजकीय उद्यान की मालिन हीरा के पास ठहर गया। राजकुमारी से ऐसे सुन्दर परदेशी के आगमन की खबर छिपाए बिना मालिन से न रहा गया। एक दिन वह राजकुमार के हाथ की गुँथी एक माला भी विद्या के लिए ले गई और इस तरह मालिन द्वारा ही जब सुन्दर और विद्या एक-दूसरे के सौन्दर्य और नैपुण्य से परिचित हो गए, तो दोनों का परस्पर साक्षात्कार के लिए अकुलाना स्वाभाविक ही था। अन्त में हीरा मालिन के ही गुप्त प्रयत्न के फलस्वरूप एक दिन पूर्व निश्चयानुसार उद्यान के किसी वृक्ष की छाया में बैठे राजकुमार और महल की छत पर खड़ी हुई राजकुमारी की आपस में आँखें चार हो ही गईं। फिर तो क्या था, परस्पर-मिलन की ही सूझी। सुन्दर ने रात को महल में सेंध लगाई और चोरी-चोरी विद्या के पास पहुँच ही गया। उसके इस साहस-कार्य पर राजकुमारी और उसकी विमला, सुलोचना आदि सहेलियाँ सब दंग रह गईं। कुछ देर तक मुख पर झीना आवरण डाले हुए विद्या और सुन्दर दोनों के मध्य प्रेम-ठिठोली के रूप में विवाद छिड़ा रहा। किन्तु अन्त में जब विद्या 'रस के विचार' में हार गई, तो सुन्दर पर विजय-माल डालनी ही पड़ी। उस दिन से मालिन के माध्यस्थ्य में चोरी-चोरी मेल का सिलसिला चलता ही रहा। अन्त में एक दिन राजा और रानी को किसी तरह रात में कन्या के महल में चोर के आगमन का पता चल गया। राजाज्ञा से सारी पुलिस राजकुमारी के महल पर तैनात हो गई और रात को कोतवाल धूमकेतु द्वारा हीरा मालिन सहित चोर पकड़ लिया गया। राजकुमारी के प्राणों पर आफत आ गई, परन्तु किया क्या जाय। चोरी चोरी ही थी। नियमानुसार चोर को चोरी का कारावास-दंड मिला और वह कारागार ले जाया ही जा रहा था कि इतने में गंगाभाट ने चोर को पहचान लिया और उसके सम्बन्ध में राजा को यह सुनाया कि वह तो काँचीपुर के राजा गुणसिंधु का पुत्र सुन्दर है। वीरसिंह अवाक् रह गया। उसने तत्काल बन्दी को अपने पास बुला लिया और दंड के लिए बड़ा खेद प्रकट किया। राजा ने अन्तःपुर से विद्या को बुलाया और उसका हाथ सुन्दर के हाथ में दे दिया। इस तरह सुन्दर ने कष्ट झेलकर अन्त में विद्या पा ही ली।'

भारतेन्दु का यह एक सामाजिक नाटक है। इसमें उनका उद्देश्य विवाह-समस्या को माता-पिता पर ही आश्रित रखने वाली पुरानी प्रथा के विरुद्ध

'विद्यासुन्दर' में प्रतीक-समन्वय

कालिदास की शकुन्तला तथा दुष्यन्त की तरह इसे वर-कन्याओं के हाथ में सौंपकर सामाजिक विचारों में क्रान्ति लाना था। किन्तु इस दृश्यमान अर्थ की ओट में यहाँ एक दूसरा मनोवैज्ञानिक अर्थ भी भासित हो रहा है, जिसके कारण यह सारा नाटक प्रतीकात्मक बन गया है। सबसे पहले नाटककार का अपने पात्रों के नामों—वर्धमान, वीरसिंह, गुणसिन्धु, सुन्दर, विद्या, विमला, सुलोचना, धूमकेतु, का चयन ही देखिए कि वह कितना साभिप्राय है। दूसरे, डॉ० दशरथ ओझा के शब्दों में "विद्या (Wisdom) उन राजपुत्रों को प्राप्त कैसे हो सकती है, जिन्हे अपने राजवैभव का बल है और उसी बल पर विद्या (Wisdom) को प्राप्त करना चाहते हैं ? विद्या की प्राप्ति के लिए गुणसिन्धु-प्रसूत सुन्दर के सदृश राजवैभव त्यागकर प्रवासी बनना पड़ता है; प्रकृति-प्रांगण की पुजारिन मालिन का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है; नाना शास्त्रों की कला-पूर्ण माला प्रस्तुत करनी पड़ती है; विद्या (आत्म-विद्या) के अभेद्य स्थलों को बेधकर अनाश्रित एकाकी बन उसका साक्षात्कार करने के लिए समस्त बाधाएँ सहने की शक्ति संचित करनी होती है। तब कहीं उसका साक्षात्कार हो सकता है, जैसा सुन्दर ने किया था। साक्षात्कार होने पर भी विद्या (आत्मविद्या) साधक की परीक्षा लेने के लिए मुख को आवरण से आच्छादित कर लेती है। ऐसी स्थिति में उसकी सखियाँ विमला (निर्मल बुद्धि) और सुलोचना (पर्यवेक्षण-शक्ति) सहायक बनती हैं। इतने पर भी विद्या (आत्मविद्या) की प्राप्ति सम्भव नहीं। सुन्दर के सदृश कारागार के एकान्त स्थल में बैठकर तप भी अपेक्षित है।"[1] परन्तु यह प्रतीयमान अध्यात्मपरक अर्थ जितना पात्रों के नामों तथा घटना-व्यापारों पर अवस्थित है, उतना 'पद्मावत', 'कामायनी' आदि की तरह अपने स्वतन्त्र गम्भीर विकास पर नहीं, तथापि जैसा कि डॉ० ओझा ने भी माना है, भारतेन्दु को यह द्वितीय अर्थ भी अवश्य विवक्षित था। इसी कारण नाटककार ने नाटक के प्रारम्भ में ही वीरसिंह के मुख से ये शब्द कहलवाए : "यही तो आश्चर्य है कि इतने राजपुत्र आये, पर उनमें मनुष्य एक भी नहीं आया। इन सब का केवल राजवंश में जन्म तो है पर वास्तव में ये पशु हैं।" यह सन्दर्भ ब्रिटिश शासन-काल में विदेशी सत्ता के दास बने हुए भारतीय नरेशों पर एक विद्रूप भी है।

विद्यासुन्दर के बाद हम भारतेन्दु के अन्योक्ति-पद्धति पर रचित द्वितीय रूपक 'पाखंड-विडम्बन' पर आते हैं। यह भी मौलिक न होकर संस्कृत के

१. 'हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास', पृ० १९२ (सं० द्वितीय)।

'प्रबोध-चन्द्रोदय' के केवल तृतीय अंक का अनुवाद-मात्र है। 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का प्रसग हम पीछे कर आए है कि यह कृष्णमिश्र-रचित प्रतीक-पद्धति की छः अको मे एक कामेडी—सुखान्त नाटक—है, जिसमे शृगार, हास्य और शान्त रसों को लेकर बनियन के पिल्ग्रिम्स 'प्रोग्रेस' की तरह समूचे मानव-जीवन के अन्तर्द्वन्द्व का सजीव चित्र खींचा हुआ है। इसकी कथा-वस्तु इस तरह चलती है : 'अद्वैत पुरुष नाम के एक राजा थे। 'माया' के साथ समागम से उनके यहाँ 'मन' नाम का पुत्र हुआ। उसकी 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' दो रानियाँ हुईं, जिनसे क्रमशः 'मोह' और 'विवेक' दो पुत्र हुए। बड़े होने पर मोह की शक्ति बढ़ गई, तो 'विवेक' के लिए बड़ा खतरा हो गया। मोह के दल में थे काम, रति, क्रोध, हिंसा, अहंकार। उसका पौत्र दम्भ, जो लोभ और तृष्णा से पैदा हुआ था, मिथ्यादृष्टि तथा चार्वाक था। इसी तरह विवेक के सहायक थे मति, धर्म, करुणा, मैत्री, शान्ति और उसकी माँ श्रद्धा, क्षमा, सन्तोष, वस्तुविचार, भक्ति इत्यादि, जो इस समय पराजित अवस्था में थे। पहले एक बार कभी यह भविष्य-वाणी हो चुकी थी कि विवेक के अपनी पूर्व पत्नी 'उपनिषद्' के साथ मेल हो जाने पर जब उसमे प्रबोध और विद्या नाम के पुत्र और पुत्री उत्पन्न होंगे, तब उनकी सहायता से ही विवेक की विजय होगी, पर यह बात कैसे सम्भव थी, क्योंकि विवेक ने तो 'उपनिषद्' को कभी का त्याग दिया था। अपनी पराजय होते देख विवेक ने अपनी दूसरी पत्नी 'मति' से सलाह की और उसकी अनु-मति प्राप्त करके 'उपनिषद्' से मेल करने की ठान ली। मोह को इस बात का पता चल गया। उसने दम्भ की सहायता से तत्काल बनारस पर अधिकार कर लिया, जो सभी श्रद्धाओं एवं मिथ्या दृष्टियों का केन्द्र-स्थान तथा भारत पर प्रभुत्व की कुञ्जी था और इसी कारण इस पर दोनों दलों की दृष्टि गड़ी हुई थी। फलतः कुछ समय के लिए शासन मोह के हाथ में आ गया। उधर बेचारी शान्ति अपनी माँ श्रद्धा को खो बैठी और उसे व्यर्थ ही जैन, बौद्ध एवं हिन्दू धर्मों में ढूँढ़ती रही। प्रत्येक धर्म अपनी-अपनी पत्नी को श्रद्धा कहता फिरता था, किन्तु शान्ति अपनी माँ को इन विकृत रूपों में नही पहचान सकी। अन्त में भक्ति की सहायता से वह अपनी माँ श्रद्धा को प्राप्त करने में सफल हो ही गई। फिर मोह और विवेक के दलों में युद्ध छिड़ गया। संघर्ष के कितने ही उतार-चढ़ावों के बाद अन्त में विवेक जीत गया। वृद्ध मन महाराज को अपनी सन्तान तथा प्रवृत्ति के युद्ध में मारे जाने पर बड़ा दुःख हुआ, किन्तु वेदान्त ने आकर उनको समझाया और सलाह दी कि अब आप अपनी द्वितीय पत्नी निवृत्ति के

'प्रबोध-चन्द्रोदय' और 'पाखंड-विडम्बन'

साथ रहें, जो आपके सर्वथा योग्य है। अन्त में अद्वैत पुरुष पधारे। विवेक ने उपनिषद् को अपना लिया था, जिससे प्रबोध और विद्या के उत्पन्न होने पर भविष्यवाणी पूरी होकर रही।'

उपरोक्त संस्कृत-नाटक का सबसे पहले हिन्दी-अनुवाद १७०० (वि०) में महाराज जसवन्तसिंह ने किया था, जो मूल की शैली पर ही गद्य-पद्यात्मक है, किन्तु बाद के अनुवादक अनाथदास, जनानन्द, सुरति मिश्र तथा ब्रजवासीदास आदि ने अपनी-अपनी स्वतन्त्र शैलियाँ अपनाईं। भारतेन्दु से पूर्व उक्त नाटक के दस अनुवाद हो चुके थे। उन्होंने तो नाटक का केवल तीसरा अंक लेकर मूलकार की शैली पर ही 'पाखंड-विडंबन' नाम से उसका अनुवाद किया, जिसमें सम-सामयिक बनारस में फैले हुए धार्मिक पाखंड की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करके समाज में फैले हुए धर्म के विकृत रूपों के विरुद्ध क्रान्ति पैदा करना तथा उसके स्थान में शुद्ध वैष्णव भक्ति का प्रचार करना ही उनका लक्ष्य प्रतीत होता है, कृष्ण मिश्र की तरह मानव के अन्तर्जगत् का संघर्ष चित्रित करना नहीं।

'चन्द्रावली' का रहस्यवाद

भारतेन्दु की कृष्ण-भक्ति पर 'चन्द्रावली' नामक एक मौलिक रासलीला की नाटिका है यद्यपि यह रूप गोस्वामी-रचित संस्कृत के 'विदग्ध माधव' तथा बृन्दावनदास की '[illegible]' से थोड़ा-बहुत प्रभावित अवश्य है। इसमें चार अंक हैं और चन्द्रावली नामक गोपी का श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम, विरह और उनसे मिलने की आकुलता का वर्णन है। बेचारी चन्द्रावली जब से श्रीकृष्ण को देखती है, हृदय से उन पर मुग्ध और प्रेम-विह्वल हो बैठती है। जब वेदना का ज़ोर बहुत बढ़ जाता है, तो वह घर छोड़कर वन में चली जाती है और उन्माद-अवस्था में क्या कुछ नहीं बकती, जिसे देखकर सन्ध्या, वर्षा, वनदेवी आदि भी सहानुभूति में करुणा के दो-दो आँसू बहा देती हैं। अन्त में श्रीकृष्ण जोगिन के वेष में उसकी परीक्षा लेने आते हैं और उसे प्रेम में दृढ़ पाकर गले लगा लेते हैं। यही इसका संक्षिप्त कथानक है। कुछ आलोचक भारतेन्दु की इस नाटिका में वर्तमान युग के स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) के बीज बतलाते हैं, परन्तु वास्तव में यह रचना स्वच्छन्दतावादी न होकर भक्तिवादी है। भक्ति भी रीति-युगीन-सी लौकिक प्रेम की न होकर अलौकिक प्रेम की प्रतीक है। इस नाटिका के 'समर्पण' में स्वयं भारतेन्दु के ये शब्द 'इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं, जो संसार में प्रचलित है' इस ओर संकेत करते हैं। इसीलिए डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों

में "वास्तव में एकनिष्ठ प्रेम और निष्काम रति की जो प्रवृत्ति 'चन्द्रावली' में दिखाई देती है, वह परम तत्त्व और परमात्म-प्रेम की ओर संकेत करती है। 'चन्द्रावली' में कृष्ण के प्रति सच्ची तन्मयता और सम्पूर्ण आत्म-समर्पण दिखाकर भारतेन्दु बाबू ने आध्यात्मिक प्रेम-पूर्णता की ओर मानव-हृदय को ले जाने की चेष्टा की है।"[1] सन्ध्या, वर्षा आदि प्रकृति-उपकरणों को मानवी रूप देने में संकेत-पद्धति स्पष्ट है ही।

'भारत-दुर्दशा' में अमूर्त्त भावों का मानवीकरण

भारतेन्दु का 'भारत-दुर्दशा' नाटक उनकी शुद्ध स्वोपज्ञ-कृति है। इसमें उनकी राष्ट्रीय चेतना जागृत होकर राजनीतिक दृष्टि से भरे हुए भारत को क्रान्ति का सन्देश देती है। यह मिश्रित शैली में है, क्योंकि इसके कुछ पात्र एडिटर, बंगाली, महाराष्ट्री, कवि और सभापति तो अपने स्वाभाविक और प्रस्तुत मानव-रूप में है, किन्तु भारत-दुर्दैव, सत्यानाश, धर्म, वेदान्त, असन्तोष, अपव्यय, फूट, रोग, आलस्य, मदिरा, निर्लज्जता, डिस्लायल्टी आदि अमूर्त्त भावों का 'प्रबोध चन्द्रोदय' की तरह मानवीकरण हो रहा है, जिसे हम अध्यवसित रूपक कहेंगे। इस तरह इस नाटक को हम अर्ध-प्रतीकात्मक कहेंगे। भारतेन्दु के अनुकरण पर प्रतापनारायण मिश्र ने भी 'भारत-दुर्दशा' नाटक लिखा। बाद को तो परम्परा ही चल पड़ी और विभिन्न नाटककारों द्वारा 'गौ-संकट', 'भारत-सौभाग्य', 'भारत-ललना', 'भारत दुर्दिन' 'भारत-आरत' आदि इस तरह के कितने ही नाटक लिखे गए।

'द्विवेदी-युग'

अब हम आधुनिक काल के द्वितीय चरण में आते हैं। साधारणतः यह द्विवेदी-युग कहा जाता है, क्योंकि इसके प्रवर्त्तक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी माने जाते हैं। इसे 'संस्कार-युग' नाम से भी पुकारा जाता है, क्योंकि इसमें गद्य के अतिरिक्त कविता-क्षेत्र में भी प्रविष्ट हुई खड़ी बोली, द्विवेदीजी के हाथों अपना समुचित संस्कार एवं परिमार्जन पाकर साफ हो गई है। 'सरस्वती' की कृपा से सम्पन्न यह खड़ी बोली का एक तरह से 'कायाकल्प' अथवा 'शुद्धि-संस्कार' समझिए, जिससे इसमें महान् जीवन आया है। वास्तव में मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त आदि को हिन्दी में खड़ी बोली के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि बनाने का श्रेय द्विवेदीजी को ही है। अन्य कवियों पर भी इनका कुछ कम प्रभाव न पड़ा। परन्तु भारतेन्दु-काल की तरह इस काल के कवियों की दृष्टि भी जीवन के सम्बन्ध में बहिरंगवादी एवं इतिवृत्तात्मक ही रही, जीवन के अन्तर में नहीं

१. 'भारतेन्दु नाटकावली', पृ० ६१-६२।

पैठी। हिन्दी की खड़ी-बोली के नये चोले को अनुवाद से खूब सँवारना, उसका भंडार भरना, राष्ट्रीय भावना को प्रदीप्त करना तथा उपदेश आदि देना ही अधिकतर इस समय के कवि-कर्म की इति-कर्तव्यता रही। सूक्तियों के साथ विद्रूप के रूप में मुक्तक अन्योक्तियाँ खूब लिखी गई। कल्पना-प्रसूत कथानकों के आधार पर प्रबन्ध-गत प्रेम-काव्य भी कितने ही लिखे गए, परन्तु सूफियों के प्रेम-आख्यानों की तरह उनमें दार्शनिक पक्ष की व्याख्या नहीं की गई। वे एक-देशी लौकिक प्रेम-परक ही रहे, यद्यपि प्रसाद के 'प्रेमपथिक' में थोड़ी-सी सूफी-झलक यत्र-तत्र अवश्य दिखाई पड़ती है।

राष्ट्रीय कविता-क्षेत्र में अन्योक्ति-पद्धति

कहना न होगा कि द्विवेदी-युग जब हिन्दी-क्षेत्र में नव-क्रान्ति का समर-शंख फूँक रहा था, तब देश के राष्ट्रीय क्षेत्र में भी बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी। प्रथम महासमर समाप्त हो चुका था। भारत को स्वराज्य की माँग के उत्तर में जलियाँ-वाला बाग का हत्या-कांड तथा घोर दमन-चक्र मिला। फलतः असहयोग-आन्दोलन के रूप में तमाम देश में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक क्रान्ति की आग भभक उठी। इस पृष्ठभूमि पर राष्ट्रवादी साहित्य का सृजन हुआ। कवि-वाणी पर प्रतिबन्ध लग जाने के कारण वह प्रतीकात्मक बन गई। कांग्रेस के सत्याग्रह-युद्ध ने महाभारत का चोला पहन लिया और जहाँ एक तरफ, ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन 'दुःशासन' और शासक 'कंस' हो गए, वहाँ दूसरी तरफ, मोहनदास गांधी 'मोहन' (कृष्ण) भारत-माता 'द्रौपदी' या 'देवकी', सत्याग्रही कैदी 'वसुदेव' और कारागार 'कृष्ण का जन्म-स्थान' बन गया। इसके अतिरिक्त फाँसी के तख्ते पर चढ़ने वाला युवक 'ईसा' अथवा 'सुकरात', सत्याग्रही 'प्रह्लाद' और भारतीय आत्मा 'पुष्प' बने। इस तरह द्विवेदी-युग में राष्ट्रीय कविता के क्षेत्र में ही अधिकतर अन्योक्ति-पद्धति के दर्शन होते हैं। इसमें प्रमुख हाथ प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि पं० माखनलाल चतुर्वेदी का रहा, जिनकी कविता तब 'एक भारतीय आत्मा' नाम से छपा करती थी। निदर्शन के रूप में देखिए :

देश के वन्दनीय वसुदेव कष्ट में ले न किसी की ओट।
देवकी-माताएँ हों साथ पदों पर जाऊँगा मैं लोट।
जहाँ तुम मेरे हित तैयार, सहोगे कर्कश कारागार।
वहाँ बस मेरा होगा वास, गर्भ का प्रियतर कारागार।
वर्ष टल गए, महीने शेष, साधना साधो रक्खो होश।
उन्हीं हृदयों में लूँगा जन्म, जहाँ हो निर्मल जीवित जोश।

अंग्रेजों को अपने यूरोपीय युद्ध के लिए भारत की सहायता अपेक्षित थी, पर क्या धर्म और न्याय के पथ पर चलने वाले अहिंसा और सत्य के सेनानी महात्मा गांधी हाथ में शस्त्र पकड़ते ? महाभारत युद्ध छिड़ने से पहले भगवान् श्रीकृष्ण के सामने भी तो दुर्योधन ने ऐसी ही भिक्षा माँगी थी। इस प्रसंग की प्रतिध्वनि देखिए :

> उधर वे दुःशासन के बन्धु, युद्ध-भिक्षा की झोली हाथ।
> इधर ये धर्म-बन्धु नय-सिन्धु 'शस्त्र लो' कहते हैं—'दो साथ'।
> लपकती हैं लाखों तलवार मचा डालेंगी हा-हा-कार,
> मारने-मरने की मनुहार, खड़े हैं बलि-पशु सब तैयार
> किन्तु क्या कहता है आकाश, हृदय हुलसो सुन यह गुञ्जार।
> "पलट जाये चाहे संसार, न लूँगा इन हाथों हथियार ॥"
>
> (एक भारतीय आत्मा)

फिर तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद का कंस भारत-स्वतन्त्रता के हजारों-लाखों वसुदेवों को अपने दारुण दमन-चक्र के नीचे पीसने लगा। उन्हे काल-कोठरियों में फेंककर यातना-पर-यातना दी जाने लगी। कारागार भर गए, किन्तु सत्याग्रही वीरों ने कारागार को श्रीकृष्ण का जन्म-स्थान समझा और हथकड़ियों एवं जंजीरों को 'हार' मानकर धारण कर लिया :

> 'प्यार ? उन हथकड़ियों से और
> कृष्ण के जन्म-स्थल से प्यार।
> हार ? कन्धों पर चुभती हुई
> अनोखी जंजीरें हैं हार। (एक भारतीय आत्मा)

पुष्प के प्रतीक में भारतीय जन-जीवन की चिर-अभिलाषा भी देखिए कि उस समय क्या हुआ करती थी :

> "चाह नहीं मैं सुर-बाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
> चाह नहीं प्यारी माला में बिंध प्रेमी को ललचाऊँ,
> चाह नहीं सम्राटों के सिर पर हे हरि ! डाला जाऊँ,
> मुझे तोड़ लेना हे वनमाली ! उस पथ पर देना तुम फेंक,
> मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक !

अप्रस्तुत-विधान हटाकर सीधे शब्दों में भारतीय युवक की अपने जीवन के सम्बन्ध में परमात्मा (वनमाली) से यही कामना रहती थी कि वह सुन्दरियों का कंठहार बनकर विषय-विलास में न रमे, देवी-देवताओं की अर्चना-उपासना में ही जीवन-यापन अपना परम भाग्य न समझे और न उसे राजाओं-महा-

राजाओं और सम्राटों की चाटुकारिता में रहकर राज-भक्त कहलाने का गौरव मिले। वह अपने जीवन की सफलता देखता था, तो केवल इसी चाह में कि उसे माथे पर लगाने के लिए मातृ-वेदी पर बलि हुई आत्माओं की भस्म-रज मिलती रहे। कवि ने 'फूल' जीवन का प्रतीक है, यह रहस्य जायसी की तरह दूसरी अन्योक्ति में अन्ततः स्वयं यों खोल भी दिया है :

आने दे दुख के मेघों को, घोर घटा घिर आने दे,
जल ही नहीं, उपल भी इसको लगातार बरसाने दे।
कर-करके गम्भीर गर्जना भारी शोर मचाने दे,
उससे कह दे गहरे झोंके, तू जितने मनमाने दे।
किन्तु कहे देता हूँ तुझसे सब जाऊँगा भूल,
तेरे चरणों पर ही अर्पित होगा जीवन-फूल।

(राष्ट्रीय वीणा)

माखनलाल चतुर्वेदी का बलि-पशु के प्रतीक में देश के लिए मर मिटने वाले देश-सेवक के प्रति सम्बोधन भी देखिए :

चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत रे ! बलि-पथ के सुन्दर जीव !
उच्च कठोर शिखर के ऊपर, है मन्दिर की नींव।
बड़े-बड़े ये शिला-खण्ड मग रोके पड़े अचेत,
उन्हें लाँघ तू यदि जाना है तुझे मरण के हेत।

(हिमकिरीटिनी)

अन्यत्र भी अन्योक्ति-पद्धति

राष्ट्रीय क्षेत्र के अतिरिक्त जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी आलोच्य युग के कवियों ने कहीं-कहीं अन्योक्ति-पद्धति अपनाई है। उदाहरण के लिए अकाल मृत्यु का ग्रास बने हुए किसी बालक पर 'दलित कुसुम' के प्रतीक में करुण-रस-पूर्ण अन्योक्ति देखिए :

अहह ! अधम आँधी आ गई तू कहाँ से ?
प्रलय-घन-घटा-सी छा गई तू कहाँ से ?
पर-दुख-सुख तूने हा ! न देखा, न भाला।
कुसुम अधखिला ही, हाय ! यों तोड़ डाला।
यह कुसुम अभी तो डालियों में धरा था,
अगणित अभिलाषा और आशा भरा था,
दलित कर इसे तू काल ! क्या पा गया रे ?
कण भर तुझमें क्या है नहीं हा ! दया रे ?

तड़प-तड़प माली अश्रु-धारा बहाता,
मलिन मलिनियाँ का दुःख देखा न जाता।
निठुर ! सुख मिला क्या हाय पीड़ा दिये से ?
इस नव लतिका की गोद सूनी किये से ?

(रूपनारायण पाण्डे)

रहस्यवादी अन्योक्ति-पद्धति के लिए भी द्विवेदी-काल में ही बीज पड़ गए थे, जो बाद को प्रसाद, पन्त आदि सुनिपुण मालियों के हाथों छायावाद के उपवन में खूब पल्लवित, पुष्पित और फलित हुए।

आधुनिक काल का तृतीय चरण रामबहोरी शुक्ल के अनुसार १९२० (ई०) से १९४० तक माना जाता है। यह वह समय था जब कि जर्मनी के प्रथम महासमर की परिसमाप्ति पर जहाँ एक ओर यूरोप में महाविनाश एवं नैराश्य का अवसाद छाया हुआ था, वहाँ दूसरी ओर भारत में भी विफल असहयोग-आन्दोलन की पृष्ठभूमि में अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं के सुनहले स्वप्नों के सहसा भंग हो जाने के कारण विपुल व्यथा तथा घनी उदासी उत्पन्न हो गई थी। मन को रुचने वाली कोई सामग्री न रहने से जीवन में नीरसता-सी भर गई थी। इस मनोवृत्ति का सम-सामयिक साहित्य पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। द्विवेदी-युगीय बहिर्जगत् की पिटी-पिटाई बातें जन-मन के प्रति अपना आकर्षण खो बैठी थीं। उसकी इतिवृत्तात्मकता तथा प्रकारवाद से सभी की आत्मा ऊब बैठी। काव्य के इस पुराने ढच्चर (Pattern) को छोड़कर साहित्यिक प्रवृत्तियाँ अपनी अभिव्यक्ति के लिए जीवन के किसी नये अक्षुण्ण क्षेत्र की टोह में थीं। जैसा हम पीछे देख आए हैं, देश की ऐसी परि-स्थिति रीतियुगीन कवियों के आगे भी आई थी। उन्होंने तो समाज के साथ-साथ झट नारी का अंचल पकड़कर उसके नख-शिख एवं प्रणय-सौन्दर्य में पनाह ले ली थी, किन्तु आधुनिक काल का समाज एवं उसका नैतिक स्तर कहीं अधिक जाग्रत और ऊंचा उठा हुआ था; साथ ही उसमें वहिर्जगत् के प्रति आस्था का अभाव भी था। इसलिए कलाकार बहिर्जगत् को छोड़कर अन्तर्जगत् में चला गया। शब्दान्तर में हम यों कह सकते हैं कि विकेन्द्रित हुई कला केन्द्रानुग हो गई अथवा बाह्य विषयों से पराङ्मुख होकर अन्तर्मुख बन गई और उसकी शैली 'वह' 'उसकी' आदि के रूप में अन्यपुरुषात्मक न रहकर 'मैं-मेरी' आदि के रूप में प्रथमपुरुषात्मक बन गई। फिर तो क्या था, वहिर्जगत् के जो भग्न, स्वर्णिल स्वप्न, विफल मधुर आशाएँ अथवा निराशाएँ तथा अन्यविध भावनाएँ मन के

अवचेतन स्तर में उतरकर प्रसुप्त पड़ी थीं, वे जगने लगीं और कवि कल्पना-शक्ति की सहायता से उनको मूर्त्त-रूप देकर चित्रित करने लगा। कुछ ने प्रत्यक्ष जगत् से हटकर उसके पीछे व्याप्त सूक्ष्म, साथ ही विराट् रहस्यमय सत्ता की अनुभूति की ओर उसे काव्य-पट पर उतारा, तो कुछ ने प्रकृति का आँचल पकड़ा। किन्तु विविध भावों के ये सभी शब्द-चित्र कुछ अटपटे, धुँधले और छाया-जैसे बने जैसे कि सिनेमा की फिल्मों में भी कभी-कभी काले-काले अमांसल छाया-चित्र बने हम देखा करते है। उनमें स्थूल पार्थिवता न होकर सूक्ष्म और पतली वायवीयता है। कलाकार के हृदय की भावनाओं का प्रतिबिम्ब लिये होने से वे व्यक्तित्व-प्रधान—ऐकान्तिक—हैं, इसलिए ऐसी कविता स्वभावतः आत्म-निष्ठ (Subjective) ही अभिहित हो सकती है, वस्तु-निष्ठ (Objective) नहीं। कुछ लोग इसे 'विषयि-प्रधान' अथवा 'भाव-प्रधान' कविता भी कहते हैं। इस तरह कविता के एक नये क्षेत्र में पदार्पण करने से उसकी भाषा तथा शैली में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक था और वह खूब आया। चिरकाल से चली आ रही कला-पक्ष की कितनी ही मान्यताएँ टूट पड़ी और उनके स्थान में भाषा एवं शैली का एक नया मान-दंड निर्मित हुआ। कवि को घिसे-घिसाए उपमा, उत्प्रेक्षादि अलंकारों पर मुलम्मा चढ़ाना पड़ा तथा प्रभाव-साम्य के आधार पर कुछ अपना ही नया अप्रस्तुत-विधान भी गढ़ना पड़ा। साथ ही पाश्चात्य भावना के पीछे-पीछे कुछ नये अलंकार भी प्रविष्ट हुए। अभिधा के ऊपर लक्षणा और व्यंजना का प्रभुत्व जमा और उन्होंने एक अनोखी भंगिमा, 'वक्र वैदग्ध्य-भणिति' अपनाई। भाषा भी भावानुसार सुकुमार, ललित तथा बिम्बग्राहिणी हो गई और छन्द स्वच्छन्द एवं लयात्मक बन गए। हिन्दी काव्य-क्षेत्र में युगान्तर लाने वाला यह मोड़ 'छायावाद' नाम से प्रसिद्ध है।

'छायावाद' का प्रवृत्ति-निमित्त

'छायावाद' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से माना है। प्रसिद्ध छायावादी कवि प्रसादजी ने तो सम्भवतः 'अग्निपुराण'[1] में 'यः काव्ये महती छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः' (काव्य में गुण-नामक वह तत्त्व है, जो उसमें खूब अच्छी छाया—कान्ति—भर देता है) के आधार पर 'छाया' शब्द से 'मोती के भीतर की-सी कान्ति अथवा विच्छित्ति'[2] को लिया है। आचार्य शुक्ल के विचारानुसार यूरोप के ईसाई संतों के छायाभास (Phantasmata) तथा यूरोपीय काव्य-क्षेत्र में प्रवर्तित आध्या-

१. ३४६।३

२. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृ० १२३।

त्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर रची जाने वाली कविता 'छायावाद' है।[1] नन्ददुलारे वाजपेयी छाया से 'मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया'[2] ग्रहण करते है। डॉ० नगेन्द्र छायावाद को एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति—जीवन के प्रति एक भावात्मक दृष्टिकोण—मानते हैं, जिसका आधेय नव-जीवन के स्वप्नों और कुण्ठाओं के सम्मिश्रण से बना है, प्रवृत्ति अन्तर्मुखी तथा वायवी है और अभिव्यक्ति है प्रायः प्रकृति के प्रतीकों द्वारा।[3] महादेवी के विचारानुसार "सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव-अनुभूतियों का नाम 'छाया' उपयुक्त ही था।"[4]

छायावाद के सम्बन्ध में उपरोक्त धारणाओं में से प्रसादजी की धारणा हमें अतिव्यापक-सी लगती है, क्योंकि वैसी छाया—विच्छित्ति—तो छायावाद से इतर कविताओं में भी उपलब्ध हो सकती है।

छायावाद अन्योक्ति-पद्धति शुक्लजी की आयात वाली बात के सम्बन्ध में हम पीछे विवेचन कर आए हैं कि छायावाद के बीज किस तरह हमें प्राचीन वैदिक और संस्कृत-साहित्य में मिलते हैं। शेष धारणाओं में हम विशेष अन्तर नहीं देखते। उनमें केवल अभिव्यंजन-प्रणाली का भेद है। छायावाद के इस केन्द्रीय तत्त्व पर सभी एक-मत हैं कि उसमें कोई छाया—प्रतिबिम्ब—रहता है। हमारे विचार से वह प्रतिबिम्ब होता है या तो प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का या अप्रस्तुत पर प्रस्तुत का, जो अन्योक्ति-पद्धति का आधार-स्तम्भ है। इस तरह छायावाद कहीं अप्रस्तुत-प्रशंसा, कहीं रूपकातिशयोक्ति, कहीं समासोक्ति और कहीं लक्षणा एवं व्यंजना के रूप में मिलता है। इसलिए सारे छायावाद को हम अन्योक्ति-पद्धति के अन्तर्गत करेंगे। आचार्य चतुरसेन भी कहते हैं—"काव्य-कला की दृष्टि से यह (छायावाद) अन्योक्ति-पद्धति-मूलक काव्य है। इसमें प्रस्तुत चित्रों की अपेक्षा अप्रस्तुत चित्रों की अभिव्यंजना होती है और 'वाचक' पदों के स्थान में 'लक्षक' पदों का व्यवहार होता है।"[5] डॉ० शम्भूनाथ सिंह का भी ऐसा ही विचार है—"छायावादी कविता में लघु रूपक-

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ६१५ (सं० २०१४)।
२. 'हिन्दी साहित्य; बीसवीं शताब्दी', पृ० १६३।
३. 'विचार और अनुभूति', पृ० ५६।
४. 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य,' पृ० ५६।
५. 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास', पृ० ६३।

गतियों की प्रधानता है, क्योंकि अधिकांश कवियों ने अन्योक्ति या रूपकातिशयोक्ति की शैली में आत्माभिव्यक्ति की है। लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि के अधिक प्रयोग के कारण अधिकांश कविताएँ स्वतः रूपकात्मक हो गई हैं।"[1] डॉ० गोविन्दशरण त्रिगुणायत भी कहते हैं कि "छायावाद स्पष्ट रूप से अन्योक्ति-काव्य है। हाँ, इतना अवश्य है कि छायावादी अन्योक्तियाँ कला, कल्पना और अभिव्यंजना के साँचे में ढली होने के कारण भिन्न दिखाई पड़ती हैं। हमें अन्योक्ति का निरूपण नए ढंग से करना होगा और उसके नए स्वरूपों की खोज करनी होगी।"[2] महादेवीजी ने तो छायावाद को 'रूपक-काव्य' कहा ही है। शुक्ल आदि अन्यान्य समालोचकों की भी यही सम्मति है।

छायावाद में प्रकृति के तीन रूप : अप्रस्तुत प्रकृति

छायावाद का उपर्युक्त विवेचन हमारे आगे प्रकृति के तीन रूप उघाड़ता है :

१. प्रकृति का प्रतीकात्मक अप्रस्तुत रूप
२. प्रकृति का भावाक्षिप्त प्रस्तुत रूप
३. प्रकृति का रहस्यात्मक रूप

प्रकृति छायावाद के सामान्यतः तीनों रूपों में मुख्य उपादान बनी रहती है और उसके प्रति प्रमुख भावना रहती है ऐसे प्रणय की, जो रीतियुगीन शृंगार की तरह ऐन्द्रिय और मांसल न होकर अशरीरी एवं वायवी रहता है और जिसमें विषयोपभोग के स्थान में अधिकतर कुतूहल अथवा विस्मय रहता है। जैसा हम पीछे देख आए हैं, सामाजिक कुण्ठाओं के कारण अतृप्त कायावृत्तियाँ अवचेतन से उठकर कल्पना-परी के परों पर आरूढ़ होकर स्वच्छन्द विहार करके ही तृप्त हो सकती थीं। फलतः कवि को आत्म-प्रकाशन के लिए समाज-नियमों से मुक्त प्रकृति-क्षेत्र का अवलम्बन अपेक्षित हुआ और उसके नाना रूपों तथा व्यापारों द्वारा अप्रस्तुत-विधान रचने की आवश्यकता हुई। अप्रस्तुत प्रकृति के साथ प्रस्तुत मानव का यह एकीकरण अन्योक्ति है और डॉ० सुधीन्द्र के शब्दों में "कोई विषय या भाव ऐसा नहीं जो अन्योक्ति के माध्यम से अधिक प्रभाव के साथ ग्रहण न कराया जा सके।"[3] उदाहरण के रूप में निराला की सर्व-प्रथम छायावादी कविता 'जुही की कली' को लीजिए :

---

१. 'छायावाद युग', पृ० २२८।
२. व्यक्तिगत पत्र में।
३. 'हिन्दी-कविता में युगान्तर', पृ० २६५ (सं० १९५७)।

विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी स्नेह-स्वप्न-मग्न
अमल-कोमल-तनु तरुणी जुही की कली,
दृग बन्द किये, शिथिल पत्रांक में,

× × ×

वासन्ती निशा थी,
विरह-विधुरप्रिया संग छोड़
किसी दूर देश में थी पवन
जिसे कहते है मलयानिल।
आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात!
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात,
फिर क्या? पवन
उपवन-सर-सरित गहन गिरि-कानन
कुञ्ज-लता-पुञ्जों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली खिली साथ!
सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय आगमन वह?
नायक ने चूमे कपोल
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल
इस पर भी जागी नहीं
निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये, कौन कहे?
निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल,
चौंक पड़ी युवती
चकित चितवन निज चारों ओर फेर
हेर प्यारे को सेज पास

नम्रमुखी हँसी खिली,
खेल रंग प्यारे संग। [परिमल]

इसमें कवि ने प्रकृति की आड़ में किसी नायक और नायिका का वियोगानन्तर संभोग-शृङ्गारिक चित्र खींचा है। डॉ० सुधीन्द्र के शब्दों में "दो पत्तों के बीच में लचकीले स्थान (पत्रांक) से पर्यंक को तथा बन्द पंखुड़ियों से आँख की मुद्रित पलकों को, श्वेत वर्ण से गौरता को, मृदुल आन्दोलन से रतिचर्या को, जुही की कली से पर्यंकशायिनी तरुणी नायिका को और मलयानिल से विरही नायक आदि को संकेतित किया गया है। वासन्ती निशा चाँदनी की धुली हुई आँधी रात उद्दीपन है, वंकिम विशाल नेत्र रूप-सौन्दर्य के सूचक हैं और सुन्दर सुकुमार देह तथा गोरे कपोल भी। मलयानिल द्वारा उद्दाम केलि, रति-क्रीड़ा का इंगित है; ये सब शास्त्रीय भाषा में अनुभाव हैं। इस प्रकार संकेत में दो प्रेमियों की प्रेम-क्रीड़ा व्यंजित हुई है।"[1] प्रो० क्षेम के विचारानुसार इस कविता में अप्रस्तुत रूप से कवि ने आप-बीती प्रणय-घटना प्रतिपादित की है। वे लिखते हैं "—रचना-काल कवि का यौवन-काल है और प्रसंग पूर्ण शृङ्गारिक, अतएव यदि कथा कवि की अपनी प्रणय-कथा का रूपक मान ली जाय तो अस्वाभाविक नहीं। यौवन का स्वस्थ एवं निर्ग्रन्थ प्रवाह तथा प्रणय की पौरुष-पूर्ण निश्छल अभिव्यक्ति निराला के व्यक्तित्व के अनुकूल ही है। सूक्ष्म अंकन और नीरस इतिवृत्तात्मकता का परित्याग छायायुगीन है।"[2] 'जुही की कली' वाला हाल प्रसादजी के 'नव वसन्त' का भी है, जो किशोरीलाल गुप्त के शब्दों में "वस्तुतः एक विरहिणी का अत्यन्त भावपूर्ण चित्र है, जिसका वियोग अभी-अभी संयोग में परिणत हुआ है।"[3] पंत की प्रारम्भिक कविताएँ जीवन के भौतिक अंचल को पकड़े प्रतीत होती हैं। उनके अधिकतर नारी-चित्र सुकुमार किशोरावस्था एवं मुग्धावस्था के चित्र हैं। उनकी 'आँसू', 'उच्छ्वास', 'स्मृति', 'ग्रन्थि' रचनाओं में प्रेम की करुण कराहों और टीसों के पीछे निस्सन्देह कुछ प्रस्तुत व्यक्तिगत, मांसल तत्त्व कार्य कर रहा है, जिसने कवि को आत्म-प्रकाशन के लिए प्रकृति के उपकरणों द्वारा अप्रस्तुत चित्र खींचने की उत्तेजना और कल्पना की उड़ान भरने को दी। पंत की कली पर एक कविता का नमूना देखिए :

झर गई कली, झर गई कली!
चल-सरित-पुलिन पर वह विकसी,

१. 'हिन्दी-कविता में युगान्तर', पृ० २२० (सं० १६५७)।
२. 'छायावाद के गौरव-चिह्न', पृ० २८३।
३. 'प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन', पृ० ५२।

उर के सौरभ से सहज बसी,
सरला प्रातः ही तो विहँसी,
रे कूद सलिल में गई चली।
आई लहरी चुम्बन करने,
अधरों पर मधुर अधर धरने,
फेनिल मोती से मुँह भरने
वह चंचल-सुख से गई छली। (गुंजन)

कुछ समीक्षक इस कविता में कली को जीवन का प्रतीक लेते हैं, जो नदी की तरंग की तरह क्षणभंगुर है। सरिता संसार का प्रतीक है, जिसका प्रवाह चलता ही रहता है। किन्तु हमें तो यहाँ प्रस्तुत रूप में यौवन के द्वार पर खड़ी हुई किसी सुन्दरी का अकाल निधन झाँकता हुआ दिखाई देता है। बेचारी सीधी-सादी, स्वाभाविक गुणों से पूर्ण, हृदय में सुमधुर प्रणय-स्वप्नों को सँजोए अभुक्त-यौवना एवं प्रेमवंचिता ही चल बसी और बेचारा कवि दिल मसोसे ताकता ही रह गया। उसके भग्न-प्रणय हृदय का विषाद और नैराश्य-भरा चित्र भी देखिए :

शैवलिनि ! जाओ, मिलो तुम सिंधु से,
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन को
चंद्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो ! गाओ, पवन-वीणा बजा,
पर, हृदय ! सब भाँति तू कंगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
भग्न भावी को डुबा दे आँख-सी ! (ग्रन्थि)

छायावादी कवि नरेन्द्र के सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र ने अपने विचार यों प्रकट किये हैं—"उनके विरह-चित्रों के पीछे जो कोई नारी-पात्र झाँकता हुआ मिलता है, वह शायद उनके काफी पास आकर उनकी वासनाओं को उत्तेजित करके पृथक् हो गया है, जिससे उनके मानसिक स्वास्थ्य पर और भी बुरा प्रभाव पड़ा है। इसीलिए उनके चित्र काम-स्नात होते हुए भी पूर्ण स्वस्थ मन की उद्भूति नहीं है।"[1] इसलिए इन प्रकृति-रूपकों में प्रस्तुत की व्यंजना है।

छायावाद का यह प्रतीक-विधान शृंगार के अतिरिक्त अन्य विषयों में भी प्रयुक्त हुआ मिलता है। 'पंत' की 'विहग' पर लिखी हुई रचनाएँ प्राय:

१. 'विचार और अनुभूति', पृ० ७७।

जीव-परक या मन-परक हैं। उनके 'शुक', 'पिक' और 'विहंगम' कवि के प्रतीक हैं, जैसे :

तेरा कैसा गान,
विहंगम ! तेरा कैसा गान ?
न गुरु से सीखे वेद-पुराण,
न षड्दर्शन न नीति-विज्ञान;
तुझे कुछ भाषा का भी ज्ञान,
काव्य, रस, छन्दों की पहचान ?
न पिक प्रतिभा का कर अभिमान,
मनन कर, मनन, शकुनि नादान ! (पल्लविनी)

पंत के 'स्वर्ण-किरण' संग्रह में 'रजतातप' आत्म-निर्माण का, 'इन्द्र-धनुष' जीवन-निर्माण का, 'अरुण-ज्वाल' नव चेतना का, 'स्वर्ण-निर्झर' सौन्दर्य-चेतना का, 'स्वर्णिल-पराग' मन का, 'उषा' मनः-स्वर्ग का, 'हरीतिमा' प्राण का एवं 'स्वर्णोदय' जीवन-सौन्दर्य का प्रतीक है, यह स्वयं कवि ने ही ग्रन्थ में स्पष्ट कर रखा है। इसी तरह महादेवी वर्मा की 'दीप-शिखा' अपने मन या जीव की प्रतीक है और उसी सिलसिले में तेल स्नेह का, लौ सुधि का, रात विरह का, झंझा विघ्न-बाधाओं का और शलभ संसार का प्रतीक बनकर आए हैं। अप्रस्तुत-विधान वाली ऐसी कितनी ही कविताएँ उद्धृत की जा सकती हैं, जिनका छायावाद में खूब बाहुल्य है। इनमें अप्रस्तुत-प्रशंसा या रूपकातिशयोक्ति काम करती है।

छायावाद के प्रतीक

इसमें सन्देह नहीं कि प्रतीकों का ज्ञान न होने से छायावादी कविताएँ दुरूह रहती हैं। हम कह आए हैं कि इनमें अभिधा द्वारा सीधा-सादा अर्थाभिधान न होकर लक्षणा-व्यंजना द्वारा ही अर्थ लक्षित और व्यंजित होते हैं और यही कारण है कि वे साधारण पाठकों की समझ में नहीं आतीं, किन्तु जो इसकी शैली से परिचित हैं और संकेतों एवं प्रतीकों का पूरा-पूरा ज्ञान रखते हैं, उनको इन कविताओं में बड़ा आनन्द मिलता है। हमने पीछे भक्तियुगीन ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतीक बताए थे, इसलिए पाठकों की सुविधा के लिए कुछ प्रसिद्ध-प्रसिद्ध छायावादी प्रतीक भी बता देना आवश्यक समझते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि ये प्रतीक स्वरूप या गुण-क्रिया के सादृश्य को ही नहीं, बल्कि अधिकतर आन्तरिक प्रभाव-सादृश्य और सहृदयता को भी लेकर चलते हैं, इसीलिए छायावादी कवियों को आन्तरिक प्रभाव-सादृश्य अभिव्यक्त करने के लिए परम्परागत प्रतीकों के स्थान में बहुत-से नये प्रतीक

गढ़ने पड़े। उदाहरण के लिए छायावाद में मुकुल और मधुप क्रमशः प्रियतमा और प्रियतम के प्रतीक बने। हृदय और भाव-तरंग क्रमशः वीणा और झंकार बने। जीवन की प्रतीक बनी सरिता और भाव-प्रवाह का प्रतीक संगीत। स्मृति आदि कोमल मधुर भाव के लिए प्रतीक लहर आती है और मानसिक क्षोभ एवं आकुलता के लिए झंझा और तूफ़ान। नवयौवन, सुख और आनन्द के लिए उषा, प्रभात और मधुकाल तथा दुःख और विषाद के लिए अन्धकार, अँधेरी रात, छाया और पतझड़ प्रयुक्त होते हैं। सुन्दर तथा असुन्दर वस्तुओं के स्थान पर क्रमशः मधुमय गान और धूल की ढेरी; शुष्क एकाकी जीवन के स्थान पर सूखा, सूना तट और माधुर्य एवं श्वेत के स्थान पर क्रमशः मधु और कुन्द आते हैं, इत्यादि। इसके अतिरिक्त कितने ही प्रतीक तो छायावादी कवियों के निजी भी होते हैं, जिन्हें गिनाना कठिन है और जिनके कारण छायावाद में दुरूहता भी आई है। प्रसिद्ध अँग्रेजी प्रतीकवादी कवि इलियट का भी यही हाल है। उसके प्रतीक भी इतने निजी हैं कि कोई विरला ही उन्हें समझे तो समझे। अस्तु, वास्तव में प्रतीकवाद अभिव्यंजना की एक विशिष्ट शैली है। इसीलिए शुक्लजी ने छायावाद को विषय-परक न मानकर शैली-परक माना है। उनके विचारानुसार पन्त, प्रसाद, निराला आदि कवि प्रतीक-पद्धति या चित्र-भाषा-शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाए। किन्तु छायावाद इस कला-वक्रता अथवा प्रतीकवाद तक ही सीमित हो, ऐसी बात नहीं। वह विषय-परक भी है।

प्रस्तुत प्रकृति

अब हम छायावाद के द्वितीय रूप पर आते हैं, जिसमें प्रकृति अप्रस्तुत न होकर प्रस्तुत अर्थात् विषय-परक रहती है। वैसे देखा जाय तो प्राचीन काल से ही काव्य के साथ प्रकृति का अटूट सम्बन्ध रहता चला आ रहा है, किन्तु विद्यापति, सेनापति आदि दो-चार कवियों को छोड़कर अधिकांश कलाकारों ने प्रकृति के उद्दीपन-चित्र ही खींचे हैं, आलम्बन-चित्र नहीं। सच पूछिए तो हिन्दी में प्रकृति को आलम्बन-रूप में स्वतन्त्र सत्ता देने का श्रेय प्रधानतः छायावाद को ही है। कौन नहीं मानता कि छायावादी कवि होता ही प्रकृति-कवि है। उसने अन्तर्मुख होकर मानस-चक्षु से जो प्रकृति-सौन्दर्य निहारा, वह उसके अन्तरतम से शीशमहल पर प्रतिफलित हो यों शतधा विस्फारित हुआ कि उसे एक नई ही सौन्दर्य-सृष्टि रचने की प्रचुर सामग्री उपलब्ध हो गई। फिर क्या था कि कलाकार की तूलिका के रंगों में प्रकृति ऐसी निखरी कि वह एकदम दिव्य सौन्दर्य में विभोर हो उठी। किन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि प्रकृति का यह छायावादी सौन्दर्य अधिकतर उस सिद्धान्त पर आधा-

रित है, जो सौन्दर्य को वस्तुगत गुण न मानकर आत्मगत गुण मानता है।[1] इसीलिए छायावाद के आभ्यन्तरिक सौन्दर्य-चित्र उतने वास्तविक और प्रस्तुत-गत नहीं होते जितने कि काल्पनिक, आक्षिप्त अथवा आरोपित। स्वयं पन्त ने स्वीकार किया है कि उनके चित्रों के सौन्दर्य का मूल स्रोत उर के भीतर है :

चित्रिणि, इस सुख का स्रोत कहाँ,
जो करता नित सौन्दर्य-सृजन ?
वह स्रोत छिपा उर के भीतर,
क्या कहती यही सुमन चेतन ? (युगान्त)

इस तरह सौन्दर्य-सृजन करने के लिए कवि को यौवन का स्वस्थ, निर्बाध, एवं भावनाओं की उद्दाम तरंगों में लहराता हुआ मानस और मानस की जागृत उच्च सौन्दर्य-बोधवृत्ति (Aesthetic sense) अपेक्षित होते हैं। तभी भावातिरेक में उसके अन्तर्चक्षु के आगे बाह्य प्रकृति और उसका पत्ता-पत्ता अथवा कण-कण तथा स्त्री-पुरुष आदि समस्त जीव-जगत् कवि के भीतरी सौन्दर्य में पगा निखर उठता है। उदाहरण के लिए पन्त की 'भावी पत्नी' का सौन्दर्य-चित्र देखिए :

खोल सौरभ का मृदु कच-जाल
सूँघता होगा अनिल समोद,
सीखते होंगे उड़ खग-बाल
तुम्हीं से कलरव, केलि, विनोद;
चूम लघु-पद-चंचलता, प्राण !
फूटते होंगे नव जल-स्रोत,
मुकुल बनती होगी मुसकान
प्रिये, प्राणों की प्राण ! (गुञ्जन)

किन्तु ज्यों ही उर के भीतर का स्रोत बन्द हुआ और संसार से विरक्ति पैदा हुई कि फिर वही सौन्दर्य-स्नात पत्नी कलाकार को एक संस्कृत कवि के शब्दों में यों काटने दौड़ेगी :

---

१. (क) 'The beautiful is not a physical fact, beauty does not belong to things, it belongs to the human aesthetic activity and is a mental or spiritual fact'
—Wildon Carr, Philosophy of Croce, pp. 164.

(ख) समै समै सुन्दर सबै, रूपु कुरूपु न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ।
बिहारी, 'बिहारी-रत्नाकर', दो० ४३२।

चर्म-निर्मित-पेशीयम् [illegible] ।
अस्यां रज्यति यो मूढ़ः पिशाचः कस्ततोऽधिकः ।[1] (अज्ञात)

कहना न होगा कि छायावादियों की दृष्टि में वृक्ष-लतादि, सूर्य-चन्द्र, आकाश-मेघ, उषा-रात्रि, शरत्-वसन्त, और अन्य सारी हीं प्रकृति चेतन रहती है। उसमें उन्हें सभी मानव-व्यवहारों की अनुभूति होती है और इसलिए वे उससे साहचर्य-सम्बन्ध स्थापित करते हैं एवं कभी-कभी अपने को उसके साथ एकाकार भी बनाते हैं। प्रकृति का यह मानवीकरण छायावाद की दूसरी विशेषता है। इसके मूल में दो बातें काम करती हैं—एक तो है, जैसा कि हम कह आए है, कवि की सर्वचेतनवाद (Pantheism) में आस्था रखने वाली दार्शनिक दृष्टि, जो प्राचीन वैदिक ऋषियों की तरह जगत् के कण-कण को चेतन देखती है और दूसरी है कवि की मृदुल एवं भावुक दृष्टि, जिसके कारण वह अपने अन्तर्जगत् को, अपने हृदय के राग और सौन्दर्य, हर्ष-शोक, आशा-निराशा आदि को, प्रकृति पर आरोपित करता हुआ प्रकृति और उसके उपकरणों को ही नहीं, प्रत्युत अपने सुख-दुःख, आशा-निराशा आदि अमूर्त मनोभावों को भी मानवी रूप दे देता है। इसे अध्यास या भावाक्षेप (Projection) कहते हैं। प्रस्तुत प्रकृति पर अप्रस्तुत मानव के व्यवहारों का यह आरोप अथवा आक्षेप काव्य-भाषा में समासोक्ति कहलाता है। इसमें प्रस्तुत प्रकृति के पीछे गौण रूप से कोई चेतन तत्त्व खड़ा रहता है, अतः इसे हमने अन्योक्ति-वर्ग के अन्तर्गत कर रखा है।

प्रकृति के प्रस्तुत या अप्रस्तुत निर्णय में कठिनता

भावाक्षिप्त प्रकृति के चित्र देने के पहले यहाँ हम बता देना आवश्यक समझते हैं कि प्रकृति को प्रस्तुत या अप्रस्तुत रखना बहुत-कुछ कवि की अपेक्षा-बुद्धि या विवक्षा पर निर्भर है, इसलिए छायावाद में प्रस्तुत और अप्रस्तुत की विभाजक रेखा बड़ी सूक्ष्म और बुद्धि-गम्य ही रहती है। पीछे हम निराला की जिस 'जुही की कली' को अप्रस्तुत मानकर उसके माध्यम से प्रस्तुत किसी नायिका की अभिव्यंजना मान आए हैं, हो सकता है कि कवि की विवक्षा उसको प्रस्तुत रखकर उसका

१. **हिन्दी रूपान्तर :**

मांस, रुधिर औ' मल से पूरित,
गन्दी थैली यह चमड़े की है।
जो मूढ़ मनुज इस पर मरता,
वह पिशाच नहीं और क्या है !

भावाक्षेप-पद्धति से मानवीकरण करने की हो। ऐसी अवस्था में जुही वाला प्रकृति-चित्र भावाक्षिप्त प्रकृति के अन्तर्गत होगा और वह प्रस्तुत ही कहलाएगा, अप्रस्तुत नहीं; अप्रस्तुत की तरफ केवल संकेत-भर है। इस तरह छायावाद में प्रकृति के इन दोनों रूपों के मध्य सीमा-निर्धारण सरल काम नहीं है।

भावाक्षिप्त प्रकृति

भावाक्षिप्त प्रकृति-चित्रण के प्रधान कवि पन्त हैं। प्रकृति की गोद में जन्म लेकर उसके साथ आमोद-प्रमोद में रमकर जितनी बारीकी से प्रकृति को इन्होंने पहचाना है और उसके साथ ऐकात्म्य किया है, उतना शायद ही अन्य किसी कवि से बन पड़ा हो। विश्वम्भर मानव के शब्दों में "उन्होंने उसे सबसे अधिक व्यापक रूप में मानवीय क्रिया-कलापों से सम्पन्न किया है। उनके 'पल्लव' विश्व पर विस्मित चितवन डालते हैं, उनका गिरि सुमन-दृगों से अवलोकता है। उनका उपवन फूलों के प्यालों में अपना यौवन भर-भरकर मधुकर को पिलाता है, उनके मेघों के बाल मेमनों-से गिरि पर फुदकते हैं, उनकी लहरें किरणों के हिंडोल पर नाचती हैं, विटपी की व्याकुल प्रेयसी छाया-बाँह खोलकर कवि को गले लगाने की क्षमता रखती है। उनकी दृष्टि में दशमी का शशि अपने तिर्यक् मुख को लहरों के घूँघट से झुक-झुककर, रुक-रुककर मुग्धा का-सा दिखलाता है, उनका मलयानिल उर्वी के उर से तंद्रिल छायांचल सरका देता है।"[1] किन्तु इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत प्रकृति-उपादानों पर यह मानवत्वारोप व्यंग्य रहने की दशा में ही अन्योक्ति-पद्धति के अन्तर्गत होगा। मानवत्वारोप के वाच्य हो जाने पर उसमें व्यंग्य की-सी ध्वन्यात्मकता और प्रेषणीयता नहीं रहती, इसलिए वह शुद्ध रूपक का ही विषय रहेगा, अन्योक्ति का नहीं। उदाहरण के रूप में पंत का रुग्ण बाला के रूप में चाँदनी का चित्र देखिए :

जग के दुख-दैन्य-शयन पर
यह रुग्णा जीवन-बाला
रे कब से जाग रही, वह
आँसू की नीरव माला।

इसमें दुख-दैन्य पर शयनत्व का आरोप तथा चाँदनी पर बालात्व का आरोप वाच्य हैं। प्रसाद की 'ऊषा नागरी', निराला की 'सन्ध्या सुन्दरी' और रामकुमार वर्मा की 'रजनी बाला' आदि का भी यही हाल है। इन सबमें व्यंग्य-रूपक नहीं है, वाच्य-रूपक है। मानवत्वारोप वाच्य किये बिना ही केवल-मात्र मानवीय क्रिया-कलाप से मानवत्व की ध्वन्यात्मक अनुभूति करा देने वाला प्रसाद का यह

१. 'सुमित्रानन्दन पंत', पृ० ९६

उषा आदि का चित्र देखिए :

उषा अरुण प्याला भर लाती
सुरभित छाया के नीचे
मेरा यौवन पीता सुख से
अलसाई आँखें मीचे ।
ले मकरन्द नया चू पड़ती
शरद-प्रात की शेफाली,
बिखराती सुख ही सन्ध्या की
सुन्दर अलकें घुँघराली ! (कामायनी)

वसुधा और कलिका का ऐसा ही चित्रण पन्त ने भी किया है :

नव-वसन्त के सरस स्पर्श से
पुलकित वसुधा बारम्बार
सिहर उठी स्मित-शस्यावलि में
विकसित चिर-यौवन के भार,
फूट पड़ा कलिका के उर से
सहसा सौरभ का उद्गार
गन्ध-मुग्ध हो अन्ध-समीरण
लगा थिरकने विविध प्रकार ! (पल्लव)

महादेवी वर्मा भी इसी तरह प्रकृति का मानवीकरण करती हैं :

निशा को धो देता राकेश
चाँदनी में जब अलकें खोल,
कली से कहता था मधु-मास
बता दो मधु मदिरा का मोल ! (नीहार)

इस तरह कवि के व्यक्तिगत भावों और अनुभूतियों के अनुसार प्रस्तुत अर्थात् आलम्बन-स्वरूप प्रकृति के नाना रूपों में अप्रस्तुत मानवी चित्र भी छायावाद में बहुत अधिक हैं। डॉ० श्री कृष्णलाल के शब्दों में "प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से आधुनिक काव्य की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ इसी शैली के अन्तर्गत आती हैं। यहाँ कवि अपनी कल्पना का आश्रय लेकर चित्रमय और व्यंजनापूर्ण दृश्यों की अवतारणा करता है।"[1] यह सब अन्योक्ति-पद्धति का ही विषय है।

अब हम छायावाद के तृतीय रूप अर्थात् रहस्यात्मक प्रकृति पर विचार करते हैं। यह छायावाद का अन्तिम विकसित रूप है। इसमें कवि प्रकृति के

१. 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास', पृ० ८०।

रहस्यात्मक प्रकृति व्यष्टि-सौन्दर्य से ऊपर उठकर उसके द्वारा समष्टि-रूप में विराट् सौन्दर्य से सम्बन्ध जोड़ने का उपक्रम करता है। प्रकृति-सहचरी के माध्यम से परोक्ष-सत्ता की जिज्ञासा छायावाद के चरम प्रकर्ष की अवस्था है। इसे अब रहस्यवाद नाम से पुकारा जाने लगा है, यद्यपि प्रारम्भ में छायावाद और रहस्यवाद नाम की दो विभिन्न वस्तुएँ कोई नहीं थीं। अब तो आलम्बन-रूप प्रकृति का व्यष्टि-चैतन्य और व्यष्टि-सौन्दर्य छायावाद का सीमान्त बन गया है और वहाँ से आगे उद्दीपन-रूप प्रकृति के माध्यम से विराट् सौन्दर्य की रहस्यात्मक अनुभूति रहस्यवाद की सीमा बनाती है। प्रकृति द्वारा परोक्ष सत्ता की अनुभूति को अब प्रकृति-मूलक रहस्यवाद कहने लगे है। हम इसे छायावाद की अन्तिम विकास-स्थिति मानते हैं। पंत इसके मुख्य प्रतिनिधि हैं। उदाहरण के लिए उनका 'मौन-निमन्त्रण' देखिए :

कनक-छाया में, जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प, बन जाते हैं गुञ्जार,
न जाने ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन ! (पल्लव)

'कामायनी' में प्रसाद ने रहस्यात्मक प्रकृति के बहुत चित्र खींच रखे हैं, जैसे :

विश्व-कमल की मृदुल मधुकरी रजनी ! तू किस कोने से
आती चूम-चूम चल जाती पटी हुई किस टोने से ?
किस दिगन्त की रेखा में इतनी संचित कर सिसकी-सी साँस
यों समीर मिस हाँफ रही-सी चली जा रही किसके पास ?
घूँघट उठा देख मुसक्याती किसे ठिठक-सी आती,
विजन गगन में किसी भूल-सी किसको स्मृति-पथ में लाती ?

महादेवी वर्मा का भी ऐसा ही एक प्रकृति-चित्र देखिए :

प्रथम छूकर किरणों की छाँह
मुस्कराती कलियाँ क्यों प्रात
समीरण का छूकर चल छोर,
लोटते क्यों हँस-हँसकर पात ! (रश्मि)

रहस्यात्मक प्रकृति-चित्रण में कभी-कभी प्रकृति अपने प्रस्तुत रूप में न

रहकर प्रतीक भी बन जाया करती हैं जैसा कि छायावाद के प्रथम रूप में हम पीछे देख आए हैं। परोक्ष सत्ता के अभिव्यंजक होने के कारण ऐसे चित्रों को भी हम रहस्यात्मक प्रकृति के भीतर ही रखेंगे। उदाहरण के लिए निराला की 'प्रपात के प्रति' कविता लीजिए :

अचल के चंचल क्षुद्र प्रपात !
मचलते हुए निकल आते हो,
उज्ज्वल घन बन अन्धकार के साथ
खेलते हो क्यों, क्या पाते हो ?

यहाँ प्रपात (झरने) को मानवीय रूप देकर उसके द्वारा कवि ने प्रच्छन्न रूप से जीव की ओर संकेत किया है। अचल (पहाड़) परोक्ष सत्ता का प्रतीक है, अन्धकार और घन क्रमशः माया और मायोपाधिक जीव को संकेतित करते हैं, अर्थात् ब्रह्म से निकलकर उज्ज्वल जीव मायावृत होकर संसार में किस तरह मचलता और नाना खेल खेलता है। इसी तरह 'पंत' के 'घन' को भी लीजिए :

बरसो सुख बन, सुखमा बन,
बरसो जग-जीवन के घन।
जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन,
बरसो लघु-लघु तृण-तृण पर
हे चिर-अव्यय, चिर-नूतन ! (गुंजन)

इसमें भी मानवीकृत घन के मिस परोक्ष सत्ता अभिप्रेत है। महाम्बुधि के प्रतीक में भी उसका चित्र देखिए :

अहे महाम्बुधि ! लहरों से शत लोक चराचर
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर;
तुंग तरंगों से शत-युग शत-शत कल्पान्तर
उगल महोदर में विलीन करते तुम सत्वर,
शत-सहस्र रवि-शशि असंख्य ग्रह, उपग्रह, उडुगण,
जलते, बुझते हैं स्फुलिंग से तुम में तत्क्षण,
अचिर विश्व में अखिल दिशावधि कर्म, वचन, मन
तुम्हीं चिरन्तन अहे विवर्तन-हीन विवर्तन !

पंत की 'ज्योत्स्ना' भी विश्व-चेतना-परक है। लम्बे रूपक को लेकर चलने वाली यह सारी वर्णना अन्योक्ति-पद्धति है।

प्रकृति के व्यष्टि-सौन्दर्य की पृष्ठभूमि में जब भावुक कवि विराट् सौन्दर्य

की अनुभूति करने लगता है, तो वह विस्मय और आनन्द में आत्म-विभोर हो उठता है और उसमें अपनापन झाँकता हुआ वह अपने 'स्व' को 'तत्' से मिलाना—एकाकार कर देना—चाहता है। यही रहस्यवाद का मूल रहस्य है। काव्य की इस अन्तःप्रवृत्ति को, ज्ञान से हटकर भावगत

रहस्यवाद और उसके प्रतीक

वेदान्त को 'रहस्यवाद' नाम दिये जाने का प्रवृत्ति-निमित्त है असीम, अव्यक्तिक, वाचामगोचर, अरूप सत्ता को रूप देने के लिए उस पर एक व्यक्तित्व का आरोप और उसका वाग्-गोचरीकरण, जो कि एक रहस्य है। निराकार पर व्यक्तित्व-आरोप कवि की अपनी व्यक्तिगत भावना और अनुभूति पर निर्भर करता है। प्रकृति-उपकरणों के आरोप द्वारा परोक्ष सत्ता का प्रतिपादन हम अभी पहले 'प्रपात' आदि में दिखा आए हैं। इसे प्रकृति-मूलक रहस्यवाद कहते हैं। दाम्पत्य-प्रणय के प्रतीकों द्वारा उसकी अभिव्यक्ति की परम्परा भी बड़ी प्राचीन है और विद्यापति, जायसी, कबीर आदि कवियों से होकर आज तक यथा-वत् चली आ रही है, यद्यपि रवीन्द्रनाथ टैगोर, बंगला-साहित्य तथा पाश्चात्य कवियों से प्रभावित होने के कारण इसका आधुनिक रूप पूर्वापेक्षया अधिक परिष्कृत एवं निखरा हुआ है। यह माधुर्य-भाव का रहस्यवाद कहा जाता है। रहस्यवाद में दाम्पत्य-प्रणय के अतिरिक्त अन्य प्रतीक भी होते हैं। प्रतीक-विधान रहस्यवाद का प्राण है, अतएव छायावाद की तरह यह भी अन्योक्ति पद्धति है।

हम पीछे छायावाद के तीन रूप—स्थितियाँ—बता आए हैं। उसी तरह रहस्यवाद की भी तीन भूमिकाएँ हैं। प्रारम्भिक भूमिका अज्ञात के प्रति जिज्ञासा की होती है। अपने चारों ओर प्रसृत विविध सृष्टि-प्रपंच को देखकर कवि को आश्चर्य-सा होता है और उसके मन में प्रश्न उठता है कि इसके मूल में

रहस्यवाद की भूमिकाएँ

कौन सा तत्त्व काम कर रहा होगा। बड़े कुतूहल के साथ वह उसकी खोज करता है। जैसा हम पीछे बता आए हैं—प्राचीन वैदिक ऋषियों के हृदय में भी यह जिज्ञासा पैदा हुई थी। आधुनिक रहस्यवादी पन्त, प्रसाद, महादेवी वर्मा आदि ने इस अवस्था के विविध चित्र खींचे हैं :

> **महानील इस परम व्योम में, अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,**
> **ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण, किसका करते थे संधान ?**
> **छिप जाते और निकलते, आकर्षण में खिंचे हुए,**
> **तृण, वीरुध लह-लहे हो रहे, किसके रस से सिंचे हुए ?**
>
> **(प्रसाद : 'कामायनी')**

शून्य नभ पर उमड़ जब दुख भार-सी
नैश तम में सघन छा जाती घटा,
बिखर जाती जुगनुओं की पाँत भी
जब सुनहले आँसुओं की हार-सी,
तब चमक जो लोचनों को मूंदता
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है ? (महादेवी : 'रश्मि')

वास्तव में रहस्यवाद की जिज्ञासात्मक अवस्था को रहस्यवाद न कहकर रहस्य-वाद की पृष्ठभूमि कहा जाय, तो अधिक संगत रहेगा, क्योंकि रहस्यवाद का असली उपक्रम तो तब होता है जब कि अज्ञात को जान लेने पर उसके अलौकिक सौन्दर्य, उसके प्रति प्रेम, उसके मिलने की आतुरता, मिलन आदि की अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देने के लिए कवि प्रतीक-विधान का आश्रय लेता है। इसीलिए जिज्ञासा को रहस्यवाद का 'अथ' न कहकर छायावाद की 'इति' कहते हुए हमने रहस्यात्मक प्रकृति के अन्तर्गत किया है।

जिज्ञासा के बाद द्वितीय भूमिका में अज्ञात का ज्ञान तथा उसके प्रति लगाव उत्पन्न हो जाता है और कवि का हृदय उससे मिलने के लिए उत्कण्ठित और आतुर बन जाता है। जीवात्मा की परमात्म-विषयक इस अनुभूति को व्यक्त करने के लिए कवि साधारणतः लौकिक दाम्पत्य-भाव का प्रतीक अपनाता है, क्योंकि मानव-जीवन में दाम्पत्य-प्रणय से अधिक मधुर, प्रबल एवं व्यापक प्रभाव वाली वस्तु देखने में नहीं आती। जैसा हम कह आए हैं—माधुर्य-भाव में दाम्पत्य के हमें दोनों रूप मिलते हैं—परोक्ष सत्ता का प्रियतम-रूप अथवा प्रियतमा-रूप। प्रियतम-रूप की प्रथा भारतीय है और कबीर आदि से लेकर प्रसाद, पंत, महादेवी आदि तक आ रही है, किन्तु प्रियतमा-रूप विदेशी है और सूफियों की देन है। प्रसाद की 'प्रथम प्रभात', 'कब', 'प्रत्याशा', 'स्वप्नलोक', 'दर्शन', 'मिलन' आदि रचनाएँ रहस्यवाद की इसी भूमिका के चित्र हैं। उनका 'खोलो द्वार' देखिए :

शिशिर-कणों से लदी हुई, कमली के भीगे हैं सब तार,
चलता है पश्चिम का मारुत लेकर शीतलता का भार,
भीग रहा है रजनी का वह सुन्दर कोमल कबरी भार,
अरुण किरण सम कर से छू लो, खोलो प्रियतम ! खोलो द्वार।

महादेवी विरह की भावना लेकर चलती हैं, और मीरा की तरह हृदय में प्रबल वेदना का भार दबाये हुए अपने 'प्रियतम' के लिए पल-पल घुलती और तड़पती ही रहती हैं :

मोम-सा तन घुल चुका अब दीप-सा मन जल चुका है ।
विरह के रंगीन क्षण ले,
अश्रु के कुछ शेष कण ले,
बरुनियों में उलझ बिखरे स्वप्न के फीके सुमन ले,
खोजने फिर शिथिल पग
निश्वास दूत निकल चुका है । (दीप-शिखा)

रहस्यवाद में तृतीय भूमिका आत्मा और परमात्मा के अभेद-मिलन की आती है, जिसे हम वेदान्त के शब्दों में 'तत्त्वमसि' अथवा कबीर के शब्दों में 'पानी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाय' कह सकते हैं । इस महामिलन में एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है, जिसका केवल संकेत-मात्र किया जा सकता है, वाणी द्वारा उल्लेख नहीं होता । साध्य-साधक के इस एकीकरण का उदाहरण भी देखिए :

हाँ सखि, आओ बाँह खोल हम
लगकर गले जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में,
हो जावें द्रुत अन्तर्धान ! (पन्त : 'पल्लव')

तुम मुझमें प्रिय ! फिर परिचय क्या ?
चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम ।
मधुर राग तू मैं स्वर संगम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम,
काया छाया में रहस्यमय,
प्रेयसि-प्रियतम का अभिनय क्या !
तुम मुझ में प्रिय ! फिर परिचय क्या !
तारक में छबि, प्राणों में स्मृति,
पलकों में नीरव पद की गति,
लघु उर में पुलकों की संसृति
भर लाई हूँ तेरी चंचल,
और करूँ जग में संचय क्या ! (महादेवी : 'नीरजा')

महादेवी की तरह अम्भृण ऋषि की पुत्री वैदिक ऋषि का वाक् को भी विश्वात्मा के साथ अभिन्नता की ऐसी ही अनुभूति हुई थी :

अहमेव वात इव प्र वाम्या
रभमाणा भुवनानि विश्वा !
परो दिवा एना पृथिव्यै,
तावती महिना सं बभूव ।।[1] (ऋ० ८।७।११।५)

आधुनिक रहस्यवाद में प्रियतम के स्थान में 'प्रियतमा' भी प्रतीक बनकर आई हुई है, परन्तु अपेक्षाकृत कम। प्रसाद की 'प्रियतमा', 'अनुनय' 'मिलन' 'आँसू' आदि में हमें प्रियतमा दिखलाई पड़ती है। पद्मिनी में जायसी की तरह पन्त को भी नारी में कभी-कभी वह 'विराट् सौन्दर्य' दीखता है :

प्रति युग में आती हो रंगिणी !
रच-रच रूप नवीन
तुम सुर-नर-मुनि-ईप्सित अप्सरि,
त्रिभुवन में लीन !
अंग-अंग अभिनव शोभा
नव वसंत सुकुमार
भृकुटि-भंग नव-नव इच्छा के
भृंगों का गुञ्जार।
शत-शत मधु आकांक्षाओं से
स्पंदित पृथु उर-भार
नव-आशा के मृदु मुकुलों से
चुम्बित लघु-पद-चार। (अप्सरा)

महादेवी वर्मा ने भी कभी-कभी नारी का प्रतीक अपनाया है :

रूपसि ! तेरा घन केशपाश !
नभ-गंगा की रजत धार में धो आई क्या इन्हें रात ?
कम्पित हैं तेरे सजल अंग सिहरा-सा तन है सद्यस्नात
भीगी अलकों की छोरों से
चूती बूँदें कर विविध लास !

दाम्पत्य-प्रणय के अतिरिक्त पंत ने अपनी कुछ कविताओं में 'माँ' का

१. हिन्दी-रूपान्तर :
मैं ही सृजन निखिल भुवनों का करती,
मैं ही तो आँधी बनकर भी बहती,
मेरी महिमा का कोई छोर नहीं,
मैं द्यू-भू का भी हूँ लंघन करती।

प्रतीक भी अपनाया है। विश्वम्भर मानव के शब्दों में "यह माँ बड़ी माँ है। विराट् विश्व की जननी है। भावों का निवेदन करने

रहस्यवाद के अन्य प्रतीक

वाली बालिका (जीवात्मा) बहुत छोटी है, पर बालिका के लिए माँ माँ ही है—वात्सल्यमयी।"[1] उदाहरण के लिए इनकी 'वीणा' देखिए, जिसमें आधी से अधिक कविताएँ माँ को संबोधित है :

> जब मैं थी अज्ञात प्रभात
> मा! तब मैं तेरी इच्छा थी
> तेरे मानस की जलजात!
> तब तो यह भारी अन्तर
> एक मेल में मिला हुआ था
> एक ज्योति बनकर सुन्दर,
> तू उमंग थी, मैं उत्पात।

जननी-रूप में निराला का चित्र भी देखिए :

> प्रात तव द्वार पर
> आया जननि! नैश अन्ध पथ पार कर!
> लगे जो उपल पद उत्पल हुए ज्ञात,
> कंटक चुभे जागरण बने अवदात,
> स्मृति में रहा पार करता हुआ रात,
> अवसन्न भी मैं प्रसन्न हूँ प्राप्त वर!

'नैश अन्ध पथ' अज्ञान तथा उपल एवं कंटक साधना-मार्ग में आई विघ्न-बाधाओं के प्रतीक हैं। इसी तरह निराला ने अचल, हीरे की खान आदि प्रतीकों से भी परोक्ष सत्ता के चित्र खींचे हैं।

सूफ़ीवाद के आधार पर दाम्पत्य-प्रणय को लेकर रहस्यवाद की एक शाखा 'हालावाद' नाम से चली। सूफ़ीमत में 'हाला' ब्रह्मानन्द-प्राप्ति की तन्मयता-अवस्था कहलाती है, जिसके प्रतीक मदिरा,

हालावाद

प्याला, साक़ी आदि हैं। हिन्दी में इस शाखा के प्रवर्त्तक और मुख्य प्रतिनिधि बच्चन हैं, जिनकी इस सम्बन्ध में 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधु-कलश' ये तीन रचनाएँ निकली हैं। भगवतीचरण वर्मा आदि बच्चन के ही अनुगामी हैं। वास्तव में हालावादियों की मधुचर्या बाह्य जगत् की अपनी विफलताओं और नैराश्यों की प्रतिक्रिया-भर थी। वह कबीर, प्रसाद आदि रहस्यवादियों के आध्यात्मिक प्रेम के विपरीत

१. 'सुमित्रानन्दन पंत', पृ० १२४।

लौकिक स्थूल प्रणय के भोगवाद में परिणत हो गई। इस तरह मूल रूप में प्रतीकात्मक होता हुआ भी मधुशाला और मधुबाला वाला हालावाद व्यवहारतः उमर खय्याम की रूबाइयों और रीतियुगीन काव्य की तरह ऐन्द्रिय एवं मांसल प्रणय की अभिव्यक्ति बन गया। अतएव प्रतीक के साधन के स्थान में साध्य बन जाने पर हालावाद में अन्योक्ति-पद्धति का प्रश्न ही नहीं उठता। महात्मा गांधी के मद्य-निषेध-आन्दोलन, भारतीय संस्कृति एवं प्रगति के विरुद्ध पड़ जाने पर उसका यह दुत्कार स्वाभाविक ही था :

मधुबाले, मधु का गीत न गा अब, मधु से मुझको प्यार नहीं
तेरे इन मरकत-प्यालों में, अब वह मादक उद्गार नहीं,
मेरे एक बिन्दु से सौ-सौ सागर खारी बन जाते हैं,
जो उनमें तूफ़ान जगा दे, वह तेरे मधु में ज्वार नहीं। (नीरव)

काव्यों में अन्योक्ति-पद्धति : कामायनी

छायावादी युग के महाकाव्यों में जयशंकर प्रसाद द्वारा प्रणीत 'कामायनी' का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। अन्योक्ति-पद्धति में लिखा हुआ यह शान्तरस-प्रधान रूपक-काव्य चिर-प्रपीड़ित मानवता को स्थायी कल्याण तथा शाश्वत शान्ति का आध्यात्मिक सन्देश देता हुआ विश्व-साहित्य के लिए एक अमर देन है। प्रागैतिहासिक काल की पृष्ठभूमि पर आधारित इस ग्रन्थ में एक ओर तो आदिम पुरुष मनु तथा आदिम नारी श्रद्धा का इतिहास है, और दूसरी ओर "यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्‌भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति कर देते हैं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।"[1] यही इसमें अन्योक्ति-तत्त्व है।

'कामायनी' का कथानक

जल-प्रलय में मनु-नामक देवता एक मत्स्य की सहायता से किसी तरह बचकर नौका के सहारे हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर जा लगे। चारो तरफ कहीं 'तरल' और कही 'सघन' जल ही जल दृष्टिगोचर होता था। देव-सृष्टि के विनाश से मनु को बड़ी चिन्ता हो रही थी। धीरे-धीरे प्रलय-प्रवाह उतरने लगा और पृथ्वी निकल पड़ी। पूर्व से सूर्य उदय हुआ, तो मनु का अवसाद आशा में बदला और उनके सामने 'वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का, आज लगा हँसने

१. प्रसाद-'कामायनी', आमुख, पृ० ९-१० (सं० २०१५)।

फिर से'[१]। आशा के इस वायुमण्डल में उन्हें एक गुहा में अपना काम्य यज्ञ-कर्म आरम्भ करने की सूझी और अपने एकाकी जीवन में एक दिन सहसा वे क्या देखते हैं कि एक 'नित्य यौवन-छवि से दीप्त' सुन्दरी खड़ी है, जिसका नाम श्रद्धा था और जिसे 'काम-गोत्रजा' होने के कारण कामायनी भी कहा करते थे। उसे देखते ही मनु में जीवन के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो गया। आगन्तुका ने भी मनु को धैर्य बँधाया और अपने को एक सहचरी के रूप में सौंपते हुए कहा :

बनो संसृति के मूल रहस्य
तुम्हीं से फैलेगी वह बेल,
विश्व भर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुन्दर खेल।[२]

श्रद्धा को प्राप्त करके मनु को बड़ा आश्वासन और शान्ति मिली तथा वे आनन्द से फूले न समाये। अब उनके हृदय में पुराने यज्ञ-संस्कार और प्रबल हो उठे और अपनी तरह ही प्रलय से बचे हुए किलात और आकुलि नाम के दो असुर-पुरोहितों की सहायता से उत्साह के साथ यज्ञ करने लगे, किन्तु मनु की अपने ही सुख की वासना और पशु-बलि से श्रद्धा असन्तुष्ट थी तथा उनसे खिंची हुई-सी रहने लगी थी। एक दिन यज्ञ में सोमरस पीकर मनु किसी तरह श्रद्धा को भी एक 'चषक' पिला बैठे। यौवन अँगड़ाई ले ही रहा था। काम भी कभी का प्रणय-सन्देश कानों में घोल चुका था। सहसा लज्जा का बाँध टूट पड़ा और श्रद्धा को मनु के प्रणय के आगे आत्म-समर्पण ही सूझा। कुछ समय बाद जब श्रद्धा के पैर भारी पड़ते हुए दीखे, तो मनु को ईर्ष्या होने लगी कि श्रद्धा के प्रेम का एक-मात्र अधिकार अब मुझसे दूसरे को चला जायगा। फलतः श्रद्धा को उसी अवस्था में अकेली छोड़कर अपनी सुख-वासना को लिये वे वहाँ से चल पड़े और घूमते-फिरते सारस्वत देश पहुँच गए।

सारस्वत देश भूचाल से नष्ट-ध्वस्त हुआ पड़ा था। उसे देखते ही मनु के मानस में ईश्वर की संसार-लीला तथा जीवन के सम्बन्ध में विचारों की लड़ी-सी बँध गई। बीच-बीच में कामायनी एवं अतीत की मधुर स्मृति रह-रहकर उन्हें साल देती थी। इसी समय एक सुन्दर बाला मनु के पास आई। वह सारस्वत देश की महारानी इड़ा थी। मनु का स्वागत करते हुए सुन्दरी ने मनु को ईश्वर का विचार त्यागकर 'बुद्धिवाद' अपनाने का उपदेश दिया और फिर दोनों ध्वस्त सारस्वत साम्राज्य के पुनर्निर्माण में लग गए।

१. वही, पृ० २३।
२. वही, पृ० ५७।

उधर श्रद्धा का जीवन मनु के बिना सूना पड़ा हुआ था। उसने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि उसके प्रेम का ऐसा भीषण परिणाम होगा। बेचारी एक रात अपने शिशु को छाती से लगाए सो रही थी कि उसने स्वप्न में देखा कि सारस्वत देश मनु के प्रयत्नों से फिर से हरा-भरा और समृद्ध हो उठा है; वहाँ वैज्ञानिक और औद्योगिक सभी प्रकार की भौतिक उन्नति अपने चरम प्रकर्ष पर है; मनु वहाँ के प्रजापति बने हुए हैं। स्वप्न में ही श्रद्धा वहाँ से चल पड़ती है और मनु को इड़ा के पास बैठे हुए पाती है। मनु हाथ में 'चषक' लिये हुए बैठे हैं और इड़ा 'ढालती थी वह आसव जिसकी बुझती प्यास नहीं'। मनु इड़ा को अब अपनी महारानी बनाना चाहते हैं, पर वह नहीं मानती। अन्त में आवेश में आकर मनु ने बलात् उसका आलिंगन किया ही था कि अपने को छुड़ाकर 'इड़ा क्रोध-लज्जा से भरकर बाहर निकल चली।' प्रजा मनु के इस अपकृत्य से क्षुब्ध हो उठी। रुद्र-नयन खुल गया और सारी धरा काँपने लगी। किलात और आकुलि के नेतृत्व में क्रुद्ध जनता ने तत्काल राजद्वार घेर लिया। स्वप्न का यह दृश्य देखकर श्रद्धा का हृदय दहल उठा और तत्काल उसकी नींद टूट गई। मनु के इस विश्वासघात पर श्रद्धा सिहर उठी। वास्तव में उसने जो स्वप्न देखा था, वह स्वप्न नहीं, तथ्य ही था। मनु महाराज सचमुच अपनी विद्रोही प्रजा से घिरे हुए थे। उन्होंने इड़ा और प्रजा को बहुत समझाया कि मैं तुम्हारा सम्राट् हूँ और अपने बनाये हुए नियमों से बाहर हूँ, किन्तु सब व्यर्थ। प्रजा अपने अतिचारी शासक को उसकी उच्छृङ्खलता का दंड देने पर उतारू थी। फलतः परस्पर संघर्ष छिड़ गया। प्रारम्भ में मनु ने अपनी वीरता के कौशल से खूब जन-संहार किया, किन्तु अन्त में 'सब शस्त्रों की धारें भीषण वेग भर उठीं' और मनु पर गिरीं जिससे वे 'मुमूर्षु' हो धराशायी हो गए और भू पर रुधिर की नदी बह चली।

युद्ध की समाप्ति पर सारा सारस्वत नगर विषाद एवं करुणा में डूब गया। इड़ा रात को यज्ञ-मण्डप के सोपान पर बैठी सोच रही थी कि मनु ने यह क्या किया है कि मेरी प्रजा भी मारी और स्वयं भी आहत हुआ। सहसा शिशु को साथ लिये हुए एक दुखिया स्त्री की करुण क्रन्दन-ध्वनि ने उसकी विचार-शृंखला तोड़ दी। देखा तो वह स्त्री कामायनी थी और शिशु था उसका पुत्र मानव, जो दोनों मनु की खोज में निकले हुए थे। यज्ञ की धधकती ज्वाला के आलोक में श्रद्धा ने मूर्छित पड़े हुए मनु को झट पहचान लिया। एक शोक-भरी गहरी चीख के साथ वह तत्क्षण प्रियतम को सहलाने लगी। मनु ने भी आँखें खोल दीं और श्रद्धा को पाकर प्रसन्न हुए; साथ ही क्षमा भी माँगी।

इड़ा से अब उन्हें बड़ी घृणा हो गई थी; वह उनके लिए एक मृग-मरीचिका ही सिद्ध हुई। मनु कुछ स्वस्थ हुए तो एक रात आत्म-ग्लानि के कारण निर्विण्ण हो कहीं जंगल की गुहा में चल दिए। प्रातः मनु को न देखकर कामायनी को फिर बड़ा दुःख हुआ। वह अपने कुमार को समझा रही थी कि इतने में इड़ा आ पहुँची और तर्क दे-देकर उससे मनु की शिकायत करने लगी। मनु के अपराध के लिए क्षमा माँगते हुए कामायनी ने उत्तर दिया, "बहन, तुम निरा तर्क ही करना सीखी हो। तुम 'सिर चढी रही, पाया न हृदय' इसलिए संघर्ष ही करना जानती हो, त्याग नहीं।" फिर वह अपने पुत्र को सम्बोधित करके बोली "मानव, तुम इनके साथ रहो और तुम दोनों राष्ट्र-नीति देखो। यह तर्कमयी है, और तू श्रद्धामय है। तुम दोनों मिलकर 'समरसता' के प्रचार द्वारा देश में सुख-शान्ति का राज्य स्थापित कर सकोगे।" यह कहकर श्रद्धा ने मानव का हाथ इड़ा के हाथ में पकड़ाया और स्वयं मनु की खोज में चल पड़ी।

घूमते-फिरते कामायनी ने मनु को वन-गुहा में पा ही लिया। साथ में मानव को न देखकर मनु पहले तो इसमें इड़ा के षड्यन्त्र की शंका करने लगे, किन्तु जब श्रद्धा ने समझाया कि शंका करने की कोई बात नहीं है, मैंने स्वयं मानव को उसे दे दिया है, 'देकर कोई रंक नहीं बनता, अब हम स्वतन्त्र हो गए हैं,' तो प्रियतमा की उदारता ने तत्काल मनु के मानस-चक्षु खोल दिए। आस-पास खड़ी की हुई संकीर्णता की दीवारें टूटने लगीं और वे अपने को विशाल परिधि के भीतर अनुभव करने लगे। साँझ होने पर जब 'ज्योत्स्ना-सरिता तम-जलनिधि' का आलिंगन करने लगी, तो मनु को आलोक में शिव का शरीर तथा तम में उनका जटा-जाल भासित हुआ। फिर तो क्या था, नटराज आनन्दपूर्ण तांडव-नृत्य निरत दिखाई देने लगे। उनके शरीर से जो उज्ज्वल श्रम-सीकर झरते थे, वही 'तारा, हिमकर और दिनकर' बन गए। पद-प्रहार से उड़े हुए धूलि-कण भूधरों एवं असंख्य ब्रह्मांडगोलकों के रूप में बिखर गए तथा कटाक्ष विद्युत् और अट्टहास हिम बन गया। मनु इस अलौकिक दृश्य को देखकर गद्गद् हो गए और श्रद्धा से बोले, 'प्रिये, मुझे उन चरणों तक ले चल।' श्रद्धा मनु को लेकर हिमालय की ओर चल पड़ी। मार्ग में विकट खाइयों एवं चोटियों को पार करते तथा शीत पवन के थपेड़ों को सहते-सहते मनु जब थक-से गए, तो श्रद्धा से लौट चलने का अनुरोध करने लगे, किन्तु श्रद्धा के विचार में अब लौटने का समय नहीं था। उसकी धैर्य और साहस बटोरकर चलते रहने की सलाह से दोनों चलते ही गए और अन्त में एक समतल भूमि पर पहुँचे। इतने ही में संध्या घिर आई। मनु को ऊपर उस 'निराधार महा-

देश' में विविध वर्णों के तीन लोक दिखाई देने लगे। उन्होंने श्रद्धा से पूछा 'प्रिये, ये कौन से लोक हैं ?' वह बोली, 'नाथ, इनमें से यह जो अरुण वर्ण का है, वह इच्छा-लोक है, श्याम-वर्ण वाला कर्मलोक है, और जो रजत-जैसा उज्ज्वल दीख रहा है, वह ज्ञान-लोक है। इन्हें त्रिपुर भी कहते हैं। फिर श्रद्धा ने प्रत्येक पुर का पृथक्-पृथक् रहस्य मनु को समझाया और वह मुस्करा दी। उसकी मुस्कान 'एक महाज्योति-रेखा-सी' बनकर तीनों लोकों में फैल गई और वे लोक तत्काल मिलकर एक हो गए। थोड़ी देर बाद एक 'दिव्य अनाहत निनाद' सुनाई देने लगा और मनु एवं श्रद्धा दोनों उसमें तन्मय हो गए।

कुछ समय पश्चात् एक यात्री-दल उस गिरिपथ से आता हुआ दिखाई पड़ा। उसमें इड़ा और मानव भी सम्मिलित थे, जिनके साथ सोमलता से आवृत एक वृष भी था। रास्ते में वृष को उन्मुक्त करके वे चलते-चलते अन्त में मानसरोवर की उसी समतल भूमि पर पहुँचे, जहाँ मनु ध्यान-निरत बैठे हुए थे और पास ही श्रद्धा खड़ी हुई फूलों की अंजलि भरकर बिखेर रही थी। यात्रियों ने उन दोनों को पहचान लिया और तत्काल उस 'द्युतिमय द्वन्द्व' के आगे नत-मस्तक हो गए। मानव एकदम माता की गोद में जा बैठा। इड़ा ने श्रद्धा के चरणों पर शिर रख दिया और बोली, 'भगवति, मैं भूल में थी। मुझे क्षमा कर दो !' श्रद्धा चुप रही, किन्तु मनु कुछ मुस्कराए और कैलाश की ओर संकेत करते हुए बोले, 'देखो, यहाँ पराया कोई भी नहीं है। हम सब चेतन-समुद्र में लहरों-जैसे बिखरे पड़े हैं। यह सारा चराचर विश्व एक ही चिति का विराट् वपु है। यहाँ पाप-ताप कुछ भी नहीं है। सबकी सेवा अपनी सेवा है। इसी में आनन्द है।' उसी समय श्रद्धा के अधरों पर एक मुस्कान आई और उसके साथ सारी सृष्टि भी मुस्करा गई। चारों ओर मधुर पवन बहने लगा, पुष्प विकसित हो गए और लताएँ नाचने लगीं; जीवन का मधुर संगीत छिड़ गया और सभी ने 'समरस' एवं एकमय होकर अखण्ड अलौकिक आनन्द की अनुभूति की।

हम पीछे कह आये हैं कि 'कामायनी' मे प्रस्तुत कथा मनु की है। प्रसाद जी के ही शब्दों में "मन्वन्तर अर्थात् मानवता के नवयुग के प्रवर्त्तक के रूप में मनु की कथा आर्यों की अनुश्रुति में दृढ़ता से मानी गई है। इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है।"[1] किन्तु काव्य की शब्द-योजना एवं अर्थ-विन्यास-क्रम ऐसा है कि उसके पीछे, जैसा कि हम पीछे कह आए हैं, अप्रस्तुत रूप में मनु—मननशील जीव—का प्रतीयमान

'कामायनी' में प्रतीक-समन्वय

१. 'कामायनी', आमुख, पृ० ५ (सं० २०१५)।

मनोवैज्ञानिक अर्थ भी प्रतिपादित हो जाता है, अर्थात् मानव-जीवन के क्रमिक विकास की यथाशक्य पूरी-पूरी अभिव्यक्ति हो जाती है। यह आरोपित अर्थ प्रसादजी को भी विवक्षित है। वास्तव में मनु की कथा पर यह आध्यात्मिक आरोप ग्रन्थकार की स्वोपज्ञ कला नहीं है, प्रत्युत इसके बीज मूल वैदिक कथा में ही निहित हैं। भारतीय उपनिषदों के अनुसार पिडांड—व्यष्टि-जीव—के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय—ये पाँच कोश—स्तर—माने गए हैं। इन्हें पर्व भी कहते हैं। इसी कारण पिडांड[1] पर्वत नाम से अभिहित किया जाता है। इस पर्वत का उच्चतम पर्व आनन्दमय कोश है, जहाँ अद्वैतमय परा आनन्द-सत्ता विराजती है। वही जीव का चरम गन्तव्य स्थान—जीवन का परम पुरुषार्थ—है। इसे प्रतीक भाषा में कैलाश कहा जाता है, जिस पर शिव-पार्वती 'अर्धनारीश्वर'-रूप में अभिन्न होकर नित्य निवास किया करते हैं। जायसी ने भी अपने 'पद्मावत' में इस कैलाश का उल्लेख किया है। मनु श्रद्धा के साथ कैलाश में पहुँचकर सदा के लिए चिदानन्द-लीन हो जाते हैं। मनु मननशील—मनोमय कोश से लेकर अन्नमय कोश तक मन-रूप में स्थित—जीव या मन के प्रतीक हैं। देव इन्द्रियों के प्रतीक हैं। मन भी एक इन्द्रिय है। अतः मनु भी एक देव है। अहंभावापन्न होने से मन में स्वेच्छाचारिता आ जाती है और वह तथा अन्यदेव (इन्द्रियाँ) अन्नमय कोश—जीवन के भौतिक धरातल—पर उतरकर भोग-विलास में प्रवृत्त हो जाते हैं। उनमें विषय-लोलुपता की एक बाढ़ आ जाती है, जिसका प्रतीक जल-प्लावन है। सारी देव-सृष्टि उसमें डूब जाती है, अर्थात् अबाध भोगवाद में रत मन और इन्द्रियाँ जीव को विनाश-गर्त में धकेल देती हैं। एक महा मत्स्य की सहायता से मनु (जीव) इस महा-विनाश से बच जाते हैं। महा मत्स्य मत्स्यावतारधारी विष्णु भगवान् का प्रतीक है। इसी तरह ईश्वर की कृपा द्वारा ध्वंस से बचे हुए मनु को बड़ा अवसाद होता है। वे हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ 'भीगे नयनों से' प्रलय-प्रवाह को देख रहे हैं। गिरि का उत्तुंग शिखर अन्नमय और प्राणमय कोशों से ऊपर के मनोमय कोश का प्रतीक है। सीधे शब्दों में, ईश्वर की कृपा से जीव निम्न-स्तरीय प्रवृत्तियों से प्रबुद्ध होकर आत्म-चिन्तन की तरफ लग जाता है। 'कामायनी' का आरम्भिक सारा चिन्ता-सर्ग परतत्व-विषयक चिन्तन का प्रतीक है। चिन्तन सदा एकान्त एवं तप-सापेक्ष हुआ करता है, अतएव मनु को तपस्वी-सा चित्रित कर रखा है। उनके सामने चारों ओर व्याप्त जो 'सघन और तरल जल' दीख

१. 'पर्ववान् पर्वतः, पर्व पुनः पृणातेः', (पृणन्ति=पूरयन्ति हि तानि) निरुक्त १।६।२०।

रहा है, वह जड़-चेतन रूप विराट् सत्ता का प्रतीक है। चिन्तन-रत मनु का श्रद्धा से सम्पर्क हुआ तो जीवन के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। श्रद्धा मन के हृदय-पक्ष—विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति—की प्रतीक है, जो :

नित्य यौवन-छवि से ही दीप्त
विश्व की करुण कामना-मूर्ति
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।

श्रद्धा का कार्य है जीव को आत्मोन्मुखी बनाकर आनन्द-लोक में पहुँचाना, अतएव श्रद्धा की सहायता से मनु (जीव) गर्त्त में गिरा देने वाले अहंकार के नियमन एवं परिष्कार में लग जाते हैं, किन्तु फिर भी बीच-बीच में देव-संस्कार जागते रहने से अहंकार उठ ही जाता है। फलतः आकुलि-किलात मनु को पशुहिंसा की ओर प्रवृत्त कर देते हैं। आकुलि-किलात जीवन की आसुरी प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। श्रद्धा पशु-वध का विरोध करती है। वह मनु को तप नहीं, केवल जीवन-सत्य की ओर प्रवृत्त करना चाहती है, अर्थात् मन का हृदय-पक्ष हिंसक एवं अहंभावात्मक वृत्ति का नियमन करता है, किन्तु सांसारिक भोगों के आगे यह नियमन अधिक देर तक नहीं टिक पाता। शीघ्र की अह भावना अधिक बल पकड़ लेती है और मनु को दृढ़ता के साथ अपने 'अहं' का प्रख्यापन करना पड़ता है :

यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिए मुझे मेरा ममत्व,
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्त्व।

फिर तो मनु को श्रद्धा छोड़ ही देनी पड़ती है और वे सारस्वत देश चले जाते हैं, जो उन्हें नष्ट-ध्वस्त दशा में मिलता है। सारस्वत देश मनोमय कोश के नीचे प्राणमय कोश का प्रतीक है, जिसमें अहंभावापन्न मन के सुख-दुःखों, जय-पराजयों तथा आशा-निराशाओं के भवन बनते और ढहते रहते हैं। यहीं देवासुर-संग्राम हुआ था अर्थात् मन की सत्-असत् वृत्तियों का संघर्ष छिड़ा था। सारस्वत देश की रानी इड़ा, जिससे मनु का साक्षात्कार होता है, मन के मस्तिष्क-पक्ष—मूर्धातत्त्व—की प्रतीक है। वैसे भी हमारे यहाँ सरस्वती को बुद्धि की अधिष्ठात्री मानते ही हैं। लौकिक संस्कृत में इड़ा बुद्धि के पर्याय-शब्दों में गिनी गई है। इड़ा की 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल', 'त्रिगुण-तिरंगमयी त्रिबली' एवं 'वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान'[1] बुद्धि-तत्त्व के प्रसार के प्रतीक हैं।

१. बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्। गीता २।४१।

बुद्धि-वृत्ति श्रद्धा-वृत्ति के ठीक विपरीत चलती है। इसका मार्ग अनात्मवादी होता है और वह सदा संघर्षों, विप्लवों तथा विनाशों के बीच से होकर जाता है। इड़ा (बुद्धि) का अवलम्ब पाकर विविध सुख-वासनाएँ सँजोए श्रद्धा-त्यागी मनु (मन) कर्म-क्षेत्र में उतरकर आसुरी शक्तियों की सहायता से जीवन के भोगवाद में व्यापृत हो जाते हैं। अहंभाव कामना-पूर्ति के लिए विशाल भौतिक निर्माण करता है। ऐन्द्रिक भूख इतनी प्रबल हो जाती है कि मनु इड़ा पर भी बलात्कार करने लगते हैं, अर्थात् मन बुद्धि की सहायता से अपनी विशाल भोग-सामग्री जुटाकर बाद को बुद्धि पर भी अपना आधिपत्य जमाना और उसे अपनी चेरी बनाना चाहता है। किन्तु बुद्धि पर आज तक क्या किसी का आधिपत्य हुआ? बुद्धि तो मन से भी प्रबल तथा परे की वस्तु है।[1] फलतः मनु को बुरी तरह मुँह की खानी पड़ती है। वे मरते-मरते बचते हैं और वह भी तब जब कि सहसा आई हुई श्रद्धा अपने कोमल करों से सहलाने एवं सेवा-शुश्रूषा करने लगती है अर्थात् घातक जड़ बुद्धिवाद से आहत जीव के लिए श्रद्धा-वृत्ति ही मरहम है। किलात-आकुलि का श्रद्धा के विरोध करने पर भी मनु को पहले यज्ञ-कर्म की प्रेरणा देना तथा स्वयं पुरोहित के रूप में सहायक बनना, किन्तु बाद में विद्रोही प्रजा का नेता बनकर मनु को मारने पर उतारू होना—कामायनी का यह कथा-प्रसंग इस दार्शनिक रहस्य की ओर संकेत करता है कि आसुरी शक्ति प्रारम्भ में तो मन में उत्साह भरती है और उसके कर्मों में पूरा-पूरा सहयोग देती है, लेकिन अन्त में उसे मौत के घाट भी उतार देती है। हम देख ही रहे हैं कि आसुरी शक्तियों ने पहले मानव-जगत् को वैज्ञानिक कर्म-प्रेरणा देकर बाद को अब किस तरह वर्तमान अणु-युग के सभी श्रद्धा-शून्य बुद्धिजीवी मनुओं को 'मुमूर्षु'—मृत्यु के कगार पर स्थित—कर रखा है। इसीलिए बुद्धिवाद से घृणा होना स्वाभाविक ही है। मन में फिर श्रद्धा-भावना आ विराजती है। श्रद्धा की सहायता से मन आनन्द की खोज में कैलाश—आनन्दमय कोश—की ओर ऊपर को उठता है। मार्ग में आने वाली खड्ड और खाइयाँ साधना-मार्ग की कठिनाइयों के प्रतीक हैं, जिनका कबीर, जायसी आदि ने भी वर्णन किया है। यात्रा के अन्त में मनु को निराधार महादेश में जो नाना वर्णों के तीन लोक दिखाई देते हैं, वे इच्छा, कर्म और ज्ञान के प्रतीक हैं। पृथक्-पृथक् रहकर संसार में वैषम्य उत्पन्न किये हुए इन तीनों वृत्तियों ने जीवन को विडम्बनामय बना रखा है :

---

१. मनसस्तु परा बुद्धिः। वही, ३।४२।

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की ।

तीनों मे पूरा-पूरा समन्वय होने पर ही जगत् के व्यष्टि या समष्टि जीवन को वास्तविक सुख और स्थायी शान्ति मिल सकती है, किन्तु यह समन्वय आत्म-विषयक श्रद्धा-वृत्ति के आलोक-विवेक से ही हो सकता है, अन्यथा नहीं, चाहे हम एक नहीं कितने ही 'राष्ट्रसंघ' या मन्दिरादि क्यों न बना लें। श्रद्धा-द्वारा इच्छा, कर्म और ज्ञान के 'समरस'—समन्वित—हो जाने के बाद ही जीवन की विडम्बना मिट सकती है। इन तीनों की समरसता का प्रतीक 'मानसरोवर' है :

है वहाँ महा ह्लद निर्मल
जो मन की प्यास बुझाता,
मानस उसको कहते है
सुख पाता जो है जाता।

फिर ता हृदय-वीणा का 'अनाहत निनाद'—दिव्य संगीत—छिड़ जाता है और श्रद्धायुत जीव जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति से परे तुरीयावस्था में पहुँचकर आत्म-साक्षात्कार करता हुआ चिदानन्द-लीन हो जाता है। ससार में पिडांड—व्यष्टि जीव—के आत्मोन्मुख विकास की चरम-सीमा यही है और जीवन के पुरुषार्थों का पुरुषार्थ भी यही है, जिसे दर्शनकार निःश्रेयस, अपवर्ग, मोक्ष, कैवल्य-प्राप्ति, ब्रह्मसायुज्य इत्यादि विभिन्न नामों से पुकारते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो ऐतिहासिक मनु और मननशील जीव की कहानियाँ यहीं समाप्त हो जाती हैं, किन्तु प्रसादजी के अन्तर्वर्ती कलाकार को व्यष्टि जीव—पिडांड—के ही कल्याण और आनन्द से सन्तुष्टि नहीं होती। वह तो [illegible] ब्रह्माण्ड—को भी आनन्द-शिखर (कैलाश) पर ले जाना चाहता है, इसीलिए उसे मूल-कथा पर समष्टि-प्रतीक सारस्वत देश की आबाल-वृद्ध-युवा-वनिता जनता का 'सोमलता से आवृत धवल वृषभ' लिये हुए यात्री-दल के रूप में मनु के पास जाने का काण्ड जोड़ना पड़ा। सोमलता और वृषभ क्रमशः भोगवाद एवं धर्म के प्रतीक हैं।[1] हमारे शास्त्रों में[2]

१. इसीलिए मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में धर्मात्मा राम को वृषारूढ़ कहा है :

गिरि हरि का हर वेश देश वृष बन मिला
उनसे पहले ही 'वृषारूढ़' का मन खिला।

२. धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। गीता ७।११।

धर्मानुगत भोग को उपादेय माना गया है, किन्तु आगे चलकर यात्री-दल वृषभ को छोड़ देता है जो इस बात का प्रतीक है कि धर्मानुग भोगवाद भी आनन्द-लोक के पथिक—संन्यासी—को छोड़ देना पड़ता है। मानस—समरसता—के तट पर पहुँचकर समष्टि-जीव का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है। मनु के उपदेश की ही देरी थी कि सारी समष्टि की भीतरी आँखें खुल जाती हैं और उसके आगे 'चिति का विराट् वपु' उघड़ जाता है। फिर तो :

प्रतिफलित हुई सब आँखें
उस प्रेम-ज्योति विमला से,
सब पहचाने से लगते
अपनी ही एक कला से।
समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती,
आनन्द अखंड घना था।

प्रसाद की तरह प्रसिद्ध योगिराज अरविन्द घोष भी योग द्वारा अतिमानस चैतन्य को मन, इन्द्रियों तथा प्रकृति में उतारकर उसका सामाजिकीकरण करना चाहते थे, यद्यपि वे अपनी साधना में सफल न हो सके और मानव को महामानव Superman) न बना सके।

'कामायनी' की विशेषता और उसमें युग-धर्म के संकेत

हम पीछे कह आए हैं कि 'कामायनी' की कथा पर आध्यात्मिक आवरण अत्यन्त प्राचीन है। कृष्ण मिश्र अपने 'प्रबोध चन्द्रोदय' में तथा उनके अनुकरण पर कितने ही अन्य संस्कृत-नाटककारों ने भी अपनी रचनाओं में प्रतीक-पद्धति से मानव-जीवन की आध्यात्मिक समस्याओं का विश्लेषण किया है, किन्तु उनमें समन्वय के लिए 'कामायनी' का-सा मानवीय आधार कुछ नहीं। वे निरे भाव-लोक के छाया-चित्र-मात्र हैं। कबीर तथा आधुनिक रहस्यवादियों की कल्पना-प्रधान रचनाओं में भी हम प्रस्तुत ऐतिहासिक धरातल का सुतरां अभाव ही पाते हैं और यही कारण है कि उनके आध्यात्मिक संकेत अपने बौद्धिक रूप में रहकर अच्छी तरह रस में परिणत होने की क्षमता नहीं रखते। जायसी के पद्मावत में निस्सन्देह मानवीय आधार तो है, किंतु उसके अध्यात्म-पक्ष में भारतीयता की कमी है। 'कामायनी' एक-मात्र ऐसी कलाकृति है, जिसमें प्रस्तुत मानवीय पृष्ठाधार पर रसात्मकता के साथ-साथ भारत का प्राचीन अध्यात्मवाद भी यथातथ्य रूप में मुखरित है। कथानक

के वैदिक और पौराणिक होने पर भी इसमें वर्तमान युग तथा उसकी समस्याएँ भी झाँकती हुई मिलती है। कवि की आत्मा संसार में वर्तमान भौतिक सभ्यता की बौद्धिक एवं श्रद्धा-विहीन प्रवृत्तियों से बड़ी दुखित है और इस दूषित वातावरण से निकलना चाहती हुई मनु के मुँह से श्रद्धा से कहलाती है :

ले चल इस छाया से बाहर
मुझको दे न यहाँ रहने।

सारस्वत नगर के निर्माण में गलती हुई धातु, बनते हुए शस्त्रास्त्र, घन के आघात इत्यादि वर्तमान औद्योगिक जीवन के प्रतीक हैं। अहंभावाक्रान्त मनु के स्वार्थपरक जीवन और उसकी अनिरुद्ध ऐकान्तिक सुखैषणा में आज के पूँजीवाद का संकेत है। अपने भीतर विश्व-कल्पना अथवा मानवतावाद की भावना सँजोए श्रद्धा—विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति—महात्मा गाँधी की अहिंसा एवं विश्व-मैत्री की प्रतीक है, जो मनु के माध्यम से विश्व-मानवता को सन्देश देती है :

औरों को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सब को सुखी बनाओ।[1]

बिना वर्ग-भेद के सामूहिक रूप से सारस्वत नगर की पीड़ित जनता को आनन्द-भूमि पर चढ़ाने में जहाँ भौतिक रूप में समाजवाद का संकेत है, वहाँ आध्यात्मिक रूप में गांधीवाद का भी संकेत है।

'कामायनी' में छायावादी तथा रहस्यवादी प्रकृति-चित्र

जहाँ तक 'कामायनी' में छायावादी चित्रों का सम्बन्ध है, वे तो पृष्ठ-पृष्ठ पर अंकित हुए मिलते हैं। चिन्ता, आशा, काम, लज्जा, ईर्ष्या आदि सभी अमूर्त्त भावों को मूर्त्त रूप देकर प्रसाद ने उनका बड़ा सजीव चित्रण कर रखा है। चिन्ता को 'ओ अभाव की चपल बालिके', लज्जा को 'नीरव निशीथ में लतिका-सी तुम कौन आ रही हो बढ़ती' ? कामना को 'जब कामना सिन्धु तट आई, ले सन्ध्या का तारा-दीप' और आशा को 'स्मिति की लहरों-सी उठती है नाच रही ज्यों मधुमय तान' इत्यादि कहकर सभी का मानवीकरण किया हुआ है। प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से तो 'कामायनी' एक बृहद् 'ऐल्बम' है, जिसमें प्रायः सभी प्रकृति-तत्त्वों के मानवी चित्र हमें उपलब्ध हो जाते हैं। हम तो यहाँ तक कहेंगे कि प्रसाद की 'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर' से लेकर 'मानस के मधुर मिलन' तक की यह

१. 'कामायनी', कर्म सर्ग, पृ० १३२ (सं० २०१५)।

सारी-की-सारी रचना ही प्रकृति की पृष्ठभूमि पर खड़ी हुई है। इसके सब पात्रों का विकास ही प्रकृति की गोद में हुआ है।

'कामायनी' के बाद आलोच्य युग के महाकाव्यों में मुख्य हैं—मैथिली शरण गुप्त का 'साकेत', गुरुभक्तसिंह का 'नूरजहाँ', अनूप शर्मा का 'सिद्धार्थ', अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'वैदेही-वनवास' तथा हरदयालुसिंह का 'दैत्यवंश'; किन्तु प्रस्तुत-परक होने से इनमें कोई भी अन्योक्ति-पद्धति के भीतर नहीं आता।

अन्य काव्य

इनका प्रकृति-चित्रण कहीं-कहीं निस्सन्देह मार्मिक, एवं छायावाद-प्रभावित है। इसमें प्रकृति हमें अपने संश्लिष्ट, भावाक्षिप्त तथा चित्रात्मक सभी रूपों में मिलती है। 'साकेत' में विरह-पीड़ित उर्मिला के दुःख में संवेदनशील भावाक्षिप्त प्रकृति का वसन्त-रूप देखिए :

ओ हो ! मरा वह वराक वसन्त कैसा ?
ऊँचा गला रुँध गया अब अन्त जैसा।
देखो बढ़ा ज्वर जरा-जड़ता जगी है
तो ऊर्ध्व साँस उसकी चलने लगी है।

'नूरजहाँ' में मानवीकृत नदी का चित्र देखिए :

है तपस्विनी यह कृशकाया, फेरा करती मणिमाला है
शिव बना बनाकर सलिल, चढ़ाती रहती वह गिरिबाला है।
निर्मल जल में हैं झलक रहे, बालू के एक-एक कण-कण
आराध्य देव उसके अन्तर में, प्रकट दिया करते दर्शन।
वह नित घटती ही जाती है, हो गई सूखकर काँटा है
कर दिया परिश्रम ने उसके पत्थर-पत्थर को भी आटा है।

'वैदेही-वनवास' में भी प्रकृति का मानवी रूप मिलता है :

प्रकृति-सुन्दरी विहँस रही थी चन्द्रानन था दमक रहा।
परम दिव्य बन कान्त अंक में तारक-चय था चमक रहा॥
पहन श्वेत शाटिका सिता की वह लसिता दिखलाती थी।
लेकर सुधा सुधाकर-कर से वसुधा पर बरसाती थी॥

'दैत्यवंश' ब्रजभाषा में है, इसलिए उसका और 'सिद्धार्थ' का अधिकतर प्रकृति-वर्णन रूढ़ अथवा पुरानी परम्परा का है। 'नूरजहाँ' में कहीं-कहीं अलंकार के रूप में अन्योक्ति के भी दर्शन हो जाते हैं। उदाहरण-रूप में मेहरुन्निसा के नवोत्थित यौवन-सौन्दर्य की प्रतीकात्मक छटा निहारिए :

यह मुकुल अभी ही खिलकर मुख खोल अवाक् हुआ है ।
है अभी अछूता दामन मधुपों ने नहीं छुआ है ।।
है हृदय पुष्प अनबेधा, है नहीं किसी ने तोड़ा ।
शृंगार हार का करके, है नहीं गले में छोड़ा ।।
मन मन्दिर सुरुचि बना है, है प्रतिमा अभी न थापी ।
यौवन है उठा घटा-सा नाचा है नहीं कलापी ।।

इसमें मुकुल, मधुप आदि शब्द प्रतीकात्मक हैं ।

खण्ड-काव्य

इस युग के खण्ड-काव्यों में प्रसादजी की 'आँसू' तथा बलदेव शास्त्री द्वारा प्रणीत 'भग्न-तन्त्री' अन्योक्ति-पद्धति के भीतर आते हैं । 'आँसू' रहस्य-वादी-छायावादी रचना है । 'भग्न-तन्त्री' कलाकार के टूटे हुए हृदय की प्रतीक है । इसके 'पाँचों तार' शोषित, पद्दलित, दीन-हीन भारत की विविध वेद-नाओं को झंकार रहे है । उक्त ग्रन्थ के भूमिका-लेखक डॉ० सूर्यकान्त के शब्दों में "शास्त्रीजी की इस 'भग्न-तन्त्री' का प्रत्येक स्वर कलात्मक, संसूचक एवं ध्वन्यात्मक है, और अन्योक्ति कंटकाकीर्ण होने पर भी कविता-केतकी के मृदुल कलेवर में आपने चन्द्र-पात्र से अमृत ले-लेकर अपूर्व सम्मोहिनी उत्पन्न कर दी है ।" इसमें कवि ने चन्द्रमा का अप्रस्तुत-विधान करके उसके माध्यम से अपने अन्तर्जगत् के विभिन्न कोनों को आलोकित किया है । चन्द्रमा कहीं अंग्रेजों का प्रतीक बनकर उपालम्भ का विषय बना हुआ है, यथा :

पशुता के सारे वह कार्य, करने में सन्नद्ध अनार्य ।
तनिक न मन में है संकोच, लेता है पूजा-उत्कोच ।
चूस-चूस यह फूल-फूल को रक्त-बिम्ब अति-स्थूल हो रहा ।
क्रूर ने नयननीर-वित्त से भी लिया कर प्रभो ! यथा यहाँ ।
पच न सकेगा शोणित भी प्रिय ! दीनों के यह कण-कण का ।
विष जब फैलेगा तो होगा कठिन बिताना क्षण-क्षण का ।
होगा फिर श्वेतांग का जहाँ, कलंकी अन्त ।
कारागार में हैं पड़े, देखो कृष्ण अनन्त ।।

चन्द्रमा में कहीं कवि को आत्म-प्रतिबिम्ब का भी दर्शन होता है :

प्रतिबिम्बित हूँ मैं ही शशि में, तुममें भी मेरा रूप ।
भेद यही दोनों में केवल, है वह मणि-सम तुम मृद्रूप ।
अथवा हूँ कूटस्थ सदा मैं, शशि है केवल माया-जाल ।
जड़ता-वश ही प्राणी सारे जिसमें फँसते हैं तत्काल ।

प्रकृति के मानवीकरण का मनोरम चित्र भी देखिए :

सुरभित आम्र-कली में उन्मद पहन पलाशों की मृदुमाल,
कोकिल-कंठी प्रकृति किसी पर डाल रही निज मोहन-जाल।
विगलित, मर्दित कुसुमों का यह अतिविरल वसन करके धारण।
पल्लवोष्ठ पर पुष्प-स्मित रख, किस सौतिन का करती मारण।
स्तबक-स्तनी लताएँ भी चल, मृदुल दलों से कर शुभ लास्य।
तरुओं का आलिंगन करतीं मुकुल-रदों से कर मृदु हास्य।
हस्तोत्पलाक्षी सरिता भी चल लहरों से कर केलि-विलास।
जलधि-क्रोड़ में होती तन्मय, फेन-रदों से कर मृदु हास॥

प्रतीक-शैली पर आधारित छायावादी कविता का प्रभाव साहित्य के अन्य अंगों—कहानी, उपन्यास तथा निबन्ध की तरह नाटक पर भी पड़ना स्वाभाविक ही था। स्वयं छायावादी कवियों ने कविता के अतिरिक्त जो भी नाटक, कहानी, उपन्यास लिखे, उनमें वे अपनी छायावादी शैली का मोह कैसे संवरण करते ? यही कारण है कि प्रसाद के किसी भी नाटक में, नाटक-गत उनके गीत, प्रकृति-चित्रण और कथोपकथन में आनुषंगिक तौर पर यत्र-तत्र छायावाद और रहस्यवाद का पुट स्पष्ट दिखलाई देता है। उदाहरण के लिए उनके 'चन्द्रगुप्त' में अलका का गान देखिए :

नाटकों में अन्योक्ति-पद्धति

बिखरी किरण अलक व्याकुल हो विरत वदन पर चिन्ता लेख
छायापथ में राह देखती गिनती प्रणय अवधि की रेख।
प्रियतम के आगमन पंथ में उड़ न रही है कोमल धूल,
कादम्बिनी उठी यह ढकने वाली हर जलधि के कूल।
समय विहग के कृष्ण पक्ष में रजत चित्र-सी अंकित कौन,
तुम हो सुन्दरि तरल तारिके, बोलो कुछ बैठो मत मौन।

इसी तरह 'प्रेमी', 'भट्ट' आदि के नाटकों की भाषा में भी छायावादी युग की छाप अंकित है। किन्तु स्वतन्त्र रूप से भी अन्योक्ति-पद्धति में कुछ रूपक-नाटकों का आलोच्य युग में निर्माण हुआ है, जिनके लिए संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' तथा टैगोर के 'किंग आफ द डार्क चैम्बर' और 'साइकल आफ द स्प्रिंग' ने दिशा खोल दी थी। इनके अन्तर्गत विशेषत: प्रसाद की 'कामना', पन्त की 'ज्योत्स्ना', सेठ गोविन्ददास का 'नवरस' एवं भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'छलना' आती है।

'कामना' प्रसादजी की तीन अंकों की एक प्रतीकात्मक सांस्कृतिक नाटिका है। कुछ समीक्षक इसे शेक्सपियर की 'कॉमेडी आफ एरर्स' की देखा-

कामना

देखी 'कॉमेडी ऑफ ह्यू मर्स' कहते हैं। इसमें नाटककार ने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की तरह विलास, सन्तोष, विवेक, दम्भ एवं कामना, लीला, लालसा, करुणा आदि अमूर्त्त भावों को मूर्त्त रूप देकर प्रतीक-रूप में उपस्थित करते हुए आधुनिक भौतिकवाद की दलदल में बुरी तरह फँसी मानवता को उन्मुक्त करके भारतीय अध्यात्मवाद के उत्तुंग शिखर पर चढ़ाने का प्रयत्न किया है। वास्तव में देखा जाय तो भारतीय आदर्श के पुजारी प्रसाद ने 'कामना' में 'कामायनी' की ही वस्तु को नाम-रूप बदलकर नाट्य रूप दे रखा है। थोड़ा-सा अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ 'कामायनी' का आधार ऐतिहासिक है, वहाँ 'कामना' का आधार निरा मनोवैज्ञानिक। 'कामना' का संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है :

समुद्र के किनारे एक फलों का द्वीप था। कामना वहाँ की रानी थी। सारी प्रजा प्रकृति की गोद में खेतीबाड़ी करती हुई आनन्द से जीवन-यापन किया करती थी। लोगों में महत्त्व और आकांक्षा का अभाव था; संघर्ष का लेश भी नहीं था। एक दिन एक विलास-नामक विदेशी युवक नाव पर वहाँ आ पहुँचा। उसके पास बहुत-सा स्वर्ण था, जिसकी चमक ने कामना और प्रजा को मोह लिया। वन-लक्ष्मी और बूढ़े विवेक ने बहुत कुछ समझाया कि इस विदेशी के इन्द्रजाल में न आओ, किन्तु व्यर्थ। कामना विलास पर मुग्ध हो चुकी थी। पर विलास उसके स्थान में लालसा को चाहता था, जिसके साथ उसका बाद में विवाह भी हो गया। विलास ने द्वीप में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के उद्देश्य से स्वर्ण और मदिरा का प्रचार आरम्भ कर दिया। फलतः राज्य में ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, प्रतिहिंसा एवं अनाचार-व्यभिचार आदि बढ़ने लगे। क्रूर, दुर्वृत्त और दम्भ आदि की अब खूब बन पड़ी। शान्तिदेव की हत्या कर दी गई और उसकी बहिन करुणा और विवेक को जंगल की शरण लेनी पड़ी। इस तरह थोड़े ही समय में स्वर्ग-जैसा पुष्पद्वीप नरक-कुण्ड बन गया। देश की यह दशा देखकर रानी कामना बहुत क्षुब्ध और दुःखित हुई। वह अपने वृद्ध पिता विवेक के पास पहुँची और उसकी सहायता से उसे अच्छी तरह ज्ञात हो गया कि इस पतन का कारण लालसा को साथ लिये हुए विलास ही है। अब कामना को एकदम विलास से घृणा हो गई और हृदय में सन्तोष के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा। कामना और विवेक के समझाने पर जब प्रजा को अपनी भूल का पता चला, तो उन्होंने शीघ्र ही विलास के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया और वे विदेशी की लाई हुई सभी वस्तुओं का बहिष्कार करने लगे। विलास अकेला इस व्यापक जन-

आन्दोलन का किस प्रकार सामना कर सकता था। उसे अब द्वीप से भाग निकलने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं रहा। लालसा को साथ लेकर वह अपनी नौका पर चढ़ा ही था कि सभी नागरिक उस पर स्वर्ण फेंकने लगे। स्वर्ण-भार से नाव डगमगाने लगी। लालसा व्यर्थ ही चिल्लाती रही—'सोने से नाव डूबी, अब बस।' दूसरी ओर कामना ने सन्तोष से विवाह कर लिया और सारे द्वीप में पहले की खोई हुई सुख-शान्ति फिर से लौट आई।

'कामना' में प्रसादजी ने कामना के विलास की ओर आसक्त होने पर पुष्प-द्वीप में व्याप्त पतन और अशान्ति के पीछे प्रतीक-रूप में यह दिखलाया है कि मनुष्य की कामना-वृत्ति का भोग-विलास की ओर झुकाव जीवन में विपत्तियों, कठिनाइयों एवं नैतिक पतन का कारण बनता है। भोग-विलास के पीछे लालसा लगी ही रहती है, जिसकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। इसलिए कामना के विलास की ओर से पराङ्मुख होकर सन्तोष के साथ सम्बन्ध जोड़ने से ही जीवन वास्तविक सुख-शान्ति का पात्र बनता है—इस दार्शनिक सिद्धान्त के अतिरिक्त कामना में हमें युग-धर्म के सकेत भी मिलते हैं। खेती-बाड़ी, सूत-कताई आदि कुटीर-उद्योगों में रत, नित्य आत्म-तृप्त पुष्प-द्वीप से भारत देश अभिप्रेत है। स्वर्ण, मदिरा, भोग, दम्भ, अनाचार आदि सब कुछ पाश्चात्य भौतिक सभ्यता का तथा उसे लाने वाला विदेशी युवक अंग्रेजों का प्रतीक है जैसा कि विलास को कहे गए विवेक के इन वचनों से स्पष्ट है—"लोहू के प्यासे भेड़ियो, तुम जब बर्बर थे, तब क्या इससे बुरे थे? तुम पहले इससे भी क्या विशेष असभ्य थे? आज शासन-सभा का आयोजन करके सभ्य कहलाने वाले पशुओ, कल का तुम्हारा धुँधला अतीत इससे उज्ज्वल था।"[1]

शेली के 'प्रोमेथिअस अनबाउण्ड' (Prometheus Unbound) रूपक के ढंग की पन्त की 'ज्योत्स्ना' पाँच अंकों का रूपक है। कामना की तरह इसका आधार भी सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक है।

ज्योत्स्ना

इसका कथानक कुछ अंश में 'कामना' के कथानक से मिलता-जुलता है यद्यपि यहाँ के पात्र 'कामना' की तरह प्रतीक-रूप में मनोभाव न लेकर अधिकतर प्रकृति के उपकरण को लिये हुए हैं, जैसा कि 'कामना' और 'ज्योत्स्ना' इन नामों से स्वतः ही स्पष्ट है। 'कामना' में विलास के साधन-भूत स्वर्ण और मदिरा से उत्पन्न अशान्ति का चित्र खींचकर शान्ति के मार्ग का संकेत है और 'ज्योत्स्ना' में मानव-जाति के

१. 'कामना', पृष्ठ ६२ (सं० २०१३)।

संघर्ष के मूल में काम करने वाली बातों पर प्रकाश डालकर भूलोक पर स्वर्ग उतारने का प्रयत्न है। टेकनीक की दृष्टि से निस्सन्देह 'ज्योत्स्ना' में 'कामना' की-सी अभिनेयता नहीं है और न पुष्ट कार्य-व्यापार एवं चरित्र-विकास है। जैसा कि डॉ० नगेन्द्र का भी विचार है, "इसके इन्दु, पवन आदि पात्र भावनाओं के पुलिन्दे हैं। उनका मांसल व्यक्तित्व नहीं है। वे वायवी हैं।"[१] इसकी सारी कथावस्तु कल्पनालोकीय एवं सर्वातीत (Transcendental) है। इसलिए 'ज्योत्स्ना' को हम काव्यत्व-प्रधान नाटक कहेंगे। किन्तु इसका दृश्य-विधान एवं उद्देश्य अवश्य अनूठे हैं और यही इस रचना का महत्त्व भी है। इसका संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है :

वसन्त-पूर्णिमा का दिन है। सन्ध्या छाया को सूचना देती है—'आज संसार में आदर्श-साम्राज्य—स्वर्ग—स्थापित करने के लिए इन्दु शासन की बागडोर ज्योत्स्ना को देने वाला है। इतने में पवन और उसके बाद सुग्गा, कोयल, मयूर आदि पक्षि-गण भी आते हैं और क्षण-भर सन्ध्या-माता की गोद का आनन्द लेकर विश्राम के लिए अपने-अपने स्थानों को चले जाते हैं। थोड़ी देर बाद चित्रा, रोहिणी, विशाखा आदि ताराएँ नृत्य करती हुई मोतियों को बिखेरती हैं और गगन का अन्तःपुर एकदम आलोक से धँस उठता है। इन्दु ज्योत्स्ना को साथ लिये हुए आता है और कहता है, "प्रिये, मनुष्य-जाति के भाग्य का रथ-चक्र इस समय जड़वाद के गहरे पंक में धँस गया है, इसलिए तुम संसार में नये युग की विभा बनो और प्राणियों को जीवन का नया आदर्श दिखाओ।" पति की आज्ञा पाकर ज्योत्स्ना भूलोक पर उतर आती है और पवन एवं झींगुर द्वारा मनुष्यों की बुरी तरह बिगड़ी हुई अवस्था का समाचार सुनकर दुःखित होती है। वह पवन और सुरभि को छिगुनी से छूती है, जिससे वे तत्काल स्वप्न एवं कल्पना में बदल जाते हैं। ज्योत्स्ना उन्हें संसार को स्वर्ग के रूप में नव-निर्माण करने की आज्ञा देती है। दोनों मनुष्य-जाति के मनोलोक में प्रवेश करते हैं और उसमें भक्ति, दया, सत्य, करुणा आदि सद्वृत्तियों की सृष्टि करते हैं। फलतः मनुष्य-लोक की काया ही पलट जाती है। मानव-प्रेम के नवीन प्रकाश में राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता, जाति और वर्ग के भूत-प्रेत सदैव के लिए तिरोहित हो जाते हैं। इस तरह नव-निर्माण करके ज्योत्स्ना वापस चली आती है। छाया और उल्लू आदि को अब भागना ही सूझा। उषा और अरुण आते हैं और चारों दिशाओं में दिव्य प्रकाश फैल जाता है। संसार में स्वर्ग उतरा हुआ देखकर आनन्द में कोक, लावा आदि का मधुर

१. 'आधुनिक हिन्दी नाटक', पृ० ६० ।

संगीत छिड़ जाता है। पुष्प हँसने लगते हैं, तितलियाँ नाचती हैं और पवन इठलाता है।

नवरस

'नवरस' सेठ गोविन्ददास ने दमोह जेल में लिखा है। इसमें सेठजी ने काव्य के नौ रसों को मानव-रूप देकर उनका शास्त्रोक्त आधार पर विश्लेषण किया है; साहित्य-विषय को राजनीतिक परिधान पहनाकर गांधीवाद के अनुसार हिंसा पर अहिंसा की और अन्याय एवं अत्याचार पर सत्याग्रह की विजय दिखाई है। इसका संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है :

राजा वीरसिंह राज्य के सर्व-सर्वा बने हुए अपने घनिष्ठ सखा रुद्रसेन की सलाह से अपने पड़ोसी राजा मधु के देश पर आक्रमण कर देते हैं। वीरसिंह की बहन शान्ता भाई को बहुत रोकती है, पर व्यर्थ। उधर बेचारा मधु अभी बिलकुल बच्चा है; उसकी तुतलाहट तक नहीं गई। पिता को स्वर्ग सिधारे थोड़ा ही समय हुआ है। पति की याद में रोती-रुलाती हुई उसकी माँ करुणा मन्त्री अद्‌भुतचन्द्र की सहायता से कथमपि राज्य-भार सँभाले हुए है। आड़े समय राज्य पर आक्रमण देखकर राजमाता, उसकी दोनों लड़कियाँ प्रेमलता और लीला, तथा सारी प्रजा सन्न रह जाती है। रुद्रसेन और उसका सेनापति ग्लानिदत्त मधु के राज्य पर आफ़त ढाने लगते हैं। अद्‌भुतचन्द्र सेनापति भीम की सहायता से शत्रु को रोकने के लिए निकलता तो है, किन्तु इतनी प्रबल सेना का सामना वह कब तक कर सकेगा ! अन्त में शान्ता अपने भाई का यह अन्याय नहीं सहन कर सकती और स्वयं विद्रोही बनकर प्रजा में वीरसिंह और रुद्रसेन के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ देती है। हजारों-लाखों की संख्या में नर-नारी हिंसा के विरुद्ध सत्याग्रह करने के लिए मधु के पक्ष में जा मिलते हैं। धीरे-धीरे विद्रोह-भावना वीरसिंह की सेना में भी घुस जाती है और वह निहत्थों पर गोली चलाने से इन्कार कर देती है। यह सब देखकर रुद्रसेन जल-भुन जाता है, पर करे तो क्या करे ! अन्त में वह विद्रोही प्रजा को प्रभावित करने तथा सेना में लड़ने का उत्साह भरने के लिए वीरसिंह को रण-स्थल में बुला लाता है। सारा दृश्य देखकर वीरसिंह का दिल भर आता है कि वह किस तरह सेना को आज्ञा दे कि वह इन निःशस्त्र सत्याग्रहियों पर गोली चलाए। सहसा सिर से राज-मुकुट उतारकर वह रुद्रसेन को सौंपता हुआ युद्ध-स्थल से चला जाता है। राजा बनते ही सेना को रुद्रसेन की पहली आज्ञा होती है—'शत्रु पर गोले बरसाए जायँ', किन्तु इसका उत्तर उसे 'राजकुमारी शान्तादेवी की जय', 'सत्याग्रह की जय', 'अहिंसा की जय' के नारों

से मिलता है और तत्काल प्रजा उसको बन्दी बना लेती है। प्रजा वीरसिंह को पुनः अपना राजा बनाना चाहती है, पर वह अब राजा न बनकर राज्य के एक नागरिक के रूप में प्रजा की सेवा करने का निश्चय करता है। हिंसा के विरुद्ध शान्ता का शान्त संघर्ष तथा वीरसिंह के अद्भुत बलिदान से दोनों राज्यों की प्रजा तथा राजमाता करुणा गद्गद् हो जाती हैं और अन्त में शान्ता के प्रयत्न से वीरसिंह और प्रेमलता का परस्पर विवाह हो जाता है।

इस नाटक में वीरसिंह वीर-रस, रुद्रसेन रौद्र-रस, ग्लानिदत्त बीभत्स-रस, मधु वात्सल्य-रस, करुणा करुण-रस, प्रेमलता शृंगार-रस, लीला हास्य-रस, अद्भुतचन्द्र अद्भुत-रस और भीम भयानक-रस के प्रतीक हैं। इन सभी प्रतीकात्मक पात्रों का व्यक्तित्व नाटककार ने ठीक वैसा ही चित्रित किया है जैसा कि साहित्य में प्रतिपादित है। प्रारम्भ में रुद्रसेन के रूप में क्रोध का अनुयायी होने पर भी अन्त में वीरसिंह का निरीहों पर शस्त्र न उठाते हुए आत्म-त्याग दिखाना सर्वथा वीरोचित ही है। रुद्रसेन के रूप में क्रोध का अन्याय और अत्याचार करके बन्दी-गृह में जाना भी स्वाभाविक है। अन्त में शान्ता के प्रयत्न से वीरसिंह के साथ प्रेमलता का विवाह—शान्त भाव से उत्साह और रति का मेल—एक आदर्श उपस्थित करता है, यद्यपि टेकनीक की दृष्टि से वीर और शृंगार का समन्वय कुछ ऐसा ही अटपटा है जैसा कि करुण (करुणा) शृङ्गार (प्रेमलता) और हास्य (लीला) का।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी-रचित 'छलना' तीन अंकों की एक ट्रेजेडी है। इसका आधार 'कामना' और 'ज्योत्स्ना' की अपेक्षा अधिक स्थूल एवं पार्थिव है। इसके पात्र प्रतीक-रूप में रहकर भी स्वतन्त्र व्यक्तित्व लिये हुए हमारे ही समाज के जीव हैं, 'कामना' अथवा 'ज्योत्स्ना' की तरह निरे मनोलोक अथवा कल्पना-लोक के नहीं। इसकी संक्षिप्त कथा-वस्तु इस तरह है :

छलना

बलराज एक इंटरमीडिएट कालेज का प्राध्यापक है। कल्पना उसकी पत्नी है। वह ऐहिक सुख-भोग ही जीवन का लक्ष्य समझती है, किन्तु सन्तोष-वृत्ति वाले पति के साथ उसकी इच्छाएँ पूरी नहीं होने पातीं। उसका कालेज के एक छात्र विलास और भूतपूर्व छात्रा कामना से परिचय होता है, जिनकी तड़क-भड़क उसको बहुत प्रभावित कर देती है। कल्पना विलास की ओर आकर्षित हो जाती है और वह उसे अपने यहाँ ले आता है। विलास उसे जीवन की कितनी ही रंगीनियाँ दिखलाता है, फिर भी वह उसका हृदय नहीं जीत सकता। कल्पना को विलास के दुराशय से बड़ा क्षोभ होता है और उससे

उन्मुक्त होकर फिर बलराज के पास आने को आतुर होने लगती है, परन्तु उसका मन शंकित रहता है कि भला मेरे पतिदेव मुझे मेरी उद्दण्डता के लिए क्षमा भी करेंगे या नहीं। उधर कामना अपना नाम निद्रा रखकर बम्बई में फिल्म-अभिनेत्री बन जाती है और बलराज को अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करती है, किन्तु बलराज कल्पना की तरह कामना से भी अप्रभावित ही रहता है और उससे केवल विनोद-मात्र तक का ही सम्बन्ध रखता है। बलराज कल्पना को बराबर पत्र भेजता है, परन्तु कलुषात्मा विलास का कुचक्र उन्हें कल्पना तक पहुँचने ही नहीं देता। कल्पना बेचारी रुग्ण हो जाती है। विलास को अब उसे बलराज के यहाँ छोड़ आने को विवश होना पड़ता है। वह बलराज को कल्पना की बीमारी का तार भेज देता है। बलराज तत्काल अपने घर वापस आ जाता है, किन्तु विलास बलराज के आते ही एक कमरे में जाकर आत्म-हत्या कर लेता है। सब-के-सब उसका शव देखकर दंग रह जाते हैं, किन्तु कल्पना विलास की मृत्यु के बाद भी उसे अपने से पृथक् नहीं कर पाती।

नाटक का नायक बलराज संयत, दृढ, आदर्श-पूर्ण पुरुषत्व—सात्विक वृत्ति—का प्रतीक है। इसके ठीक विपरीत दूसरा पुरुष-पात्र विलास, जैसा कि नाम है, पुरुष-जीवन के बाह्य रूप राजस वृत्ति अथवा भोगवाद का प्रतीक है। उसमें हम भोग-परायणता, आकर्षण तथा छल पाते हैं। नाटक की नायिका कल्पना नारी जीवन की प्रतिनिधि है, जो हृदय में भोगवाद के सुख-साधनों की नाना उच्चाकाक्षांएं एव मधुर कल्पनाएँ सँजोए, चंचल और विलास-प्रवण है, किन्तु अन्ततोगत्वा आदर्शहीन विलासी जीवन में उसे सिवा छलना के और कुछ नहीं मिलता और यही आधुनिक नारी-समाज की समस्या भी है, जिसका इस रचना में विश्लेषण तो खूब हुआ है, किन्तु समाधान नहीं हुआ।

एकांकी

एकांकियों में भी प्रतीक-पद्धति का थोड़ा-बहुत प्रभाव लक्षित होता है। हमारे एकांकी-साहित्य का वास्तविक निर्माण प्रसाद के 'एक घूँट' से आरम्भ होता है, जो स्वयं एक प्रतीकात्मक नाटक है। इसमें प्रेमलता, आनन्द आदि भावात्मक पात्र एवं वनलता, रसाल, मुकुल, कुञ्ज आदि प्रकृत्यात्मक पात्र सभी प्रतीक-रूप हैं। इसकी कथा-वस्तु रोचक ढंग से चलती है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी प्रतीक शैली में कितने ही एकांकी लिखे हैं। पं० उदयशंकर भट्ट के शब्दों में "'चारुमित्रा', 'दस मिनट', 'रेशमी टाई' आदि अनेक नाटकों में वे मूर्तिमात्र प्रतीकवादी हो उठे हैं।"[1] वर्माजी के 'चम्पक',

१. 'नाटक के सिद्धान्त और नाटककार', पृ० १३२ (सं० २०१२)।

'वर्षा-नृत्य', 'स्वागत है ऋतुराज' एवं 'बादल की मृत्यु' आदि भावात्मक एकांकी भी इसी शैली के अन्तर्गत आते हैं। 'बादल की मृत्यु' में आपने प्रकृति को रंग-मंच बनाकर बादल, सन्ध्या आदि पात्रों का बड़ा भव्य व्याख्यान किया है। भट्टजी के एकांकी 'जवानी' और 'जीवन' भी इसी शैली के हैं। डॉ० रामचरण महेन्द्र के कथनानुसार "संकेतात्मकता तथा प्रतीक आपकी शैली की विशेषताएँ हैं।"[1] पन्त की एकांकी गीतिका 'मानसी' प्रतीकात्मक है। स्वयं पन्त के शब्दों में "यह पुरुष-नारी का रूपक है। पिक मिलन भोग का और पपीहा विरह त्याग प्रतीक का है।"[2]

निबन्ध

निबन्धों में जो भावात्मक कोटि के हैं, वे सब प्रतीक-पद्धति के भीतर आते हैं। इनमें लेखक छायावादी कवि की तरह अध्यास अथवा प्रक्षेप-पद्धति (Projection) पर चलता है। पन्त, महादेवी शान्तिप्रिय द्विवेदी, डॉ० रघुबीरसिंह आदि के निबन्ध प्राय: इसी जाति के हैं। रायकृष्णदास ने 'सागर और मेघ' 'लोहा और सोना' एवं 'क्रय-विक्रय' आदि परस्पर संलाप के रूप में प्रतीकात्मक निबन्ध लिखे हैं। उदाहरण के रूप में 'क्रय-विक्रय' का यह सन्दर्भ देखिए :

"जिन मणियों को मैंने बड़े प्रेम से कृत्याकृत्य सभी कुछ करके संग्रह किया था, उनको उन्होंने मोल चाहा। यदि दूसरे ने ऐसा प्रस्ताव किया होता तो मेरे क्षोभ का ठिकाना न रहता। अपनी शौक की चीज़ बेचनी? कैसी उल्टी बात है! पर जाने क्यों उस प्रस्ताव को मैंने आदेश की भाँति अवाक् होकर शिरोधार्य किया।

"मैं अपनी मणि-मंजूषा लेकर उनके यहाँ पहुँचा, पर उन्हें देखते ही उनके सौन्दर्य पर ऐसा मुग्ध हो गया कि अपनी मणियों के बदले उन्हें मोल लेना चाहा।

"अपनी अभिलाषा उन्हें सुनाई।

"उन्होंने सस्मित स्वीकार करके पूछा किस मणि से मेरा बदला करोगे? अपना सर्वोत्तम लाल उन्हें दिखाया। उन्होंने गर्वपूर्वक कहा—'अजी यह तो मेरे मूल्य का एक अश भी नही।' मैंने दूसरी मणि उनके आगे रखी। फिर वही उत्तर। इस प्रकार उन्होंने मेरे सारे रत्न ले लिये। तब मैंने पूछा कि मूल्य कैसे पूरा होगा? वे कहने लगे कि तुम अपने को दो तब पूरा हो।

"मैंने सहर्ष आत्म-अर्पण किया। तब वे खिलखिलाकर आनन्द से बोल

---

१. हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास', पृ० १६० (सं० १९५८)।
२. 'स्वर्णधूलि', पृ० १३७ (सं० १९५९)।

उठे—'मुझे मोल लेने चले थे न ?'

"मैं गद्‌गद् हो उठा। आज परम मंगल हुआ, जिसे मैं अपनाना चाहता था, उसने स्वयं अपना लिया।"[१]

आजकल महाराजकुमार डॉ० रघुबीरसिंह अन्योक्ति-शैली के अच्छे निबन्धकार गिने जाते हैं। शुक्लजी के शब्दों में ('शेष स्मृतियाँ' में) "महाराजकुमार ने आरोप और अध्यवसान की अलंकृत पद्धति का कितना प्रगल्भ और प्रचुर प्रयोग किया है।"[२] उदाहरण के लिए महाराजकुमार द्वारा पुष्प के प्रतीक में खींचा हुआ निराश प्रेमी का चित्र देखिए—"पुष्प ने वृक्ष से नाता तोड़ा, अपने प्रेमी भ्रमरों को छोड़ा, सुकोमल हरे-हरे पत्तों की सेज छोड़ी, यही नहीं, तीखे काँटों को, जो उसके रक्षक थे, उन्हें भी छोड़ दिया।....और यह सब इस आशा में कि आराध्यदेव के गले का हार बनेंगे, या उसके पूज्य चरणों में चढ़ेंगे। किन्तु आशा पर पानी फिर गया। उन्हें गले लगाने से हिचके,....उसके लिए पुष्प को बिधना पड़ेगा। और चरणों में भी स्थान नहीं मिला।....उस सुकोमल पुष्प को पैरों में डाला जाय। उन्हें क्या मालूम था कि जिन्हें वे निष्ठुरताएँ समझ बैठे थे, उनसे भी बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को वह सहन कर चुका था। ....किन्तु नहीं....ऐसी साधारण-सी बातों का विचार करने में वे उसकी सारी आशाओं को ही कुचल बैठे। और अपनी आशाओं को दिल में छिपाये ही वह पुष्प सूख गया। यह देखकर कि आराध्यदेव उसे ऐसे साधारण बलिदान के योग्य भी नहीं समझते, उसने अपने भाग्य को कोसा, वह दिल मसोसकर रह गया और इसी दुःख के मारे वह मुरझा गया।"[३] इसी तरह वियोगीजी की 'भावना' और 'अन्तर्नाद' एवं श्री भँवरमल सिंघी की 'वेदना' आदि रचनाओं में भी कुछ-कुछ प्रतीक-शैली देखने में आती है।

उपन्यास और कहानियाँ

उपन्यासों और कहानियों में भी यत्र-तत्र प्रतीकात्मक वर्णन मिलते हैं। कितने ही उपन्यासकार कभी-कभी मानव-वृत्तियों और मानस-दशाओं का ही नहीं, बल्कि व्यक्तियों का भी प्रतीक-रूप में चित्रण कर देते हैं। रांगेय राघव के 'घरौंदे' में ऐसे चित्रण बहुत हुए हैं। उदाहरण के लिए सिगरेट और बीड़ी के प्रतीक में उनका अमीरी और गरीबी का चित्रण देखिए :

"सिगरेट का बण्डल बीड़ी के बण्डल से सटा पड़ा था। सिगरेट को

१. सद्‌गुरुशरण अवस्थी, 'साहित्य-तरंग', पृ० ३१६।

२. 'शेष स्मृतियाँ', भूमिका, पृ० ३९।

३. 'जीवन-धूलि', पृ० ५४।

पैसे का नाज है, बीड़ी को अपने पीने वाले की मेहनत का ।

"सिगरेट कहती है—'मैं कितनी गोरी हूँ, सुन्दर, सुन्दर !'

"बीड़ी कहती है—'मैं आँधी के रंग की हूँ, मैं फौजों की वर्दी हूँ ! और तू ?'

"सिगरेट बड़बड़ाती है—'अरी मेरा रंग रुपया का-सा है, तेरा ?'

"बीड़ी भुनभुनाती है । सिगरेट चाँदी की पन्नी से उचककर देखती है । 'अरे', कोई कहता है, 'दो डबल का बीड़ी का बण्डल तो देना ।' तभी कोई हलके से मगर घमण्ड से कहता है—'प्लेयर्स नेवीकट एक पैकेट !' और चवन्नी की हल्की खन्न की आवाज़ । पहले सिगरेट, फिर बीड़ी, और जैसे दो पैसे का बण्डल एक अहसान-सा हुआ ।"

भगवतीप्रसाद वाजपेयी द्वारा लिखित 'गुप्तधन' तो सारा-का-सारा ही एक प्रतीकवादी उपन्यास है। प्रसाद की तरह अन्धकार के हृदय में भी "संसार आज दुःख का अगाध सागर क्यों बना हुआ है ?" यह प्रश्न उठा और उस पर सोच-विचार के परिणामस्वरूप उन्हें जो समाधान सूझा, वह एक गुप्तधन है और उन्हीं के शब्दों में वह गुप्तधन है "मनुष्य के अन्तःकरण में वास करने वाला उसका सत्य—वही सत्य जो हमारे मन, वचन और कर्म की एकता का एक-मात्र सूत्रधार है । वही हमारा बल है, वही हमारी शक्ति । उसके द्वारा हम अपने-आपको ही नहीं, समाज और देश को भी सम्पन्न और समृद्धि-शाली बना सकते हैं । इस उपन्यास की कल्पना इसी आधार पर की गई है । पर इस कल्पना की पृष्ठभूमि में एक परम पावन महामानव का मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी है ।"[1] इस तरह प्रस्तुत उपन्यास प्रतीक-पद्धति का एक मनोवैज्ञानिक सामाजिक उपन्यास है । इसके प्रायः सभी पात्र अमूर्त्त भावों के प्रतीक होने पर भी सामाजिक धरातल के हैं । 'छलना' के पात्रों के समान ही उनका व्यक्तित्व स्थूल एवं पार्थिव है । वे हड्डी-माँस के पुतले हैं और हमारे ही समाज के जीव हैं । इसकी संक्षिप्त कथा-वस्तु इस प्रकार है :

गुप्तधन

"वेदप्रकाश और ज्ञानप्रकाश दो भाई हैं । ज्ञानप्रकाश एक लखपति की लड़की माया से विवाह हो जाने के कारण बड़ा आदमी बन जाता है। सन्तान न होने के कारण वह अपने भाई के बड़े पुत्र सत्यप्रकाश को गोद ले लेता है । उसकी माँ करुणा न चाहने पर भी गरीबी तथा पुत्र के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना से दे देने को विवश हो जाती है । सत्य जब पढ़-लिख गया तो ज्ञान

१. 'गुप्तधन', आश्वासन (भूमिका), पृ० १ ।

उसके हाथ अपना कारखाना सौंप देता है। प्रारम्भ से ही नेक और सच्चा होने के कारण सत्यप्रकाश कारखाने में किसी भी तरह की गड़बड़ी नहीं देख सकता। इस कारण कारखाने का मैनेजर मन्मथ, जो माया का एक दूर का भतीजा है, सत्य से द्वेष बाँध लेता है और उसे फँसाने के लिए एक दिन ज्ञान के पास शिकायत कर देता है कि सत्य ने अपने सहपाठी विनय को रुपए दिये हैं। ज्ञान द्वारा जाँच करने पर मन्मथ झूठा सिद्ध होता है, किन्तु ज्ञान उसे क्षमा कर देता है। यह बात सत्य को बड़ी अखरी। वह इसे अपना और विनय का अपमान समझता है। वैसे भी चाचा और चाची दोनों अब सत्य से कुछ भेद-भाव रखने लगे, क्योंकि भाग्यवश वर्षों बाद अब उनके अपना ही पुत्र उत्पन्न हो गया था। सत्य अपने चाचा के नाम एक कड़ा विरोध-पत्र लिखकर चला जाता है। कोरा-कोरा छूट जाने के कारण मन्मथ को और भी प्रोत्साहन मिल जाता है। वह दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर आचार्य गौरीशंकर की एक-मात्र लड़की चेतना पर डोरे डालने लगता है। चेतना सत्यप्रकाश की सहपाठिनी है और उसके गुणों पर मुग्ध है। इस बीच सहसा एक रात चेतना के पिता हृदय के आघात से सख्त बीमार पड़ जाते हैं। सत्य सारी रात उनके सिरहाने बैठकर सेवा करता रहता है। सुबह गुरुदेव होश में आ जाते हैं। इसी बीच एक खबर मिलती है कि मन्मथ एक मोटर-दुर्घटना में आहत होकर अस्पताल में पड़ा हुआ है। सत्य और चेतना दोनों तत्काल अस्पताल जाते हैं, किन्तु वहाँ मन्मथ का कहीं नाम भी नहीं था। घर लौट आने पर उन्हें पता लगता है कि मन्मथ ने दुर्घटना की झूठी खबर फैलाई है; वह तो कारखाने के चालीस हजार रुपयों का गबन करके चेतना की सहेली प्रेरणा को भगाकर चम्पत हो गया है। ज्ञान की आँखें अब खुलीं कि सत्य का कहना न मानकर मन्मथ के पीछे चलने का क्या परिणाम होता है। उधर गौरीशंकर चेतना का सत्य के साथ विवाह करके अपनी सारी सम्पत्ति उनके नाम कर देते हैं।

'गुप्तधन' में प्रतीक-समन्वय

'गुप्तधन' के ज्ञानप्रकाश, सत्यप्रकाश, माया, मन्मथ, चेतना आदि पात्र 'प्रबोध-चन्द्रोदय' अथवा 'कामना' की तरह ज्ञान, सत्य आदि अमूर्त भावों के प्रतीक हैं और वही कार्य करते हैं जो कि इन भावों में हुआ करते हैं। वेद और ज्ञान का समान होने से भाई-भाई होना ठीक ही है। सत्य का प्रादुर्भाव वेद से होता है। ज्ञान माया को अपनाता तो है, परन्तु सत्य उसे वेद से ही लेना पड़ता है। प्रारम्भ में सत्य गरीबी का भाजन अवश्य रहता है, किन्तु गरीबी में भी वह सदा अडिग ही रहता है। माया का सम्बन्धी

मन्मथ—विषयभोग—सत्य को डिगाने के लिए कितनी ही चेष्टा क्यों न करे, किन्तु अन्त में 'सत्यमेव जयते, नानृतम्'। मन्मथ के पीछे चलकर ज्ञान का धोखा खाना स्वाभाविक है और अन्त में उसे सत्य का ही आश्रय लेना पड़ता है—वह सत्य, जिसके साथ चेतना है और अब विपुल सम्पत्ति भी है। चेतना गौरीशंकर (एवरेस्ट) जैसे महोच्च मानव के पास ही मिलती है, अन्यत्र नहीं।

इसके अतिरिक्त कृष्णचन्द्र द्वारा हाल ही में लिखी, 'एक गधे की आत्मकथा' अन्योक्ति-पद्धति की रचना है। इसमें ग्रन्थकार ने गधे के प्रतीक में साहित्यकार का जीवन चित्रित किया है।

कहानियों में प्रसाद की 'कला' सुदर्शन की 'अंगूर की बेटी' यशपाल की 'पुलिस की दफा' आदि प्रतीकात्मक हैं।

प्रगतिवाद

अब हम आधुनिक काल के चतुर्थ चरण पर आते हैं। इसे प्रगतिवादी युग कहा जाता है। छायावाद और रहस्यवाद जगत् से पलायन करके जन-मन को अधिक आकर्षण न दे सके। द्वितीय महायुद्ध ने संसार की आँखों को खोलकर उसके आगे व्यक्तित्व से परे विशाल यथार्थ विश्व दिखाया और नई-नई विकट समस्याएँ और परिस्थितियाँ खड़ी कर दी। फलतः जनता में प्रगति की भावना जागी और तदनुसार साहित्य को भी प्रगतिवादी बनना पड़ा। अब कविता-कामिनी अपने एकान्त मधुर कल्पना-लोक से उतरकर वस्तु-जगत् पर आई और मजदूरों एवं किसानों के मध्य जाकर उनके खेत, झोंपड़ी, कुदाली, हथौड़ा, हल, बैल आदि को निहारने लगी, जैसा कि रूस ने किया है। यही कारण है कि हम प्रगतिवाद में मानव-प्रकृति तथा अन्य वस्तुओं का अपना स्वाभाविक एवं यथातथ्य चित्र अंकित पाते हैं। इस तरह प्रगतिवादी कविता के यथार्थ—प्रस्तुत-परक—ही रहने से उसमें अन्योक्ति-पद्धति के लिए छायावाद-रहस्यवाद की तरह पर्याप्त स्थान नहीं मिला। तथापि जैसा कि हम पीछे देख आए हैं, विद्रूप के रूप में कुछ मुक्तक अन्योक्तियों तथा गीत-संदर्भों में पद्धति के भी दर्शन हमें यत्र-तत्र अवश्य मिल जाते हैं। भगवतीचरण वर्मा के 'बादल', दिनकर की 'विपथगा' तथा पन्त के 'कृष्णमेघ' आदि प्रगतिवादी चित्रों में अन्योक्ति-पद्धति ही काम कर रही है। इसी तरह अन्योक्ति-पद्धति में लिखी हुई नरेन्द्र शर्मा की 'पलाशवन' की 'पलाश' कविता का उदाहरण लीजिए :

पतझर की सूखी शाखों में लग गई आग, शोले लहके।
चिनगी-सी कलियाँ खिलीं और हर फुनगी लाल फूल दहके।
सूखी थीं नसें, बहा उनमें फिर बूँद बूँद कर नया खून।

भर गया उजाला डालों में खिल उठे नये जीवन प्रसून।
अब हुई सुबह, चमकी कलगी, दमके मखमली लाल शोले।
फूले टेसू, बस इतना ही समझे पर देहाती भोले।
लो डाल डाल से उठी लपट! लो डाल डाल फूले पलाश।
यह है वसन्त की आग, लगा दे आग जिसे छू ले पलाश।
लग गई आग, वन में पलाश, नभ में पलाश, भू पर पलाश।
लो, चली फाग, हो गई हवा भी रंग-भरी छूकर पलाश।
आते यों, आयेंगे फिर भी वन में मधुऋतु पतझार कई।
मरकत-प्रवाल की छाया में होगी सब दिन गुञ्जार नई।[1]

वैसे तो यहाँ प्रकृति-वर्णन प्रस्तुत है, किन्तु शब्द-विन्यास ऐसा है कि इसका साम्यवाद की तरफ भी संकेत हो जाता है। लाल पलाश और लाल शोले रूसी लाल रंग के प्रतीक हैं। इसी तरह सूखी नसों में खून बहना, नया उजाला भरना, नया जीवन खिलना भी प्रतीकात्मक हैं। 'पतझर की सूखी शाखों' से विनाशोन्मुख पूँजीवाद का एवं 'वसन्त' और 'मरकत-प्रवाल की छाया' से नव-निर्माण-काल (समाजवाद) की ओर संकेत है। ध्यान रहे कि अन्योक्ति का यह चित्र समासोक्ति-रूप है। प्रगतिवाद में अन्योक्ति-पद्धति गीतों तक ही सीमित है। सूफ़ी-कवियों की 'पद्मावत' और छायावाद युगीन 'कामायनी'-जैसी कथात्मक रचनाओं का सुतरां अभाव है।

हम देख आए हैं कि प्रगतिवाद की मूल भित्ति यथार्थवाद है। इसलिए उसमें रागात्मक तत्व का अभाव स्वाभाविक ही है। इसी कारण से बहुत-से समालोचक प्रगतिवाद को एक सिद्धान्त मानकर उसे काव्य के भीतर लाने में आपत्ति उठाते हैं, जो बिलकुल ठीक है। इसे हम मार्क्सवाद, समाजवाद या क्रान्तिवाद कह सकते हैं। फलतः प्रगतिवाद में भावुकता लाने की आवश्यकता प्रतीत हुई और अपने भीतर भाव-तत्त्व लिये हुए प्रगतिवाद ही 'प्रयोगवाद' नाम से साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुआ अथवा जैसा कि श्री रामबहोरी शुक्ल तथा डॉ० भगीरथ मिश्र ने भी स्वीकार किया है—"यों कहिए कि वर्तमान बुद्धिवादी युग द्वारा दुत्कृत छायावाद अपनी आन्तरिक अनुभूति पर बुद्धिवाद का पुट देकर नये-नये प्रयोगों, प्रतीकों, संकेतों एवं व्यापक दृष्टिकोण को रखकर पृष्ठ-द्वार से फिर कविता-क्षेत्र में आया है।"[2] प्रयोगवाद के प्रवर्त्तक और

प्रयोगवाद

१. 'पलाशवन', पृ० १ (सं० १९४६)।
२. 'हिन्दी-साहित्य उद्भव और विकास', पृ० १३६।

प्रधान कवि अज्ञेय जी हैं। वे प्रतीकवादी हैं। काव्य की इस नई धारा को प्रकट करने और चलाने के उद्देश्य से वह कुछ समय तक 'प्रतीक' पत्र भी प्रकाशित करते रहे। प्रयोगवादी कवियों में से माचवे, भारतभूषण, रांगेय राघव, शैलेन्द्र, गजानन इत्यादि प्रसिद्ध हैं। ये कवि, जैसा कि अज्ञेय जी ने कहा है, "किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं, अभी राही हैं— राही नहीं, राहों के अन्वेषी।"[१] इस तरह प्रयोगवाद अभी अपनी निर्माण-अवस्था में है, अतएव अपना व्यवस्थित एवं निखरा हुआ रूप न होने के कारण इसमें अन्योक्ति-पद्धति में किसी काव्य या नाटक के रचे जाने की सम्भावना अभी कैसे हो? किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद की तरह अन्योक्ति-तत्त्व इसमें भी प्रविष्ट है। प्रयोगवाद की मुक्तक रूप में अन्योक्तियाँ हम पीछे दिखा आए हैं। किन्तु जो प्रयोगवादी अन्योक्तियाँ वाक्य-संदर्भो में दूर-दूर तक चली जाती हैं, उन्हें हम पद्धति के भीतर ही लाएँगे। उदाहरण के लिए शकुन्तला माथुर का परम्परागत रूढ़ियों से सड़े-गले समाज पर व्यंग्य कसते हुए नव समाजवादी विचार-धारा का प्रतीकात्मक चित्र देखिए :

> सड़ी झीलों से उड़ते आज
> लोभी मांस के बगले
> दबाये चोंच में मछली
> वहीं बैठे हुए हैं गिद्ध
> रहे हैं घूर
> मछली को
> गिरी जो
> चोंच से मछली
> लगाये घात बैठे हैं।
> डुबाता गंदी झीलें
> बढ़ रहा है
> आज यह चश्मा
> लिये ताजा नया पानी
> चला आता है
> यह चश्मा
> उगाता है शहीदों को
> किनारे पर बढ़ाता है

१. 'दूसरा सप्तक', पृ० ५२।

नये खूँ को
सदा आगे
डुबाता आ रहा है
वह विषैले रक्त के जोहड़
लिये ताज़ा नया पानी
चला आता है यह चश्मा
नया मानस लगाता आ रहा है
नया सूरज बनाता आ रहा है।[1]

---

१. 'दूसरा सप्तक', पृ० ५२।

६ : अन्योक्ति : ध्वनि

अन्योक्ति को ध्वनि-रूप बताने से पूर्व हम यह आवश्यक समझते हैं कि अन्योक्ति-सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं के विकास पर एक सिंहावलोकन कर लिया जाय। अन्योक्ति के सम्बन्ध में यह तो हम देख ही आए हैं कि किस तरह भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में इसका प्रारम्भिक रूप अथवा नाम 'अन्यापदेश' था, जिसे भरत ने अपने 'काव्य-लक्षणों' में से 'मनोरथ' के अन्तर्गत कर रखा था और किस तरह भरत के बाद साहित्य-मनीषियों ने उक्त 'लक्षणों' को तत्तत् अलंकार और गुण आदि में अन्तर्भुक्त करके उनका साहित्य के इतिहास में से सदा के लिए नाम ही मिटा दिया, यद्यपि अपवाद-स्वरूप रीतिकाल के आदिकवि केशव के ज्येष्ठ भ्राता बलभद्र मिश्र अन्योक्ति को अवश्य 'मनोरथ' हीं पुकारते रहे। अलंकार-संप्रदाय के आदि-प्रवर्त्तक भामह (५५० ई०) माने जाते हैं। इनके समय तक भरतकालीन ४ अलंकार ३८ तक पहुँच गए थे। इन्होंने अन्योक्ति अलंकार का नाम तो नहीं लिया, किन्तु अप्रस्तुत-प्रशंसा के सामान्य लक्षण में 'अन्य' शब्द का प्रयोग अवश्य[1] किया, जो बाद को 'अन्योक्ति' नामकरण में सहायक बना। इनके अनुसार अप्रस्तुत-प्रशंसा के सामान्य-विशेष, कार्य-कारण एवं सारूप्य निबन्धना—ये तीन भेद हैं, जिनमें से अन्योक्ति अन्तिम भेद में समाहित होती है। अप्रस्तुत-प्रशंसा में प्रशंसा शब्द का भामह ने स्तुति अर्थ किया है और इसी आधार पर संस्कृत और हिन्दी के कितने ही अलंकार-शास्त्रियों ने प्रशंसा शब्द को निन्दा का भी उपलक्षण मानकर सारूप्य-निबन्धना के स्तुति-रूप और निन्दा-रूप दो भेद कर लिए। सर्वप्रथम आचार्य मम्मट हैं, जिन्होंने प्रशंसा का अर्थ आक्षेप—अभिव्यंजना—किया है, किन्तु भामह की तरह माना अन्योक्ति को अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार का अन्यतम भेद ही। बाद को मम्मट, राजानक रुय्यक, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ, जय-

(मार्जिन: अन्योक्ति-सम्बन्धी धारणाएँ)

१. अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः
अप्रस्तुतप्रशंसा सा स्यात् त्रिविधा परिकीर्तिता। 'काव्यालंकार', ३।२९।

देव, अप्पय दीक्षित आदि संस्कृत के आचार्य एवं हिन्दी अलंकार-शास्त्रियों में से मतिराम, जसवंतसिंह, पद्माकर, भगवानदीन, रामदहिन मिश्र आदि भी भामह के ही मार्ग पर चले।

अन्योक्ति के 'अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत की अभिव्यक्ति' इस रूप में दण्डी भामह के ठीक विपरीत चले हैं। इनके विचारानुसार 'किसी वस्तु को हृदय में रखकर वैसी ही किसी दूसरी वस्तु के कथन में समासोक्ति होती है, क्योंकि यह समास अर्थात् संक्षेप-रूप होती है।'[1] 'काव्यादर्श' के टीकाकार आचार्य नृसिंहदेव ने तो स्पष्ट ही कर दिया है कि 'प्रस्तुत-अप्रस्तुतों में से एक—अप्रस्तुत—के प्रयोग द्वारा अन्य—प्रस्तुत—के व्यंजना से बोध को समासोक्ति कहते हैं।'[2] दण्डी के मत में अप्रस्तुत-प्रशंसा तो वहीं होती है, जहाँ अप्रस्तुत की स्तुति द्वारा प्रस्तुत की निंदा की जाय। आचार्य वामन भी दण्डी के ही मार्ग पर चले।[3] भोजराज के सम्बन्ध में हम बता आए हैं कि वे भी समासोक्ति को अन्योक्ति का पर्याय-शब्द मानकर दण्डी के अनुयायी रहे।[4] इसमें सन्देह नहीं कि भोजराज के समय में 'अन्योक्ति' विशेष रूप से शास्त्रीय चर्चा का विषय बन चुकी थी और अपने स्वतन्त्र एवं व्यापक रूप में थी, किन्तु बाद को आचार्य मम्मट के साहित्य-क्षेत्र में उतरते ही फिर 'अन्योक्ति' की स्वतन्त्र सत्ता जाती रही।

भामह और दण्डी की उपर्युक्त परस्पर विचार-विभिन्नता अन्योक्ति को कोई स्थिर एवं स्पष्ट रूप प्रदान न कर सकी। इसके अतिरिक्त अप्रस्तुत-प्रशंसा और समासोक्ति, ये दोनों नाम भी सन्देह से रहित न थे। पहला नाम जहाँ स्तुति और निन्दा की भ्रान्ति करता था, वहाँ दूसरा नाम संक्षेप की ओर ले जाकर प्रस्तुत और अप्रस्तुत की विभाजक रेखा को क्षीण कर देता था। ऐसी स्थिति में अन्योक्ति की स्पष्ट व्यवस्था सुतरां अपेक्षित थी। आचार्य रुद्रट ने इस

---

१. वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यस्य वस्तुनः।
उक्तिः संक्षेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते ॥ 'काव्यादर्श', २।२०५।

२. यत्र प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्द्वयोर्मध्ये एकस्याप्रस्तुतस्य प्रयोगेण अन्यस्य प्रस्तुतस्य व्यंजनया बोधः तत्र समासोक्तिरिति दण्डिलक्षणसारः।

'कुसुमप्रतिमा टीका।'

३. 'अनुक्तौ समासोक्तिः' उपमेयस्यानुक्तौ समानवस्तुनः न्यासः समासोक्तिः।
'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति', ४।३।४।

४. यत्रोपमानादेवैतदुपमेयं प्रतीयते।
अतिप्रसिद्धेस्तामाहुः समासोक्तिं मनीषिणः ॥
'सरस्वतीकण्ठाभरण', ४।४६।

दिशा में स्तुत्य कार्य किया। आपने सादृश्यमूलक अलंकारों में से अप्रस्तुत-प्रशंसा का एकदम बहिष्कार कर दिया। बात भी ठीक ही है, क्योंकि, जैसा हम कह आए हैं, अप्रस्तुत-प्रशंसा के कार्य-कारण भाव, तथा सामान्य-विशेष भाव सम्बन्ध वाले चार भेदों में सादृश्य रहता ही नहीं। इसीलिए आचार्य मुरारीदान के शब्दों में 'प्राचीनों ने कार्य-निबन्धना, कारण-निबन्धना नामक अप्रस्तुत-प्रशंसा के प्रकार कहे, सो भूल है। उक्त स्थानों में अप्रस्तुत-प्रशंसा नहीं है।'[1] उसके केवल तुल्य-से-तुल्य की प्रतीति वाले भेद में सादृश्य अथवा साधर्म्य के दर्शन होते हैं। उसे स्वीकार करके रुद्रट ने उसका 'अन्योक्ति' नामकरण किया। जैसा हम पीछे बता आए हैं—यही प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने अन्योक्ति को अप्रस्तुत-प्रशंसा की कारा से निकालकर अलंकारों की एक स्वतन्त्र इकाई का रूप दिया है। इसके विपरीत समासोक्ति को रुद्रट ने प्रस्तुत पर अप्रस्तुत व्यवहारारोप में माना है और रुद्रट की समासोक्ति और अन्योक्ति-विषयक यह मान्यता आज तक चली आ रही है, यद्यपि बाद को कुछेक अलंकार-शास्त्रियों में अन्योक्ति को पुनः अप्रस्तुत-प्रशंसा के भीतर बन्द कर रखने की प्रवृत्ति अवश्य परिलक्षित होती ही रही। वाग्भट्ट, केशव, भिखारीदास, लाल कवि, दीनदयाल गिरि और रमाशंकर शुक्ल आदि साहित्य-शास्त्री एवं कवि रुद्रट के अनुयायी हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त भामह, दण्डी और रुद्रट तीनों आचार्य अन्योक्ति के विषय में अलंकारवादी रहे। तीनों ने अन्योक्ति को जिस किसी भी नाम अथवा रूप में क्यों न माना हो, पर माना अलंकार ही। अलंकार—जैसा कि यह शब्द स्वयं अपना अर्थ रखता है—किसी अन्य में शोभा-आधान करने के निमित्त ही प्रयुक्त हुआ करता है और वह अन्य वस्तु काव्य में भाव अथवा रस ही हो सकता है। लोचनकार के शब्दों में—'नारियों के साधारण आभूषण कटक और केयूर आदि को ही ले लीजिए। वे भी तो उनके शरीर में रहकर उनकी आत्मा को, आत्मा के तत्तत् भाव-विशेषों को अभिव्यक्त करके अलंकृत कर देते हैं।'[2] यही हाल काव्यालंकारों का भी है। हम पीछे कह आए हैं कि सभी अलंकार कटक-केयूर जैसे बहिरंग नहीं होते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं, जो शरीर से 'सुश्लिष्ट' अथवा 'अपृथग्भूत' रहते हैं, जैसे दन्त-परिकर्म, केश-प्रसाधन, कुंकुम एवं हाव-भाव आदि शारीरिक विक्रियाएँ। लता-तरुओं से अपृथग्भूत फूल भी तो तरुओं के अलंकार कहे जाते हैं।

१. 'जसवन्तजसोभूषन', पृ० ११४।

२. कटककेयूरादिभिरपि हि शरीरसमवायिभिः आत्मैव तत्तच्चित्तवृत्तिविशेषौचित्यसूचनात्मतया अलंक्रियते। 'लोचन', पृष्ठ ७४-७५।

अन्योक्ति आदि भी इसी जाति के अलंकार हैं। इनका भाव को उत्तेजित करने तथा प्रेषणीय बनाने में पर्याप्त योग रहता है। वे भावांग होते हैं। भामह आदि अलंकार-शास्त्रियों की अन्योक्ति-विषयक अलंकारिता की मान्यता इसी तर्क पर खड़ी है। उसे एकदम अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

आनन्दवर्धन का मत

संस्कृत-साहित्य के इतिहास में आचार्य आनन्दवर्धन को ध्वनि-संप्रदाय का प्रवर्त्तक माना जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि काव्य में ध्वनि-तत्त्व इनसे पहले भी चर्चा का विषय बना हुआ था जैसा कि स्वयं आनन्दवर्धन ने भी स्वीकार किया है।[1] भामह, दंडी आदि अलंकारवादी आचार्य भी काव्य में रस-तत्त्व को मानते थे, जो ध्वनि का ही अन्यतम भेद है, किन्तु वे उसे स्वतन्त्र सत्ता नहीं देते थे। रस को रसवद् अलंकार कहकर उन्होंने अलंकार-तत्त्व के भीतर समाविष्ट कर लिया था। किन्तु 'काव्यस्य आत्मा ध्वनिः' का डिंडिम पीटकर ध्वनि को एक व्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय एक-मात्र आनन्दवर्धन को ही है। इसीलिए संस्कृत-साहित्य में इन्हें 'ध्वनिमत-प्रतिष्ठापनाचार्य' कहा जाता है। आपने अलंकार को काव्य के शोभादायक उपकरण-मात्र तक सीमित रखा और ध्वनि को काव्य की आत्मा—जीवित—माना। आपके मतानुसार अलंकार काव्य के शरीर-भूत शब्द और अर्थ में रहने वाली वस्तु है जब कि आत्मा शरीर से पृथक् होती है। वह अलंकार्य हो सकती है, अलंकार नहीं। संक्षेप में यही आनन्दवर्धन का ध्वनि-सिद्धान्त कहलाता है, जो बीच-बीच में किन्हीं विद्वानों द्वारा विरोध किये जाने पर भी साहित्य-जगत् में आज तक यथावत् मान्य बना चला आ रहा है। जहाँ तक अन्योक्ति के सम्बन्ध का प्रश्न है, आनन्दवर्धन ने इसे रुद्रट की तरह अप्रस्तुत-प्रशंसा की पराधीनता से ही उन्मुक्त नहीं किया, प्रत्युत अलंकार-मात्र की पंक्ति से हटाकर ध्वनि के उच्च आसन पर बिठाते हुए एकदम अलंकार से अलंकार्य बना दिया। बाद को कितनों ही में अन्योक्ति की यही मान्यता चल पड़ी। इसे हम अन्योक्ति की ध्वनिवादी धारणा कहेंगे।

ध्वनि स्वरूप

ध्वनि शब्द संस्कृत के 'ध्वन्' धातु से बना हुआ है जिसका मूल अर्थ 'शब्द करना' है, किन्तु अब यह विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है। ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन के शब्दों में "ध्वनि शब्द अथवा अर्थ का एक ऐसा व्यापार है, जिसमें शब्द अथवा अर्थ अपने को गौण बनाकर किसी अन्य अर्थ या अर्थों

1. काव्यस्यात्माध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः। 'ध्वन्यालोक', १।१।

को झलका देता अथवा अभिव्यक्त कर देता है।"[1] अर्थों की क्रमिक बोध-दशा में इसे 'अनुस्वान-सन्निभ' कहा गया है अर्थात् जिस तरह घण्टे आदि पर चोट मारते ही स्थूल शब्द तो तत्काल कानों में पड़ जाता है, किन्तु सूक्ष्म-सूक्ष्मतर शब्दों का सिलसिला बाद को कुछ देर तक चलता ही रहता है, उसी तरह अभिधा द्वारा शब्द का अपना स्थूल अथवा मुख्य अर्थ ज्ञात हो चुकने के बाद भी गूँज की तरह पीछे से एक अथवा कितने ही अन्य सूक्ष्म अर्थ क्रमशः अभिव्यक्त होते रहते हैं। किन्तु रसानुभूति-रूप में क्रम का बोध नहीं होता और वहाँ वह समूहात्मक एवं अखंड ही रहती है। यही अभिव्यज्यमान सूक्ष्म अन्य अर्थ और अनुभूति या उनकी अभिव्यक्ति ध्वनि (Suggestion) कहलाती है। इसकी प्रतीति हमें व्यंजना से हुआ करती है। लक्षणा तो स्थूल वाच्यार्थ के बाधित होने की अवस्था में ही उसका समन्वय करने के लिए आती है, इसलिए वह अभिधा की ही पुच्छभूत है; साथ ही सीमित भी है, व्यंजना की तरह स्वतन्त्र और व्यापक नहीं। व्यंजना-बोध्य होने के कारण ध्वनि को व्यंग्य अथवा प्रतीयमान अर्थ भी कहते हैं। यह व्यंग्य अथवा ध्वनित अर्थ ही काव्य में काव्यत्व का आधान करता है। इसके बिना काव्य काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं होता। काव्याभास उसे आप कहें तो कह लें, क्योंकि कला का वास्तविक चमत्कार अथवा सौन्दर्यानुभूति तो व्यंग्यार्थ में ही रहती है, जो कवि के हृदय को सर्व-संवेद्य और प्रेषणीय बनाता है। इसीलिए ध्वनिकार ने महाकवियों की वाणी में रहने वाली व्यंग्य-नामक इस विलक्षण वस्तु की तुलना अंगनाओं में सभी अवयवों से भिन्न झलकने वाले उनके लावण्य से की है।[2] पाश्चात्य साहित्य में भी व्यंग्य को बड़ा महत्त्व दिया गया है। 'शैली को आकर्षक बनाने के लिए अरस्तू ने जो साधारण नियम गिनाये हैं, उसमें से एक यह भी है कि लेखक अथवा वक्ता को अपनी कला स्पष्ट रूप में नहीं, बल्कि गुप्त रूप में प्रयुक्त करनी चाहिए और इसीमें कला की श्रेष्ठता है। व्यक्त कला की अपेक्षा अव्यक्त कला कहीं अधिक प्रभावपूर्ण होगी।'[3] अव्यक्त कला व्यंग्य-रूप ही हो सकती है। इसी तरह प्रसिद्ध कवि ड्रायडन की यह उक्ति कि 'जो कुछ स्थूल अर्थ कानों में पड़ता (कवि को) उससे अतिरिक्त अभिप्रेत रहता है' (More is meant than

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ 'ध्वन्यालोक', १।१३।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥ 'ध्वन्यालोक', १।४।

३. डॉ० एस० पी० खत्री, 'आलोचना: इतिहास तथा सिद्धान्त', पृष्ठ ६८।

meets the ear) स्पष्टत: व्यंग्यार्थ की सत्ता स्वीकार करती है। अंग्रेजी की आयरनी (Irony), एलेगरी (Allegory), सटायर (Satire), मेटाफर (Metaphor) आदि में व्यंग्य ही निहित रहता है। उदाहरण के लिए हम पीछे बिहारी की 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' वाली अन्योक्ति में बता आए हैं कि किस तरह वहाँ कहने वाले की 'एकान्त-हितैषिता, परिणाम-दर्शिता, विषयासक्त मित्र के उद्धार की गम्भीर चिन्ता' आदि भावों की ध्वनियाँ हैं।

ध्वनि के भेद

ध्वनि चाहे अभिधामूलक हो, लक्षणामूलक हो या व्यंजनामूलक, रूप उसके वास्तव में तीन ही होते हैं—वस्तु, अलंकार और रस। यद्यपि अलंकार भी एक वस्तु ही है, तथापि प्रचलित रूढ़ि के अनुसार वस्तु के भीतर अलंकारों को छोड़कर अन्य बातें ही ली जाती हैं। अलंकार यद्यपि वाच्य होने के कारण काव्य के शरीर-रूप होते हैं, तथापि कभी-कभी वे वाच्य न होकर व्यंग्य बने रह जाते हैं।[1] ऐसी अवस्था में वे काव्य में एक विलक्षण सौन्दर्य ला देते है, अतएव ध्वनि अथवा काव्यात्मा कहलाते हैं। लोचनकार के शब्दों में 'अलंकारों का यह व्यंग्य यों समझिए जैसे कि बालकों की क्रीड़ा में कभी कोई बालक राजा बन जाता है।'[2] ध्वनि-रूप हो जाने पर उपमादिक अलंकार नहीं रहते, अलंकार्य हो जाते हैं। फिर भी उनका साधारणत: अलंकार कहा जाना विश्वनाथ के विचारानुसार यों औपचारिक समझिए जैसे कि किसी ब्राह्मण के संन्यासी बन जाने पर भी लोग बाद में भी उसे यों कहते ही रहते हैं कि यह संन्यासी ब्राह्मण है।[3] रस भाव की अनुभूति-रूप होता है और विभाव, अनुभाव आदि के द्वारा व्यंग्य रहता है। किन्तु ध्यान रहे कि रस शब्द इस संदर्भ में व्यापक अर्थ में लिया जाता है, संकीर्ण अर्थ में नहीं; इसलिए इसके भीतर अनुभूति के विषय-भूत श्रृंगारादि रस, रसाभास, भाव और भाव-सन्धि आदि सभी समाहित हो जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आनन्दवर्धन ने वस्तु, अलंकार और रस, तीनों ही ध्वनियों को काव्यात्मा कहा है, तथापि, जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने भी स्वीकार किया है, काव्यत्व-निर्माण में इन्हें हमें परस्पर-सापेक्ष ही समझना

१. शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यंगतां गताः॥ 'ध्वन्यालोक', २८।

२. एवंभूता चेयं व्यंग्यता यदप्रधानभूताऽपि काव्यमात्रालंकारेभ्यः उत्कर्षमलंकाराणां वितरति बालक्रीडायामपि राजत्वमिव॥ 'लोचन'. पृ०, ११७।

३. व्यंग्यस्यालंकार्यत्वेऽपि 'ब्राह्मणश्रमण' न्यायादलंकारत्वमुपचर्यंते।'
'साहित्यदर्पण', ४।२०४।

चाहिए, स्वतन्त्र नहीं।[1] वस्तु अथवा अलंकार-ध्वनि यदि सौन्दर्य और रसानुभूति-पूर्ण न हो, तो वह अकेली काव्यत्व-निर्माण नहीं कर सकती। वस्तु-ध्वनि तो हमें भाषा में पद-पद पर मिल जाती है। उसके होने पर काव्य माना जायगा, तो विश्वनाथ के कथनानुसार 'देवदत्त गाँव को जाता है' यह वाक्य भी काव्य बन जाना चाहिए, क्योंकि इसके भीतर 'उसका भृत्य भी उसके पीछे जाता है' यह वस्तु-ध्वनि निकलती है।[2] इसी तरह 'सूर्य छिप गया है' इसमें भी 'अब हमें घर चलना चाहिए' यह वस्तु-ध्वनि है, किन्तु यह काव्य नहीं है। इसीलिए लोचनकार ने स्पष्ट शब्दों में कह रखा है कि 'ध्वनि-मात्र होने से काव्य-व्यवहार नहीं होता।'[3] यही कारण है कि लोचनकार, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने ध्वनियों में रस-ध्वनि को अधिक महत्त्व दिया। विश्वनाथ तो 'रसात्मक वाक्य' को ही काव्य मान बैठे। इस दृष्टि से अन्योक्ति-साहित्य का ऐसा भाग, जो वस्तुध्वनि-परक होता हुआ भी रसानुभूतिपूर्ण नहीं है, हमारे विचार से काव्य-कोटि के भीतर नहीं आ सकता, यद्यपि पंडितराज जगन्नाथ ने उसमें भी काव्यत्व मान रखा है।

अन्योक्ति का ध्वनित्व

वैसे तो हम देख आए हैं कि सभी अलंकार वाच्यावस्था से व्यंग्यावस्था में आकर ध्वनि के अन्तर्गत होते ही हैं, किन्तु अन्योक्ति के सम्बन्ध में यह बात नहीं। आनन्दवर्धन अन्योक्ति को अलंकारवादियों की तरह अलंकार न मानकर मूलतः ही ध्वनि मानते हैं। किन्तु हमें भूल नहीं जाना चाहिए कि ध्वनिकार का यह विचार अन्योक्ति के सारूप्य-निबन्धना अप्रस्तुत-प्रशंसा वाले भेद से ही सम्बन्ध रखता है, क्योंकि उसीके अप्रस्तुत-विधान में अभिव्यज्यमान वस्तु प्रधान होने के कारण ध्वनिरूप रहती है, समासोक्ति आदि में नहीं, जहाँ अभिव्यज्यमान वस्तु गौण रहा करती है और वाच्य को चमत्कृत करती है। व्यंग्य और ध्वनि के मध्य परस्पर जो थोड़ा-बहुत पारिभाषिक अन्तर है, उसे यहाँ स्पष्ट कर देना हमें आवश्यक प्रतीत होता है। वैसे तो व्यंग्य और ध्वनि साधारणतः समानार्थक समझे जाते हैं, किन्तु बात वास्तव में ऐसी नहीं है। व्यंग्य तो व्यंजना-द्वारा बोध्य कोई भी अर्थ हो सकता है जब कि ध्वनि वह व्यंग्य-

१. 'हिन्दी ध्वन्यालोक', भूमिका, पृ० ६६।

२. अन्यथा देवदत्तो ग्रामं यातीति वाक्ये तद्भृत्यस्य तदनुसरणरूप-व्यंग्यावगतेऽपि काव्यत्वं स्यात्। 'साहित्यदर्पण', परिच्छेद १।

३. तेन सर्वत्रापि न ध्वनन-सद्भावेऽपि तथा (काव्यत्वेन) व्यवहारः। 'लोचन', पृ० २८।

विशेष है, जो वाच्यातिशायी—वाच्यार्थ की अपेक्षा उत्कृष्ट, अधिक चमत्कारक एवं प्रधानभूत—हो ![1] भिखारीदास का भी यही कहना है :

वाच्य अर्थ ते व्यंग्य में, चमतकार अधिकार ।
धुनि ताही को कहत हैं, उत्तम काव्य विचार ।।

इस तरह जहाँ व्यंग्य का क्षेत्र व्यापक है, वहाँ ध्वनि का सीमित । हम देखते हैं कि कितने ही अलंकार ऐसे भी होते हैं, जिनमें व्यंग्यार्थ तो रहता है, किन्तु ध्वनि नहीं रहती । उदाहरण के लिए अपन्हुति, दीपक, आक्षेप और पर्यायोक्ति आदि में से पर्यायोक्ति को ले लीजिए । पर्यायोक्ति में व्यंग्य बात घुमा-फिराकर कही जाती है, जैसे :

मातु पितुहि जनि सोच बस, करहि महीप किसोर ।
गर्भन के अर्भक दलन, परसु मोर अतिघोर ।। (रामचरित मानस)

लक्ष्मण के प्रति परशुराम की इस उक्ति में यह व्यंग्य है कि 'मैं तुम्हें मार डालूँगा', किन्तु वह वाच्यार्थ की अपेक्षा उत्कृष्ट एवं अधिक चमत्कारी नहीं, अतएव यहाँ उक्त व्यंग्य ध्वनि बनने से रह जाता है । यही हाल अपन्हुति आदि अलंकारों का भी समझिए । उनमें उपमान-उपमेय भाव व्यंग्य अवश्य रहता है, किन्तु प्रधानंता उपमान-उपमेय भाव की नहीं, बल्कि अपन्हव आदि की रहती है, क्योंकि जो उत्कर्ष वहाँ वाच्य अपन्हव में है, वह व्यंग्य औपम्य में नहीं । हाँ, उपर्युक्त अलंकारों में यदि व्यंग्य कदाचित् उत्कृष्ट और प्रधान बन जाय, तो उसे ध्वनि-रूप मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं । उदाहरण के लिए प्राकृत की इस प्रसिद्ध ध्वनि-रूप बनी पर्यायोक्ति को देखिए :

भम धम्मिअ ! बीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण ।
गोलाणई-कच्छ-कुडंग—वासिणा दरिअ-सीहेण ।।[2]

यहाँ कोई पुंश्चली, जो गोदावरी के तीरवर्ती कुञ्जों में प्रात: अपने उपपति से मिला करती थी, वहाँ, प्रात: फूल तोड़ने के लिए आने वाले किसी भक्त को अपने मार्ग में बाधक समझकर उसको आने से रोकना चाहती है, किन्तु देखिए बोलती

१. वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम् ।। 'साहित्य-दर्पण', ४।१ ।
२. हाल, 'गाथा-सप्तशती', २।७५ ।

हिन्दी रूपान्तर :

गोदावरी कूल के कुञ्जों में जो रहता है मृगराज,
अरे पुजारी ! उस केहरि ने मार दिया कुत्ते को आज ।
जो सर्वदा तुम्हें करता था परेशान, पर अब निर्भय
होकर उन कुञ्जों में विचरो, करो फूल-फल का संचय ।।

वह किस ढंग से है कि भक्त जी महाराज, अब तुम निर्भय होकर इन कुञ्जों में घूमा करो ! यहाँ वाच्यार्थ विधि-रूप है, पर व्यंग्यार्थ यों प्रतिषेध-रूप है कि भले मानुस, सिंह ने आज कुत्ता खा लिया है। कल तुम्हारी बारी है। यदि जान प्यारी है, तो कल से यहाँ फूल तोड़ने भूलकर भी मत आना ! वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ के प्रधान एवं अधिक चमत्कारपूर्ण होने से वह यहाँ ध्वनि-रूप है। किन्तु आलोच्य अलंकारों की ऐसी ध्वनि-रूप अवस्था देखने में बहुत ही कम आती है। वहाँ व्यंग्य रहने पर भी उसके वाच्यार्थ के अनुगामी होने के कारण साधारणतः वाच्यार्थ ही प्रधान रहता है, व्यंग्यार्थ नहीं। अतएव ध्वनिकार के विचारानुसार उक्त अलंकार ध्वनि नहीं बन सकते।[1] उन्हें हम गुणीभूत व्यंग्य कह सकते हैं। किन्तु सारूप्य-निबन्धना अप्रस्तुत-प्रशंसा 'अन्योक्ति' ऐसी नहीं होती। इसमें तो वाच्य अप्रस्तुत को कभी प्रधानता मिलती ही नही, व्यजित प्रस्तुत ही सदा प्रधान रहता है। 'नहि पराग नहि मधुर मधु' आदि अन्योक्तियों में हम पीछे देख आए हैं कि किस तरह वहाँ कवि को राजा आदि ही प्रधानतया विवक्षित रहते हैं, भ्रमर आदि नहीं। इसलिए आनन्दवर्धन के कथनानुसार सारूप्य-निबन्धना "वाच्य अप्रस्तुत तुल्य पदार्थ के प्रधानतया अविवक्षित रहने से ध्वनि-रूप ही सिद्ध होती है।"[2] इस सम्बन्ध में हिन्दी के प्रसिद्ध अलंकार-शास्त्री कविराज मुरारीदान भी आनन्दवर्धन के ही अनुयायी हैं। इनके विचारानुसार भी "प्राचीनों ने अप्रस्तुत से प्रस्तुत की गम्यता में अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार का स्वरूप समझा है, सो भूल है। वह तो व्यंग्य का विषय है, अलंकार नहीं।"[3] व्यंग्य से कविराज जी को ध्वनि अभिप्रेत है, अन्यथा व्यंग्य की विषय बनी हुई भी अपन्हुति आदि को हम पीछे अलंकार देख ही आए हैं। यहाँ यह ध्यान रहे कि काव्य में अलंकार का स्थान उपस्कारक रूप में रहता है जबकि ध्वनि का उपस्कार्य के रूप में। आचार्य शुक्ल भी कबीर आदि सन्त कवियों की रहस्यवादी रचनाओं को अन्योक्ति स्वीकार करते हुए उनमे 'प्रत्यक्ष व्यापार के चित्र को लेकर उससे दूसरे परोक्ष व्यापार के चित्र की व्यंजना'[4] मानते हैं।

१. व्यंग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ।।
'ध्वन्यालोक', का० १३ की वृत्ति।

२. अप्रस्तुततस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तःपातः। 'वही'।

३. 'जसवन्तजसोभूषन', पृष्ठ ११४।

४. 'कबीर ग्रंथावली', भूमिका, पृष्ठ ६०।

प्रधान होने के कारण यह व्यंजना ध्वनि-रूप ही हो सकती है। इसी तरह जायसी के 'पद्मावत' में अन्योक्तियों का समन्वय दिखाते हुए शुक्लजी एक यह उदाहरण भी देते हैं :

कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाई।
अबहुँ बेलि फिर पलु है, जो पिय सींचै आइ।।[1]

उन्हीं के शब्दों में 'यहाँ जल-कमल का प्रसंग प्रस्तुत नहीं है, प्रस्तुत है विरहिणी की दशा। अतः अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना होने के कारण "अन्योक्ति" है।' यह प्रस्तुत व्यंजना स्पष्टतः वस्तु-ध्वनि है। दूसरी जगह शुक्लजी प्रबन्धगत लौकिक प्रस्तुत-वर्णन में अध्यात्म-पक्ष की अभिव्यक्ति को समासोक्ति मानते हुए उदाहरण के रूप में पद्मावती की यह उक्ति देते हैं :

पिउ हिरदय महुँ भेंट न होई। को रे मिलाव, कहौं केहि रोई।[2]

'ईश्वर तो अन्तःकरण में ही है, पर साक्षात्कार नहीं होता। किस गुरु से कहें कि जो उपदेश देकर मिलाये।' किन्तु इस अध्यात्म पक्ष की वस्तु-व्यंजना को शुक्लजी अर्थशक्त्युद्भव एवं संलक्ष्यक्रम व्यंग्य मानते हैं, जिन्हें सभी साहित्यकारों ने स्पष्टतः वस्तु-ध्वनि के भीतर सन्निविष्ट कर रखा है। इस तरह शुक्लजी का झुकाव अन्योक्ति के सम्बन्ध में उसके ध्वनित्व की ओर लक्षित होता है। डॉ० सुधीन्द्र ने अन्योक्ति को चमत्कारात्मक कोटि वाले काव्य के भीतर रखा है। चमत्कार प्रायः ध्वनि-मूलक ही रहता है। अतः सुधीन्द्र के अनुसार भी 'अन्योक्ति-विधान में वस्तुतः एक बड़ी शक्ति है और वह है व्यंजना। उसे हम ध्वनि भी कह सकते हैं।' किन्तु 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' वाली अन्योक्ति का समन्वय करते हुए सुधीन्द्र उसी कलम की नोक से यह भी लिख बैठे हैं कि 'उसके पराग, मधु, विकास, कली और अलि (मधुकर), 'प्रस्तुत' होते हुए भी किन्हीं 'अप्रस्तुतों' के सूचक थे।'[3] यही बात वे रूपनारायण पांडेय की 'दलित कुसुम' एवं माखनलाल चतुर्वेदी की 'पुष्प की अभिलाषा' इत्यादि अन्योक्तियों के सम्बन्ध में भी मानते हैं, जो सर्वथा ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं। ध्वनिकार के अनुसार व्यज्यमान के 'अप्रस्तुत' मानने से व्यंग्य की प्रधानता जाती रहती है और वह ध्वनि-कोटि में नहीं आ सकता। हम देख आए हैं कि किस तरह ध्वनिकार ने इसी आधार पर अपन्हुति आदि अलंकारों में स्थित व्यंग्य को ध्वनि-रूप में स्वीकार नहीं किया। अस्तु, यह तो निश्चित है कि अन्योक्ति के विषय में ध्वनिकार की ध्वनिवादी मान्यता का महत्त्व हिन्दी

१.२. 'जायसी ग्रन्थावली', भूमिका, पृष्ठ ५७-५८।

३. 'हिन्दी कविता में युगान्तर', पृष्ठ ३१३।

के साहित्य-शास्त्री भी अनुभव करने लग गए हैं। जैसा कि हम पीछे देख आए हैं रामदहिन मिश्र तो अन्योक्ति की मूलतत्त्व-भूत अप्रस्तुत-योजना को 'काव्य का प्राण, कला का मूल और कवि की कसौटी'[1] तक मान बैठे हैं। यह सच है कि ध्वनि ही काव्य का प्राण है। आनन्दवर्धन अन्योक्ति को ध्वनि तो सिद्ध कर गए, किन्तु वस्तु, अलंकार और रस, इन तीन ध्वनियों में से वह कौनसी है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। हमारे विचार से तो अन्योक्ति में तीनों ही ध्वनियाँ रहती हैं, जो परस्पर-सापेक्ष होकर कार्य करती हैं।

हम पीछे जितनी भी मुक्तक अथवा पद्धति-रूप में अन्योक्तियाँ बता आए हैं, वे सभी वस्तु-ध्वनि के उदाहरण हैं। उनमें कोई वस्तु ध्वनित रहती है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वस्तु को

अन्योक्ति : वस्तु-ध्वनि

ध्वनित मात्र करके अन्योक्ति समाप्त हो जाती है। ध्वनित वस्तु सुन्दर और मर्मस्पर्शी भी होनी चाहिए। मर्मस्पर्शिता तभी आ सकती है जब कि उसमें कुछ रागात्मक तत्त्व हो, अतः अन्योक्ति वस्तु-ध्वनि से आगे चलकर भाव और रस की भी व्यंजना करती हुई संवेदनात्मक बन जाती है, जैसे :

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देख विहंग ! विचार।
बाज ! पराये पानि पर तू पंछी हि न मार॥ (बिहारी)

इस अन्योक्ति में बाज़ के प्रतीक द्वारा मुगल-राज्य की श्रीवृद्धि के लिए निरीह जनता के करुण कुटीरों को उजाड़ने एवं उनका खून बहाने वाले प्रस्तुत जयपुर-नरेश का चित्र दिखाना ही कलाकार का ध्येय नहीं है। उसे जयसिंह के इस गर्हित कर्म के प्रति बड़ी घृणा है। उसी घृणा को वह संचारित करना चाहता है। उसे दीनों के साथ सहानुभूति है, उन पर होने वाले अत्याचार को देखकर उसका हृदय दया से भर आता है। ये सब भाव इस अन्योक्ति में छलछला रहे हैं, जो वस्तु-ध्वनि द्वारा अभिव्यक्त होते चले जाते हैं। इसी तरह कबीर की भी एक अन्योक्ति लीजिए :

साँझ पड़े दिन बीतवे चकई दीन्हा रोय।
चल चकवा वा देश में जहाँ रैन नहिं होय॥

यहाँ क्या सांसारिक सुखों की अनित्यता से छटपटाते हुए जीव-रूप प्रस्तुत के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं? नहीं, कवि-व्यापार इसके भी आगे जाता है। वस्तु-ध्वनि के पीछे आशंका, चिन्ता, उत्सुकता आदि भावों की व्यंजना चलती है, जो अश्रु अनुभाव को साथ लेकर विप्रलम्भ का चित्र खड़ा कर देती है।

१. 'काव्य में अप्रस्तुत-योजना', पृष्ठ ७३ (सं० २००५)।

विप्रलम्भ भी अन्ततोगत्वा निर्वेद की व्यंजना करके शान्त रस का पोषक बन जाता है। आचार्य शुक्ल भी इस बात को मानते है कि 'व्यंजना शक्ति के द्वारा एक के बाद एक वस्तुओं और भावों की माला-की-माला व्यंजित हो सकती है।'[१] इस तरह अन्योक्ति की वस्तु-ध्वनि अनुभूति-परक हुआ करती है। अनुभूति-रहित होने पर उसका काव्य में महत्त्व ही नहीं रहेगा। विश्वनाथ आदि आचार्यों द्वारा रस-ध्वनि को काव्य की आत्मा माने जाने के सिद्धान्त का रहस्य भी यही है। हमारे विचार से वे आनन्दवर्धन के ध्वनिवाद को स्वीकार करते हुए भी जो अन्योक्ति को भामह की तरह अलंकारों के भीतर लेते आ रहे हैं, उसका अभिप्राय भी यही हो सकता है कि अनुभूति को उत्तेजना देने के कारण वस्तु-ध्वनि अन्ततः रसांग हो जाती है, स्वतन्त्र नही रहती। इस तरह रसोपकारक होने से अन्योक्ति में भी वैसी ही अलंकारिता आ जाती है जैसी उपमा आदि में। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि जहाँ उपमा-अनुप्रास आदि का अनुभूति से सम्बन्ध वाच्य-वाचक की चारुता के माध्यम से होता है, वहाँ अन्योक्ति का ध्वनि के माध्यम से। हम देखते हैं कि जब कोई भी भाव या स्वयं रस ही किसी दूसरे भाव या रस का अग बन जाता है, तब वह भी तो अलंकार-कोटि में आता ही है। ऐसे भावात्मक अलंकारों को साहित्यकारों ने रसवद् आदि नाम दिये हैं। किन्तु ध्यान रहे कि वैसे वस्तु-ध्वनि अपने स्वतन्त्र रूप में अलंकार्य ही है जैसा कि आनन्दवर्धन मानते हैं। कारण स्पष्ट है। वाच्य-वाचक की चारुता के कारण-भूत उपमा-अनुप्रास आदि अलंकार ध्वनि के अंग होते है जब कि ध्वनि अंगी। इस तरह अन्योक्ति के सम्बन्ध में अलंकारवादी और ध्वनिवादी सम्प्रदायों के मध्य परस्पर जो भेद है, वह अन्योक्ति के प्रति दृष्टिकोण एवं उसकी प्रयोजनीयता का भेद है, उसके स्वरूप का नहीं। इस-लिए अन्योक्ति के सम्बन्ध में अलंकारत्व और ध्वनित्व वाले दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय हो जाता है। एक ही वस्तु निमित्त-भेद से साध्य और साधन दोनों हो सकती है, यह लोक में प्रत्यक्ष ही है।

अन्योक्ति: अलंकार-ध्वनि

अन्योक्ति में वस्तु-ध्वनि भी स्वभावतः ही अनुगत रहती है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत के मध्य परस्पर जिस साम्य के आधार पर अन्योक्ति का कलेवर खड़ा हुआ रहता है, वह वास्तव में उपमा का कार्य है। इसलिए जिस तरह अप्रस्तुत से प्रस्तुत वस्तु व्यंग्य रहा करती है, उसी तरह उन दोनों का परस्पर साम्य भी व्यंग्य ही रहा करता है। उदाहरण के

१. 'रस-मीमांसा', पृष्ठ ३८६।

लिए पं० गिरिधर शर्मा की 'कलंकी को एड्रेस' शीर्षक वाली पूर्व-निर्दिष्ट इस श्लिष्ट अन्योक्ति को लीजिए :

रे दोषाकर ! पश्चिम बुद्धि !
कैसे होगी तेरी शुद्धि ?
द्विज-गण को कोने बैठाया,
जड़ दिवान्ध को पास बुलाया ![1]

यहाँ पाश्चात्य सभ्यता में रँगा हुआ मनुष्य और चन्द्रमा दोनों का व्यंग्य साम्य होने से उपमा-ध्वनि स्पष्ट ही है, किन्तु इस अन्योक्ति में यह साम्य शब्द-गत ही है, अर्थ-गत नहीं। दीनदयाल गिरि की 'भूप-कूप श्लेष' 'सज्जन-ढेकुल श्लेष' जैसी अन्योक्तियाँ भी इसी जाति की हैं। प्रसाद की 'कामायनी' में 'श्रद्धा' और 'इड़ा' भी तो श्लेष-गर्भित ही हैं, जो व्यक्ति और मनोवृत्ति दोनों का प्रतिनिधित्व करती हैं। श्लेष शब्द में ही रहे, ऐसी बात नहीं, वह अर्थ में भी रहा करता है। अर्थ-श्लेष में शब्दों के बदल दिये जाने पर भी अन्योक्ति का चमत्कार यथावत् बना रहता है। उदाहरण के लिए 'संगम' कवि द्वारा खींचा हुआ 'वचन-विदग्धा' नायिका का निम्नलिखित चित्र देखिए :

तीर है न बीर कोऊ करै ना समीर धीर,
बाढ्यो स्रम-नीर अति रह्यौ ना उपाउ रे।
पंखा है न पास, एक आस तेरे आवन की,
सावन की रैन मोहि मरत जियाउ रे।।
'संगम' मैं खोलि राखी खिरकी तिहारे हेतु,
होति हौं अचेत तन तपत बुझाउ रे।
जान-जाल जान क्यों न कीजिए उताल गौन,
पौन मीत ! मेरे भौन मन्द-मन्द आउ रे।।

यहाँ 'पौन' अप्रस्तुत है। उसके द्वारा व्यज्यमान प्रियतम प्रस्तुत है। दोनों में आर्थिक साम्य है। आर्थिक साम्य कहीं स्वरूपगत होता है, कहीं गुणक्रिया-गत और कहीं प्रभाव-गत। किन्तु यह निर्विवाद है कि साम्य शाब्दिक अथवा आर्थिक किसी भी तरह का क्यों न हो, वह अन्योक्ति में कहीं भी वाच्य नहीं होता। इस तरह व्यंग्य साम्य अन्योक्ति में निसर्गत: उपमा-ध्वनि का निर्माण किये रहता है। पर स्मरण रहे कि वस्तु-ध्वनि की तरह अलंकार-ध्वनि भी रसानुभूति-परक होने पर ही काव्य-कोटि के भीतर आ सकेगी। नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में 'रस-रहित वस्तु-ध्वनि और रस-रहित अलंकार-ध्वनि की कल्पना

१. 'सरस्वती', फरवरी, १६०८।

नहीं की जा सकती।'[1] पूर्वनिर्दिष्ट अन्योक्तियों की उपमा-ध्वनियों में शृंगाराभास या शृङ्गार की अनुभूति स्पष्ट ही है।

अन्योक्ति : रस-ध्वनि

अन्योक्ति में रस-ध्वनि के प्रश्न पर विचार करने से पूर्व हमें यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ जहाँ सदा नियत रहते हैं, वहाँ व्यंग्यार्थ अनियत। वक्ता, श्रोता, प्रकरण, देश, काल आदि के भेद से व्यंग्य कितने ही प्रकार का होता है। इसके अतिरिक्त एक और बात यह भी है कि वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ सर्वदा शब्द में ही रहते हैं जब कि व्यंग्यार्थ शब्द, अर्थ और रस, भाव आदि सभी में रह सकता है। हम देख आए हैं कि रस भावों की अनुभूति-रूप हुआ करता है। वह सदैव व्यंग्य रहता है, वाच्य नहीं होता। इसमें सन्देह नहीं कि रस की निर्मापक सामग्री में विभाव और अनुभाव ऐसे हैं, जो वाच्य रहते हैं, लेकिन संचारी और स्थायी भावों को साथ में मिलाकर उन सबकी समूहात्मक अनुभूति, जिसे हम रस कहते हैं, सदा व्यंग्य ही रहा करती है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि 'रस' शब्द कह देने मात्र से हमें कोई अनुभूति नहीं होती। वह तो तभी होती है जब कि उसकी विभावादि-सामग्री हो। जहाँ तक अन्योक्ति का सम्बन्ध है, हम पीछे कह आए हैं कि साहित्यकारों को 'उक्ति' शब्द से अभिधा ही नहीं, प्रत्युत व्यंजना भी अभिप्रेत होती है। समासोक्ति अलंकार में उक्ति शब्द की व्याख्या करते हुए 'काव्य-प्रकाश' के प्रसिद्ध टीकाकार वामन ने 'उक्तिर्वचन बोधनमित्यर्थः व्यञ्जनया प्रतिपादनमिति यावत्'[2] कहकर स्पष्ट कर ही रखा है। इसलिए अन्योक्ति में जहाँ एक प्रस्तुत या अप्रस्तुत रस से दूसरे, अप्रस्तुत या प्रस्तुत रस की अभिव्यक्ति होगी, वहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही रस व्यंग्य रहेंगे, न कि एक वाच्य और दूसरा व्यंग्य, जैसा कि वस्तु-ध्वनि में हुआ करता है। अन्योक्ति में एक रस से दूसरे रस की व्यंजना के लिए उदाहरण-रूप में हम कबीर की पूर्व-उल्लिखित चकवा, चकवी वाली अन्योक्ति को ही ले लेते हैं। इसमें शृङ्गार रस अप्रस्तुत है और उसके द्वारा व्यंग्य शान्त रस प्रस्तुत। यही बात अन्य सभी रहस्यवादी अन्योक्तियों में भी समझ लीजिए। उनमें शृंगार का प्रस्तुत लौकिक आधार कुछ भी नहीं रहता। शृंगार की कल्पना-मात्र रहती है, जो अन्ततोगत्वा शान्त रस में पर्यवसित होती है। परमार्थ-प्राप्ति की कठोर साधना को शृंगार का परिधान पहनाने की अथवा यों कहिए कि भगवद्भक्ति की कड़वी कुनीन को शृङ्गार की 'सित शर्करा' से

१. 'आधुनिक साहित्य', पृ० ७५।

२. 'काव्य-प्रकाश', वामनी टीका, पृ० ६११।

आवेष्टित—शूगर कोटेड—करने की प्रथा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। कारण यह है कि ब्रह्म के साथ जीवात्मा के अभेद-मिलन-विषयक आनन्दानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए हमारे पास लौकिक दाम्पत्य-प्रणय के अतिरिक्त और कोई अन्य इतनी मधुर कल्पना अथवा गोचर-विधान या प्रतीक हो ही नहीं सकता है। अतः रहस्यवादी शृङ्गार में सर्वत्र शान्त रस की ध्वनि का प्राधान्य रहता है।

शृङ्गार और शान्त का विरोध-परिहार

साधारणतः शृङ्गार और शान्त परस्पर-विरोधी रस कहे जाते हैं। दोनों के मूल में काम करने वाली प्रेम और निर्वेद नाम की स्थायी वृत्तियाँ एक जगह नहीं रह सकतीं। किन्तु ध्वनिकार और काव्य-प्रकाशकार ने इनका विरोध नैरन्तर्य-कृत ही माना है अर्थात् एक के वर्णन करने के ठीक बाद दूसरे का वर्णन नहीं होना चाहिए। आचार्य मम्मट के शब्दों में 'यदि दोनों रसों में से एक स्मर्यमाण रूप में रहे अथवा विभावादि निर्मापक-सामग्री एक-सी होने के कारण दोनों सम-रूप से विवक्षित हों या दोनों का किसी अंगी में अंगभाव हो, तो इनमें विरोध नहीं रहता।'[1] इस प्रसंग में स्वयं मम्मट ने समान रूप से विवक्षित शान्त और शृङ्गार का समन्वित चित्र उदाहरण के रूप में यह दिया है :

> **दन्त-क्षतानि करजैश्च विपाटितानि**
> **प्रोद्भिन्न-सान्द्र-पुलके भवतः शरीरे।**
> **दत्तानि रक्त-मनसा मृगराज-वध्वा**
> **जात-स्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि।**[2]

यह भगवान् बुद्ध के जीवन की उस समय की घटना है जब कि बच्चे को जन्म देकर भूख से विह्वल कोई सिंहनी अपने उसी नवजात बच्चे को खाने को तैयार हो जाती है। भगवान् बुद्ध आहार-रूप में अपना आनन्द-पुलकित शरीर भोजनार्थ

---

१. **स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः।**
अंगिन्यंगत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम्॥ (काव्य-प्रकाश ७।६५)

२. **'काव्यप्रकाश', ७।३३७।**

हिन्दी-रूपान्तर :

> **सघन पुलक से पूर्ण आपके तन पर,**
> **रक्तमना मृगराज-वधू के मारे।**
> **दन्त-क्षत और नख-प्रहार देखकर,**
> **मुनि भी थे मन में ललचाये सारे।**

उसके आगे समर्पण कर देते हैं, जिसे देखकर मुनिगणों में भी स्पृहा हो जाती है कि क्यों न हम भी इसी तरह परोपकार के लिए आत्म-त्याग करें। यहाँ प्रस्तुत रस शान्त (ध्वनिकार के अनुसार दया-वीर रस) है, किन्तु शृङ्गार रस की भी पूरी तुल्य सामग्री है। 'रक्त-मना' और 'मृगराज-वधू' में भाषा की समास-शक्ति अपने भीतर एक ही शब्द में शान्त और शृङ्गार दोनों के विभावों को समेटे हुए हैं। पुलक, दन्तक्षत और नख-प्रहार दोनों रसों के अनुभाव भी समान हैं। इस तरह यहाँ शान्त में शृङ्गार रस की व्यञ्जना हो जाती है; दोनों रस भक्ति के अंग हैं। इसमें विरोध की बात नहीं उठती। इसके अतिरिक्त, जैसा कि आजकल हम देखते हैं, सभी वस्तुओं का नवीन दृष्टिकोणों से मूल्यांकन हो रहा है। पुरानी कितनी ही मान्यताएँ टूट रही हैं और जीवन की नई-नई परिस्थितियों के अनुसार साहित्य में नित्य नई-नई उद्भावनाएँ हो रही हैं। ऐसी स्थिति में अब तो रस का मनोविज्ञान भी बदल रहा है। कलाकार एक ही आलम्बन और आश्रय में विरोधी स्थायी भावों को दिखाने लग गए है जो पुराने नियमानुसार निषिद्ध है। प्रसाद के 'आकाश-दीप' (कहानी-संग्रह) की एक नायिका चम्पा जहाँ एक ओर नायक बुद्धगुप्त के प्रति अगाध प्रेम रखती है, वहाँ दूसरी ओर, चाहने पर भी उसके साथ विवाह नहीं करती। क्योंकि उसने नायिका के पिता का वध किया है, इसलिए उसके हृदय में नायक के प्रति अत्यन्त घृणा है। इसी तरह जैसा कि हम पीछे देख आये हैं—रस-विज्ञान को नवीन आलोक में रखकर व्याख्या करने वाले सेठ गोविन्ददास ने अपने 'नवरस' में एक ओर वीरसिंह और प्रेमलता का परस्पर प्रेम दिखाकर वीर और शृङ्गार का विरोध शमन किया, तो दूसरी ओर करुणा और प्रेमलता को साथ रखकर करुण और शृंगार का भी समन्वय दिखाया है। इसलिए हमारे विचार से रहस्यवाद में शृङ्गार और शान्त के साथ-साथ रहने में कोई रस-दोष नहीं आना चाहिए। वैसे शास्त्रीय दृष्टि से भी देखा जाय, तो भी कोई आपत्ति नहीं उठती, क्योंकि दोनों एक-दूसरे के समनन्तर नहीं चलते हैं, बल्कि समानान्तर चलते हैं।

पद्मावत और कामायनी में शान्तरस-ध्वनि

जायसी के 'पद्मावत' और प्रसाद की 'कामायनी' में क्या प्रस्तुत रस-शृङ्गार है, जो आनुषंगिक रूप से अध्यात्म-पक्ष को ध्वनित करता है या शृङ्गार-रस अप्रस्तुत है, जो मुख्यत: शान्त-रस को ध्वनित करता है? इस प्रश्न पर समीक्षकों के दो मत हो सकते हैं। हम पीछे देख आए हैं कि किस तरह आचार्य शुक्ल ने पद्मावत के ऐतिहासिक पक्ष को प्रस्तुत मान रखा है। उनके विचार से 'पद्मावत' शृङ्गार-रस-प्रधान काव्य है। इसका मुख्य

कारण यह है कि जायसी का लक्ष्य प्रेम-पथ का निरूपण है।'[1] प्रेम-पथ से उन्हें लौकिक प्रेम अभिप्रेत है, किन्तु उसका वस्तु-विन्यास कुछ इस ढंग का है कि उसमें आनुषंगिक भगवत्पक्ष भी व्यंग्य-रूप से मुखरित हो जाता है। इस सम्बन्ध में स्वयं शुक्लजी प्रश्न करते हैं कि 'क्या एक वस्तु-रूप अर्थ से दूसरे वस्तु-रूप अर्थ की व्यंजना की तरह एक पक्ष का भाव दूसरे पक्ष के भाव को ध्वनित कर सकता है ?' शुक्लजी के ही शब्दों में, विचार के लिए यह पद्य लीजिए :

पिय हिरदय महुँ भेंट न होई। को रे मिलाव, कहौं केहि रोई ॥

ये पद्मावती के वचन हैं, जिनमें रतिभाव-व्यंजक 'विषाद' और 'औत्सुक्य' का व्यंजना है। ये वचन जब भगवत्पक्ष में घटते हैं, तब भी इन भावों की व्यंजना बनी रहती है। इस अवस्था में क्या हम कह सकते हैं कि प्रथम पक्ष में व्यंजित भाव दूसरे पक्ष में उसी भाव की व्यंजना करता है ? नहीं, क्योंकि व्यंजना अन्य अर्थ की हुआ करती है, उसी अर्थ की नहीं। उक्त पद्य में भाव दोनों पक्षों में वे ही हैं। आलम्बन भिन्न होने से भाव अपर (अन्य और समान, समानता अपरता में ही होती है) नहीं हो सकता। प्रेम चाहे मनुष्य के प्रति हो, चाहे ईश्वर के प्रति, दोनों पक्षों में प्रेम ही रहेगा। अतः यहाँ वस्तु से वस्तु ही व्यंग्य है'।[2] शुक्लजी की तरह डा० नगेन्द्र भी पद्मावत में वस्तु-ध्वनि ही मानते हैं। उनके विचार से 'इस प्रकार के अन्योक्ति या रूपक-काव्य के द्वारा रस की व्यंजना न होकर अन्ततः सिद्धान्त (वस्तु) की ही व्यंजना होती है, इसलिए यह उत्तमोत्तम (रस-ध्वनि) काव्य के अन्तर्गत नहीं आता। रूपक-काव्य जहाँ तक कि उसके रूपक-तत्व का सम्बन्ध है, मूलतः वस्तु-ध्वनि के ही अन्तर्गत आता है और यह वस्तु भी गूढ़ व्यंग्य होती है। अतएव इसकी श्रेणी रस-ध्वनि से निम्नतर ठहरती है'।[3] दूसरी ओर डॉ० शम्भूनाथ सिंह 'मोक्ष-प्राप्ति ही पद्मावत का प्रधान फल' मानते हुए इसे 'मूलतः आध्यात्मिक काव्य' कहते हैं।[4] सिंह जी के शब्दों में 'पद्मावत में जायसी की महत्प्रेरणा उनकी अद्वैत-चेतना है। जायसी सिद्ध फकीर थे, आध्यात्मिक साधना की ओर उन्हें उन्मुख करने वाली कोई घटना घटित हुई होगी या किसी गुरु ने उन्हें प्रेम-मार्ग का मंत्र दिया होगा। किन्तु ये सभी बातें तो बाह्य हैं, मूल वस्तु तो परम सत्ता के लिए वह व्याकुलता और तड़पन है जो जायसी के हृदय में प्रसुप्त रूप में पहले ही

१. 'जायसी ग्रन्थावली', भूमिका, पृ० ७१।
२. वही, पृ० ५८।
३. 'हिन्दी ध्वन्यालोक', भूमिका, पृष्ठ ५६।
४. 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास', पृष्ठ ४३१-३२।

से थी और जो पद्मावत में आदि से अन्त तक उसकी प्राण-शक्ति के समान व्याप्त दिखाई देती है। ······ यह विश्वास जायसी के हृदय में इतनी गहराई तक पैठा हुआ था कि पद्मावत की पंक्ति-पंक्ति में उसी का उजास जैसे बिखरा हुआ है'। जहाँ तक रस का सम्बन्ध है उस पर विचार करते हुए सिंहजी लिखते है—'पद्मावत में प्रधानतया शृङ्गार, वीर, करुण और शान्त रसों की व्यंजना हुई है। अब प्रश्न यह है कि उनमें अंगी रस कौन है। शुक्लजी इसे शृङ्गार-रस-प्रधान काव्य मानते है। किन्तु यदि जायसी का लक्ष्य लौकिक प्रेम-पंथ के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम-पंथ का निरूपण है और इसके लिए यदि उन्होंने प्रतीक और संकेत-पद्धति द्वारा आध्यात्मिक प्रेम की स्पष्ट व्यंजना भी की है, तो उसमें रहस्यवाद की दृष्टि से शृङ्गार-रस को नही, शान्त-रस को ही प्रधान मानना पड़ेगा। अन्तिम दृश्य में जो रस व्यंजित होता है वह उसी अप्रस्तुत पक्ष के शान्त रस की अन्तिम परिणति है। जिस तरह सूर, मीरा, और कबीर के शृङ्गारिक वर्णन शान्त रस के अन्तर्गत माने जाते हैं, उसी तरह पद्मावत का समग्र प्रभाव शान्त-रस-समन्वित है, शृङ्गार रस वाला नही'।[1] सिंहजी ने पद्मावत को शान्तरस-प्रधान मानने में 'यदि' की शर्त तो रखी है, किन्तु उनके विचार में पद्मावत का अधिक झुकाव अध्यात्म-पक्ष की ओर है। अस्तु, हम पद्मावत के शृङ्गार-प्रधान अथवा शान्त-प्रधान होने के विवाद में नहीं पड़ते। हमारी अन्योक्ति की विस्तृत परिधि के भीतर दोनों दृष्टिकोण समा जाते हैं। हमें प्रकृत में जिस बात पर विचार करना है, वह यह है कि क्या पद्मावत में एक रस से दूसरे रस की ध्वनि होती है या नहीं? पद्मावत का पर्यवसान शान्त रस में होता है, इसलिए वही उसमें अंगी रस है, यह कहने वालों से हमारा यह प्रश्न है कि रामायण और महाभारत आदि की तरह पद्मावत में भी शान्त रस की व्यंजना क्या ग्रन्थ के अन्त में ही होती है? हमारे विचार से तो पद्मावत के अन्तिम दृश्य में ही शान्त रस अभिव्यक्त नहीं होता बल्कि, जैसा स्वयं डॉ० शम्भूनाथसिंह ने कहा है, उसका तो 'पंक्ति-पंक्ति में उजास' दिखाई देता है। जायसी के भीतर का कलाकार अपने भाव-लोक के चित्र-पट पर शृङ्गार का ही चित्र खींचकर भला कैसे सन्तुष्ट रह सकता है? उसकी तूलिका तो बड़े अद्भुत ढंग से साथ-साथ ही दो रंगों की समानान्तर रेखाएँ खींचती हुई चली जाती है—एक 'श्याम' और एक 'श्वेत'।[2] 'श्याम' रेखा 'श्वेत' को उभार और उजास देने के लिए ही है, स्वतन्त्र नहीं। शब्दान्तर में हम कहेंगे कि अन्य

१. वही, ४७७।

२. 'स्थायिभावो रतिः श्यामवर्णः'; 'कुन्देन्दु-सुन्दरच्छायः शान्तः।'

'साहित्यदर्पण', परि० ३, श्लो० २१३ और २८२।

रहस्यवादी कवियों की दाम्पत्यमूलक रचनाओं के समान पद्मावत' भी शृङ्गार रस से शान्त रस की ध्वनि है, जिस तरह कि अन्योक्ति में अप्रस्तुत से प्रस्तुत वस्तु की ध्वनि हुआ करती है। साहित्य में एक-जैसी विभावादि-सामग्री द्वारा दो रसों को—भले ही वे विरुद्ध क्यों न हों—सम-भाव से अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया हम आचार्य मम्मट के अनुसार पीछे दिखा आए है। अप्रस्तुत-योजना जैसे प्रस्तुत वस्तु को सौन्दर्य प्रदान करती है, वैसे ही वह प्रस्तुत रस की अनुभूति को भी उत्कट बना देती है। जायसी ने जिस तरह ग्रन्थ के अन्त में अपनी अन्योक्ति के अप्रस्तुत-विधान में अन्तर्निहित प्रस्तुत वस्तु को खोल दिया है, उसी तरह प्रस्तुत शान्त रस को भी स्फुट कर दिया है, यद्यपि वह कवि की भाषागत समास-शक्ति से शृङ्गार-स्रज का सूत्र बना हुआ ध्वनि-रूप में प्रारम्भ से ही अनुगत चला आ रहा है। इस सम्बन्ध में शुक्लजी ने जो यह कहा है कि 'भाव दोनों पक्षों के वही हैं। आलम्बन भिन्न होने से भाव अपर नहीं हो सकता। प्रेम चाहे मनुष्य के प्रति हो, चाहे ईश्वर के प्रति, दोनों पक्षों में प्रेम ही रहेगा', इस पर हमारा यही निवेदन है कि यदि विभिन्न विभावादि-सामग्री से अनुभूति में भेद हो जाता है, तो भाव और रस में भी भेद होना उचित ही है। हम मान लेते हैं कि प्रेम मूलतः एक ही भाव है, किन्तु नायक-नायिका को आलम्बन और आश्रय बनाकर उनके अनुभाव और संचारी भाव के भेद से जहाँ वह शृंगार रस का निर्माण करता है, वहाँ वह परासत्ता एवं साधक को आलम्बन और आश्रय बनाकर अपने भिन्न उद्दीपनों तथा भिन्न अनुभाव-संचारी भावों द्वारा शृङ्गार रस से भिन्न ही शान्त रस का क्यों न निर्माण करेगा? स्त्री-विषयक प्रेम और परमात्म-विषयक प्रेम में बड़ा अन्तर है। बच्चों को आलम्बन बनाकर माता-पिता का प्रेम पृथक् वात्सल्य रस बनाता ही तो है। इस तरह हमारे विचार से निमित्त-भेद से ही रसों की संख्या में भेद आता है, अन्यथा, जैसा कि भोज का मत है, प्रेम को ही मुख्य वृत्ति मानकर सर्वत्र शृङ्गार ही एकमात्र रस माना जाना चाहिए। हम देखते है कि करुण में मूलतः प्रेम ही रोता है, हास्य में प्रेम ही हँसता है और वीर में भी प्रेम ही उत्साह का रूप धारण किये रहता है। इसलिए मानना पड़ेगा कि पद्मावत का वर्ण्य लौकिक प्रेम उससे पृथक् परमात्मीय प्रेम का व्यंजक है, जो शान्त रस में परिणत होता है। वास्तव में शुक्लजी वाच्यार्थ में काव्यत्व मानने वाले है, इसीलिए वे पद्मावत के वाच्यार्थ से सम्बन्धित शृंगार को जितना महत्त्व देते हैं, उतना उसके भीतर अन्तर्धारा के रूप में सतत प्रवहमान शान्त रस को नहीं, जो कवि का मुख्य लक्ष्य है। डॉ० नगेन्द्र ने भी पद्मावत में अध्यात्म की रस-व्यंजना नहीं मानी है। वे उसमें

सिद्धान्त (वस्तु) की व्यंजना कहते है। हमारे विचार से तो व्यंजित सिद्धान्त विभावादि-सामग्री से समन्वित होकर यदि अनुभूति-रूप हो जाय, तो उसे रस-कोटि के भीतर आने देना चाहिए, अन्यथा शृंगार और उसके भीतर काम करने वाली मूलवृत्ति प्रेम भी तो एक सिद्धान्त ही है। इसलिए पद्मावत को शान्त-रस-प्रधान काव्य मानना ही समीचीन है। पद्मावत में रस-व्यंजना की जो बातें हमने उठाई हैं, वे समान-रूप से कामायनी पर भी लागू हो जाती हैं। इस तरह अन्योक्ति में जहाँ एक वस्तु से दूसरी वस्तु अथवा अलंकार की ध्वनि होती है, वहाँ एक रस से दूसरे रस की ध्वनि भी रहती है।

ध्वनि-कसौटी पर अन्योक्ति-वर्ग

अन्योक्ति-वर्ग के भीतर जितने भी अलकार हमने दिखाए हैं, उनमे से श्लेष तो ऐसा है कि जिसमें कवि को दोनों अर्थ विवक्षित रहते हैं, इसलिए यहाँ अभिधा शक्ति ही दोनों अर्थों का प्रतिपादन कर देती है। बिहारी की 'अज्यौ तर्‌यौना ही रह्यौ' तथा दीनदयाल गिरि की 'भूप-कूप श्लेष' जैसी अन्योक्तियाँ इसी जाति की हैं। इनमें शब्दो को कहीं तोड़कर और कहीं बिना तोड़े ही दो अर्थों की तरफ़ लगाया जाता है। दोनों में केवल शाब्दिक साम्य ही रहता है, जिसके आधार पर उपमा-अलंकार की ध्वनि होती है। यही बात अर्थ-श्लेष वाली अन्योक्ति में भी समझिए। भेद केवल यह है कि शब्द-श्लेष में हम शब्दों को नहीं बदल सकते हैं जबकि अर्थ-श्लेष में बदल सकते हैं। यहाँ शब्द चाहे कोई भी हो, लेकिन अर्थ एक ही रहता है, जो विभिन्न जाति की दो गुण-क्रियाओं को बतलाता है। अलकार-ध्वनि यहाँ भी पूर्ववत् ही रहेगी। रूपकातिशयोक्ति में अप्रस्तुत वस्तु वाच्य एवं बाधित रहती है, इसलिए यहाँ प्रस्तुत की प्रतीति हम लक्षणा द्वारा करते हैं, व्यंजना द्वारा नहीं। किन्तु आरोप का गुण तथा क्रिया—आतिशय्य-रूप प्रयोजन व्यंजना से ही बताया जाता है, जो आगे रसानुभूति कराता हुआ अन्त में ध्वनि-काव्य का निर्माण करता है। समासोक्ति में अप्रस्तुत की व्यंजना रहती है, किन्तु ध्वनि-कार के अनुसार वह अभिधा की ही उपस्कारक और पोषक होने से ध्वनि-कोटि में नहीं आ सकती। समासोक्ति में कभी-कभी श्लेष भी मिला हुआ रहता है, यह हम देख आए है। प्रस्तुतांकुर में जैसे वाच्यार्थ प्रस्तुत रहता है वैसे ही व्यंग्यार्थ भी प्रस्तुत रहता है। अतः दोनों तुल्य-प्राधान्य होते हैं। इस तरह यहाँ भी प्रस्तुत की व्यंजना वाच्यार्थातिशायी न होने के कारण ध्वनि नहीं बन सकती। शास्त्रीय नियमानुसार समासोक्ति और प्रस्तुतांकुर दोनों गुणीभूत व्यंग्य काव्य कहलाएँगे, ध्वनि-काव्य नहीं। किन्तु ध्यान रहे कि गुणीभूत होने पर

भी व्यंजना का उनमें अपना विलक्षण सौन्दर्य और चमत्कार ध्वनि का-सा ही रहेगा। इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने गुणीभूत व्यंग्य की तुलना उस राज-वधू से की है, जो कहीं दुर्दैव-वश दासी बन जाने पर भी अपना नैसर्गिक सौन्दर्य रखे हुए ही रहती है।[1] ध्वनिकार आनन्दवर्धन का तो यह मत है कि संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य की दृष्टि से समासोक्ति आदि में गुणीभूत रहता हुआ भी व्यंग्य रसानुभूति में पर्यवसायी होने के कारण अन्ततोगत्वा ध्वनि-रूप ही हो जाता है।[2] अब रह जाती है सारूप्यनिबन्धना (अप्रस्तुत-प्रशंसा), जिसमें प्रस्तुत की व्यंजना रहा करती है। इसे कभी-कभी श्लेष, समासोक्ति और रूपकातिशयोक्ति से भी सहायता प्राप्त होती रहती है। ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आनन्दवर्धन ने व्यंग्यार्थ-प्रधान होने के कारण इसको मूलतः ही शुद्ध ध्वनि के अन्तर्गत माना है, जो अलंकार्य होती है, अलंकार नहीं। आजकल हिन्दी के अलंकार-शास्त्री साधारणतः इसे ही अन्योक्ति कहते हैं और अलंकार के रूप में लेते हैं, किन्तु यह उनका संकीर्ण दृष्टिकोण है।

१. व्यंग्यं गुणीभूतमपि दुर्दैववशतो दास्यमनुभवद् राजकलत्रमिव कामपि कमनीयताम् आवहति। —रसगंगाधर, प्रथम आनन।

२. प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यंग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्य-पर्यालोचनया पुनः॥ —ध्वन्यालोक ३।४१।

परिशिष्ट

१ : हिन्दी अन्योक्ति-संग्रह

प्रस्तुत शोध-निबन्ध लिखते हुए मुझे बराबर पता लगता रहा है कि संस्कृत की तरह हिन्दी में भी अन्योक्ति-साहित्य कितनी प्रचुर मात्रा में भरा पड़ा हुआ है । संस्कृत के 'अन्योक्ति-मुक्तावली', 'भामिनी-विलास' आदि स्वतन्त्र अन्योक्ति-ग्रन्थों की तरह हिन्दी में भी 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' जैसी स्वतन्त्र रचना विद्यमान है । हिन्दी के आदिकालीन योगवाद-धारा से लेकर वर्तमान प्रयोगवाद-युग तक का सारा साहित्य-भण्डार अपने-अपने युग के अनुरूप अमूल्य अन्योक्ति-रत्नों से आलोकित है । शृंगाररस-स्नात होता हुआ भी रीति-युग अन्योक्ति-साहित्य की श्रीवृद्धि में सबसे आगे रहा । आपको किसी भी काल का कोई भी सतसईकार ऐसा नहीं मिलेगा, जिसने न्यूनाधिक अन्योक्तियाँ न लिखी हों । किन्तु यह सब-कुछ होते हुए भी हिन्दी में सभी युगों का प्रातिनिध्य करने वाले अन्योक्ति-कोश का अभाव मुझे बड़ा अखर रहा है । एक ही विषय पर विभिन्न अन्योक्तिकारों की रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन के लिए एक ऐसा कोश नितान्त आवश्यक है । इसीलिए मैंने अपने इस शोध-निबन्ध में यत्र-तत्र प्रयुक्त तथा कुछ बाहर की अन्योक्तियों को संकलित करके परिशिष्ट-रूप में उनका सम्पादन उचित समझा । किन्तु इस संकलन में सबसे बड़ी कठिनाई मेरे सामने अन्योक्तियों के वर्गीकरण के विषय में उपस्थित हुई, क्योंकि मुझे साहित्य-क्षेत्र में अन्योक्ति के लिए सीता वाली लक्ष्मण-रेखा के समान कोई भी निश्चित सीमा दिखाई नहीं दी । अन्योक्ति के सम्बन्ध में यह कहना कि उसका विषय उपदेश-मात्र है, सरासर तर्काभास है । मुझे तो अन्योक्ति सर्वत्र अप्रतिहत-गति मिली । उसके प्रकृति-चित्रपट पर साधना की अन्तर्भूमियाँ, रहस्यात्मक तत्त्व, हृदय की कोमल रसानुभूति, उपदेश और बहुत-कुछ, सभी सवाक् हुए रहते हैं । इसलिए मोटे विषय-भेद को आधार मानकर

वर्गीकरण

मैंने इसका निम्नलिखित वर्गीकरण किया है—

१. यौगिक

२. आध्यात्मिक

३. नैतिक

४. विविध

'विविध' शीर्षक के भी फिर मैंने ये उपवर्ग बनाए :

१. संसार-सम्बन्धी

२. सामाजिक

३. वैयक्तिक

३. राष्ट्रीय

५. शृंगारिक

यौगिक

गंगा जउंना मांझे बहइ नाई ।
तंह बुडिली मातंगी पोइआ लीलें पार करेइ ।
बाहतु डोम्बी बाहलो डोम्बी, वाट भइल उछारा ॥
सदगुरु पाअ प (सा) ए जाइव पुनु जिनउरा ॥
पांच केडुआल पडन्ते मांगे पीठत काच्छी बांधी ।
गअण-दुखोलें सिचहू पाणी न पइसइ सांधी ॥
चंद-सूज्ज दुइ चक्का सिठि-संहार पुलिन्दा ।
वाम दहिन दुइ भाग न चेवइ वाहतु छन्दा ॥
कवड़ी न लेइ वोडी न लेइ सुच्छडे पार करई ।
जो एथे चड़िया बाहब न जा [न] इ कूलें कूल बुड़ाई ॥

(डोम्बिपा, '[illegible] [illegible]रा', पृ० १४०, राहुल)

टालत मोर घर, नाहि पडिवेशी ।
हांडीत भात नाहि निति आवेशी ॥
वेंगस साप बड़हिल जाअ ।
दुहिल दुधु कि वेन्टे समाअ ॥
बलद बिआअल गविआ बांझे ।
पिटहु दुहिअइ ए तिनो सांझे ॥
जो सो बुधी सोध नि-बुधी ।
जो सो चोर सोई साधी ॥

निल सिआला सिहे सम जुझअ ।
टेटंण पाएर गीत बिरले बूझअ ।। (टेटंणपा, वही, पृ० १६४)
नोझर झरे अमीरस पिवरणा, सटदल बेध्या जाई ।
चांद विहूरणा चांदरणा, देख्या गोरख राई ।।
(गोरक्षपा (गोरखनाथ), 'आत्मबोध'. पृ० २२६)
चन्द सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि ।
झूलें पंच पियारियाँ, तहाँ झूलै जिय मोरि ।।
द्वादस गम के अंतरा, तहाँ अमृत को ग्रास ।
जिनि यहु अमृत चाषिया, सो ठाकुर हम दास ।।
महज सुनि को नेहरो, गगन मंडल सिरिमौर ।
दोऊ कुल हम आगरी, जो हूंम झूलै हिंडोल ।।
अरध उरध की गंगा जमुना, मूल कमल कौ घाट ।
षटचक्कर की गागरी, त्रिवेणी संगम बाट ।।
(कबीर, 'कबीर-ग्रन्थावली', पृ० ६४)

गढ़ तस बांक जैसि तोरि काया । पुरुष देखु ओही कै छाया ।।
पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हे । जेइ पावा तेहि आपुहि चीन्हे ।।
नौ पौंरी तेहि गढ़ मझियारा । औ तहं फिरहि पाँच कोटवारा ।।
दसवँ दुआर गुपुत एक ताका । अगम चढ़ाव, बाट सुधि बाँका ।।
भेदै जाइ कोइ वह घाटी । जो लइ भेद चढ़ै होइ चाँटी ।।
गढ़तर कुण्ड सुरंग तेहि माहाँ । तहँ वह पंथ कहौं तोहि पाहाँ ।।
दसहुं दुआर ताल कै लेखा । उलटि दिस्ट जो लाव सो देखा ।।
(जायसी, 'जायसी-ग्रन्थावली', पृ० ९३)

खसम बिचारा मरि गया जोरू गावै तान
जोरू गावै तान फिरा अहि बात हमारा
झूठ सकल संसार मांग भरि सेंदुर पारा
हम पतिबरता नार खसम को जियतै मारी
वाको मूडौं मूड़ सरबर जो करै हमारी
दुतिया गई हैं भाग सुनो अब रांध परोसिन
पिया मरे आराम मिला सुख में कहं दिन-दिन
'पलटू' ऐसे पद कहै बूझै सो निरबान
खसम बिचारा मर गया जोरू गावै तान ।
(पलटू साहब, 'पलटू साहब की बानी', पृ० ८२)

आध्यात्मिक

ऊचा ऊचा पावत तहिं बसइ सबरी बाली।
मोरंगि पिच्छ परिहिण शबरी गीवत गुंजरि-माली।।
उमत शबरो पागल शवरो मा कर गुली-गुहाड़ा।
तोहारि णिअ घरिणी नामे सहज-सुन्दरी।।
नाना तरुवर मोउलिल रे गणअत लागेलि डाली।
एकेलि सबरी ए वण हिंडइ कर्ण कुण्डल वज्रधारी।।
तिअ-धाउ खाट पडिला सबरो महासुहे सेज छाइली।
सबर भुजंग नैरामणि दारी पेक्ख राति पोहाइली।।
चिअ तांबोला महासुहे कापुर खाई।
सुन-नैरामणि कंठे लइआ महासुहे राति पोहाई।।
गुरु-वाक-पुजिआ धनु णिअ-मण वाणे।
एके शर सन्धाने विन्धह विन्धह परम-णिवाणे।।
उमत सबरो गुरुआ रोषे गिरिवर-सिहरे संधी।
पइसन्ते सबरो लोडिब कइसे।।

(शबरपा, 'हिन्दी-काव्यधारा', पृ० २०, राहुल)

गऊ पद मांही पहौकर फदकै, दारद भर्‌य झिलारै।
चात्रिग मैं चौमासौ बोलै, ऐसा समा हमारै।।

(गोरखनाथ, 'गोरख-वाणी', पृ० २११)

जिन ढूंढा तिन पाईयां, गहरे पानी पैठ।
हौं बौरी बूड़न डरी, रही किनारे बैठ।।
सांझ पड़े दिन बीतवे, चकवी दीन्हा रोय।
चल चकवा! वा देश में, जहाँ रैन नहिं होय।।
जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
टूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तथ कथौ गियानी।।
दीपक दीया तेल भरि बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणां, बहुरि न आवौं हट्ट।।

(कबीर, 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० १०३)

तरवर एक अनंत मूरति, सुरता लेहु पिछाणी।
साखा पेड़ फूल फल नाहीं, ताकी अंमृत वांणी।।

पहुप बास भवरा एक राता, बारा ले उर धरिया।
सोलह मंझै पवन झकोरै, आकासे फल लगिया।।
सहज समाधि बिरख यहु सींच्या धरती जल हर सोष्या।
कहै कबीर तास मैं चेला जिनि यहु तरवर पेष्या।।
(कबीर, 'कबीर-ग्रन्थावली', पृष्ठ १४३)

तरवर एक मूल बिन ढाढ़ा बिन फूले फल लागे।
साखा-पत्र कछू नहिं ताके, सकल कमल-दल गाजे।।
चढ़ तरवर दो पंछी बोले, एक गुरु एक चेला।
चेला रहा सो रस चुन खाया, गुरू निरन्तर खेला।।
(कबीर वाणी)

हंसा प्यारे ! सरवर तजि कहं जाय ?
जोई सरबर बिच मोती चुनते बहुबिधि केलि कराय।
सूख ताल पुरइन जल छोड़े, कमल गयो कुँभिलाय।
कह कबीर जो अब की बिछुरै, बहुरि मिलै कब आय।।
(कबीर वाणी)

काहे री नलिनी ! तू कुंभिलानी, तेरे ही नालि सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में बास, जल में नलिनी ! तोर निवास।।
ना तलि तपति न ऊपर आगि, तोर हेत कहु कासनि लाग।
कहै कबीर जे उदिक समान, ते नहिं मूए हमारे जान।।
(कबीर, 'कबीर ग्रन्थावली', पृष्ठ १०८)

बांझ का पूत, बाप बिन जाया, बिन पाऊँ तरवरि चढ़िया।
अस-बिन पाषर गज-बिन गुड़िया, बिन षंडै संग्राम जुड़िया।।
बीज-बिन अंकूर, पेड़-बिन तरवर, बिन साखा तरवर फलिया।
रूप-बिन नारी, पुहुप-बिन परिमल, बिन नीरै सर भरिया।।
(वही, पृष्ठ १४०)

ऐसा अद्‌भुत मेरा गुरु कथ्या, मैं रह्या उभेषै।
मूसा हसती सौं लड़ै, कोई बिरला पेखै।।
मूसा बैठा बांबि मैं, लारै सापणि धाई।
उलटि मूसै सापिण गिली, यहु अचरज भाई।।
चींटी परबत ऊषण्यां, ले राख्यौ चौड़ै।
मूर्गा मिनकी सूँ लड़ै, झल पाणी दौड़ै।।

सुरहीं चँबै बछतलि, बछा दूध उतारैं।
ऐसा नवल गुणी भया, सारदूलहि मारैं॥
भील लुक्या बन बीझ मैं, ससा सर मारैं।
कहै कबीर ताहि गुर कहौं, जो या पद ही बिचारैं॥
(वही, पृष्ठ १४१)

दुलहिन तोहि पिय के घर जाना।
काहे रोवो काहे गावो, काहे करत बहाना॥
काहे पहिर्यौ हरि हरि चुरियां, पहिर्यौ प्रेम कै बाना।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, बिन पिया नाहिं ठिकाना॥
(कबीर वाणी)

नैहर से जियरा फाट रे।
नैहर नगरी जिसके बिगड़ी, उसका क्या घर-बाट रे।
तनिक जियरवा मोर न लागै, तन मन बहुत उचाट रे॥
या नगरी में लख दरवाजा, बीच समुंदर घाट रे।
कैसे कै पार उतरिहैं सजनी, अगम पंथ का पाट रे॥

× × ×

हँस-हँस पूछै मातु-पिता सों, भोंरे सासुर जाब रे।
न्हाय धोय दुल्हिन होय बैठी, जोहै पिय की बाट रे।
तनिक घुघटवा दिखाव सखी री, आज सोहाग की रात रे। (वही)

बाल्हा, आव हमारे गेह रे, तुम्ह बिन दुखिया देह रे।
सबको कहै तुम्हारी नारी, मोकौं इहै अदेह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे॥
आन न भावै नींद न आवै, ग्रिह बन धरै न धीर रे।
हैं कोई ऐसा पर-उपगारी, हरि सूँ कहै सुनाइ रे॥
('कबीर-ग्रन्थावली', पृ० १६२)

निसदिन खेलत रही सखियन संग,
मोहि बड़ा डर लागे।
मोरे साहब की ऊँची अटरिया,
चढ़त में जियरा काँपे॥
जो सुख चहै तो लज्जा त्यागे,
पिया से हिलमिल लागे॥

घूंघट खोल अंग भर भेंटे,
नैन आरती साजे ॥ (कबीर वाणी)

कोटिन भानु-चन्द्र-तारागण छत्र की छांह रहाई।
मन में राम, नैनन में नैना, मन नैना इक हो जाई।
सुमन सुहागिन मिलन पिया को तनकी तपन बुझाई।
कहै कबीर मिलै प्रेम पूरा पिया में सुरति मिलाई।
('कबीर', डॉ० हजारीप्रसाद, पृ० २८)

पिउ हिरदय महुं भेंट न होई। को रे मिलाव कहौं केहि रोई ॥
(जायसी, 'जायसी-ग्रन्थावली', पृ० १७७)

ओहि मिलान जौं पहुँचै कोई। तब हम कहब पुरुष भल सोई ॥
है आगे परवत कै बाटा। विषम पहार अगम सुठि घाटा ॥
बिच बिच नदी, खोह औ नारा। ठांवहिं ठांव बैठ बटपारा ॥
करहिं पयान, भोर उठि, पंथ कोस दस जाहिं।
पंथी पंथा जो चलहिं, ते का रहहिं ओठाहिं ॥
(जायसी, 'जायसी-ग्रन्थावली', पृ० ५७)

अनचिह्न पिउ, कांपौं मन मांहा। का मैं कहब गहब जो बांहा ॥
बारि बैस गइ प्रीति न जानी। तरुनि भई मैमंत भुलानी ॥
जोवन-गरब न मैं किछु चेता। कस सुख होइहि पीत कि राता ॥
हौं बारी औ दुलहिनि, पीउ तरुन सह तेज।
ना जानौं कस होइहि, चढ़त कंत के सेज ॥
('जायसी-ग्रन्थावली', पृ० १३२)

सुनि परिमित पिय प्रेम की, चातक चितवत पारि।
घन आशा सब दुख सहै, अनत न जांचे वारि ॥ (सूरदास)

माधव जू यह मेरी इक गाई,
अब आजु ते आपु आगे लै आइए चराई।
है अति हरिहाई हटकत हूँ, बहुत अमारग जाती,
फिरति वेदबन ऊख उखारति सब दिन अरु सब राती।
हित कै मिले लेहु गोकुल पति अपने गोधन मांह,
सुख सोऊं सुनि बचन तुम्हारे देहु कृपा करि बाँह।
निधरक रहौं सूर के स्वामी जन्म न जाऊं फेरि,
मैं ममता रुचि सौं रघुराई पहिले लेउं निबेरि।
(सूरदास, 'सूरसागर', प्र० स्क०, पद ५१)

चलि सखि, तिहि सरोवर जाहिं,
जिहिं सरोवर कमल कमला रवि बिना बिकसाहिं।
हंस उज्जल पंख निर्मल, अंग मलि मलि न्हाहिं।
मुक्ति मुक्ता अनगिने फल, तहाँ चुनि चुनि खाहिं।
अतिहिं मगन महा मधुर रस, रसन मध्य समाहिं।
पहुपबास सुगंध सीतल लेत पाप नसाहिं।
सदा प्रफुल्लित रहैं जल बिनु निमिष नहिं कुम्हिलाहिं।
सघन गुञ्जत बैठि उन पर भौंरहु बिरमाहिं।
देखि नीर जु छिलछिलो जग, समुझि कुछ मन माहिं।
सूर क्यों नहिं चले उड़ि तहँ, बहुरि उड़िबौ नाहिं।

(वही, प्र० स्क०, पद ३३८)

उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहुँ दूसरी ओर ? ॥
बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्यजल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट, मरतहु लगी न खोंच ॥
मुख मीठे मानस मलिन, कोकिल मोर चकोर।
सुजस धवल चातक नवल ! रह्यो भुवन भरि तोर।

(तुलसी, 'दोहावली')

मकर उरग, दादुर कमठ जल-जीवन जल-गेह।
तुलसी एकै मीन को, है सांचिलो सनेह ॥
देउ आपने हाथ जल, मीनहिं माहुर घोरि।
तुलसी जियं जो बारि बिनु, तौ तु देहि कवि खोरि॥ (वही)

कुंजरकूं कीरी गिल बैठी, सिंघहि खाइ अघानो स्याल।
मछरी अग्नि मांहि सुख पायो, जल में बहुत हुती बेहाल ॥
पंगु चढ़्यो परवत के ऊपर, मृतकहिं डराने काल।
जाका अनुभव होय सो जानै, 'सुन्दर' उलटा ख्याल ॥

(सुन्दरदास, पौड़ी हस्तलेख, पृ० ३२३)

सूको तरु सेवत कहा विहंग ! देवद्रुम सेव।
सजैं सुकादिक धीर जहँ, सुन्यो न ताको भेव।
सुन्यो न ताको भेव, फूल फल सौरभ जामैं ॥
सदा रहै रस लसो बसो कुसुमाकर तामैं।

बरनै दीनदयाल लाल तू तो अति चूको ।।
सुखद कलपतरु त्यागी दुखद सेवै द्रुम सूको ।।

(दीनदयाल, 'अन्योक्ति कल्पद्रुम', २।४६)

चल चकई ! वा सर विषय जहं नहिं रैन बिछोह ।
रहत एकरस दिवस ही सुहृद हंस-संदोह ।।
सुहृद हंस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाके ।
भोगत सुख अंबोह मोह दुख होय न ताके ।।
बरनै दीनदयाल भाग्य बिनु जाय न सकई ।
पिय-मिलाप नित रहै ताहि सर चल तू चकई ।।

(वही १।६५)

देखो पथी उघारिकै नीके नैन विवेक ।
अचरजमय इहि बाग में राजत है तरु एक ।।
राजत है तरु एक मूल ऊरध अध साखा ।
द्वै खग तहाँ अबाह एक, इक बहु फल चाखा ।
बरनै 'दीनदयाल' खाय सो निबल बिसेखो ।
जो न खाय सो पीन रहै अति अद्भुत देखो ।।

(वही ४।१६)

हे राजहंस ! यह कौन चाल ?
तू पिंजर बद्ध चला होने
बनने अपना ही आप काल । (रायकृष्णदास)

अच्छी आँखमिचौनी खेली ।
बार बार तुम छिपो और मैं खोजूँ तुम्हें अकेली ।
किसी शान्त एकान्त कुंज में तुम जाकर खो जाओ,
भटकूँ इधर उधर मैं, इसमें क्या रस है बतलाओ,
यदि मैं छिपूँ और तुम खोजो, अनायास ही पाओ,
कहाँ नहीं तुम जहाँ छिपूँ मैं, जाने भी दो आओ ।
करें बैठ रंगरेली, अच्छी आँखमिचौनी खेली ।

(मैथिलीशरण गुप्त, 'झंकार', पृ० १३४)

पतझड़ था, झाड़ खड़े थे
सूखी सी फुलवारी में,

किसलय नव कुसुम बिछाकर
आये तुम इस क्यारी में।
(प्रसाद, 'आँसू', पृ० १६, सप्तम सं०)

पैरों के नीचे जलधर हों, बिजली से उनके खेल चलें,
संकीर्ण कगारों के नीचे शत शत झरने बेमेल मिलें,
सन्नाटे में हो विकल पवन, पादप निज पद हों चूम रहे,
तब भी गिरिपथ का अथक पथिक ऊपर ऊँचे झेल चले। (प्रसाद)

शिशिर कणों से लदी हुई, कमली के भीगे हैं सब तार,
चलता है पश्चिम का मारुत, लेकर शीतलता का भार,
भीग रहा है रजनी का वह, सुन्दर कोमल कवरी भार,
अरुण किरण सम कर से छू लो, खोलो प्रियतम! खोलो द्वार! (वही)

अचल के चंचल क्षुद्र प्रपात!
मचलते हुए निकल आते हो
उज्ज्वल! घन बन अन्धकार के साथ
खेलते हो क्यों? क्या पाते हो?
(निराला, 'प्रपात के प्रति')

बरसने को गरजते थे
वे न जाने किस हवा से
उड़ गए हैं गगन में घन
रह गए हैं नैन प्यासे। (निराला)

प्रात तव द्वार पर
आया जननि! नैश अन्ध पथ पार कर!
लगे जो उपल पद उत्पल हुए ज्ञात,
कटंक चुभे जागरण बने अवदात,
स्मृति में रहा पार करता हुआ रात,
अवसन्न भी मैं प्रसन्न हूँ प्राप्त वर! (वही)

दो पक्षी हैं सहज सखा, संयुक्त निरन्तर,
दोनों ही बैठे अनादि से उसी वृक्ष पर!

एक ले रहा पिप्पल फल का स्वाद प्रतिक्षण,
बिना अशन, दूसरा देखता अन्तर्लोचन !
(पन्त, 'स्वर्ण किरण', पृ० ६५)

स्वर्ण शिखर से चतुर्श्रृंग हैं उसके शिर पर,
दो उसके शुभ शीर्षः सप्त रे ज्योति हस्त वर !
तीन पाद पर खड़ा, मर्त्य इस जग में आकर
त्रिधा बद्ध वह वृषभ, रंभाता है दिग्ध्वनि भर !
(पन्त, 'स्वर्णधूलि', पृ० ११४)

सुनता हूँ, इस निस्तल जल में
रहती मछली मोती वाली,
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल जल माली। (पन्त, 'गुञ्जन', पृ० ३४)

आयेगी मेरे पुलिनों पर
वह मोती की मछली सुन्दर
मैं लहरों के तट पर बैठा
देखूँगा उसकी छवि जी भर। (पन्त, 'गुञ्जन', पृ० ७१)

कँप कँप हिलोर रह जाती
रे मिलता नहीं किनारा !
बुदबुद विलीन हो चुपके
पा जाता आशय सारा !
उठ उठ री लोल........ (पन्त, 'गुञ्जन')

अहे महाम्बुधि ! लहरों से शत लोक, चराचर
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर
तुंग तरंगों से शत युग शत शत कल्पान्तर
उगल महोदर में विलीन करते तुम सत्वर
शत सहस्र रवि शशि असंख्य ग्रह उपग्रह, उडुगण,
जलते, बुझते हैं स्फुलिंग से तुम में तत्क्षण,
अचिर विश्व में अखिल दिशावधि कर्म, वचन, मन,
तुम्हीं चिरन्तन अहे विवर्तनहीन विवर्तन !
(पन्त, 'पल्लव', पृ० १६३)

जब मैं थी अज्ञात प्रभात
मा ! तब मैं तेरी इच्छा थी
तेरे मानस की जलजात !
तब तो यह भारी अन्तर
एक मेल में मिला हुआ था,
एक ज्योति बन कर सुन्दर,
तू उमंग थी, मैं उत्पात ! (वही)

चीर गिरि का कठिन मानस
बह गया जो स्नेह-निर्झर,
ले लिया उसको अतिथि कह
जलधि ने जब अंक में भर
वह सुधा सा मधुर पल में
हो गया तब क्षार पानी !
अमिट वह मेरी कहानी !

(महादेवी वर्मा, 'यामा', पृ० १७६)

मोम सा तन घुल चुका अब दीप-सा मन जल चुका है !
विरह से रंगीन क्षण ले,
अश्रु के कुछ शेष कण ले,
बरुनियों में उलझ बिखरे स्वप्न के सूखे सुमन ले,
खोजने फिर शिथिल पग
निश्वास-दूत निकल चुका है।

(महादेवी वर्मा, 'दीपशिखा', पृ० २३)

किन उपकरणों का दीपक
किसका जलता है तेल ?
किसकी वर्त्ति कौन करता
इसका ज्वाला से मेल ?
शून्य काल के पुलिनों पर
आकर चुपके से मौन,
उसे बहा जाता लहरों में
वह रहस्यमय कौन ?

कुहरे सा धुँधला भविष्य है,
है अतीत तम घोर,
कौन बता देगा जाता यह
किस असीम की ओर ?

(महादेवी वर्मा, 'यामा', पृ० ७८)

शलभ मैं शापमय वर हूँ ! किसी का दीप निष्ठुर हूँ !
ताज है जलती शिखा, चिंगारियाँ शृङ्गारमाला,
ज्वाल अक्षय कोष सी, अंगार मेरी रंगशाला,
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ !
हो रहे झरकर दृगों से अग्नि-कण भी क्षार शीतल,
पिघलते उर से निकल निश्वास बनते धूम श्यामल,
एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ !
कौन आया था न जाने स्वप्न में मुझको जगाने,
याद में उन अँगुलियों के हैं मुझे पर युग बिताने,
रात के उर में दिवस की चाह का शर हूँ ॥

(वही, पृ० २१८)

तुम मुझ में प्रिय ! फिर परिचय क्या ?
तारक में छवि प्राणों में स्मृति,
पलकों में नीरव पद की गति
लघु उर में पुलकों की संसृति,
भर लाई हूँ तेरी चंचल
और करूँ जग में संचय क्या ?

(महादेवी वर्मा, 'यामा', पृ० १४२)

टूट गया वह दर्पण निर्मम !
उसमें हँस दी मेरी छाया,
मुझमें रो दी ममता माया,
अश्रुहास ने विश्व सजाया,
रहे खेलते आँखमिचौनी
प्रिय ! जिसके परदे में 'मैं' 'तुम' ?
टूट गया वह दर्पण निर्मम !
अपने दो आकार बनाने,

दोनों का अभिसार दिखाने
भूलों का संसार बसाने,
जो झिलमिल झिलमिल सा तुमने
हँस हँस दे डाला निरुपम !
टूट गया वह दर्पण निर्मम !

(महादेवी वर्मा, 'नीरजा', पृ० ६४)

तम में ही मेरा जन्म हुआ,
तम में ही होने चला शेष ।
मैं तो किस्मत का मारा हूँ,
मैं तो शेष रात का तारा हूँ ॥

(हंसकुमार तिवारी, 'रिमझिम')

खिल-खिलकर हँस-हँसकर झर-झरकर काँटों में
उपवन का ऋण तो भर देता हर फूल मगर
मन की पीड़ा कैसे खुशबू बन जाती है
यह बात स्वयं पाटल को भी मालूम नहीं !
उसकी अनगिन बूँदों में स्वाती बूँद कौन ?
यह बात स्वयं बादल को भी मालूम नहीं !

(नीरज, 'दर्द दिया', पृ० ४१)

अर्ध रात्रि
अम्बर स्तब्ध शान्त,
धरा मौन''''सन्नाटा

× ×

थप''''थप '''थप,
"द्वार पर कौन है ?"
"मैं हूँ तुम्हारा एक याचक !"
"किसलिए आये हो ?"
"एक दृष्टि, दान हेतु ।"
"नहीं, नहीं, जाओ, लौट जाओ, यहाँ दान नहीं मिलता है,
भिक्षु और दाता के बीच जो पर्दा है,
जिस दम वह जलता है,
तभी द्वार खुलता है ।"
''''और द्वार बन्द रहा । (वही, पृ० ७३)

नैतिक

भमरा ! एत्थु वि लिम्बडइ के वि दियहडा बिलम्बु ।
घरा-पत्तलु छायाबहुलु फुल्लइ जाम कयम्बु ॥
('हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग,' पृ० ३४५)

जे छड्डेविणु रयणनिहि अप्पउं तडि घल्लंति ।
तहं संखहं विट्टालु परु फुक्किज्जन्त भमंति ॥
(वही, पृ० ३५२)

गयउ सु केसरि पिअहु जलु, निच्चिन्तइं हरिणाइं ।
जसु केरए हुंकारडएं मुहहुं पडन्ति तृणाइं ॥
(वही, पृ० ३५४)

सिरि चड़िया खंति प्फलइं पुणु डालइं मोडंति ।
तोवि महद्दुम सउणांह अवराहिउ न करंति ॥
(वही, पृ० ३५६)

हंसा बक एक रंग लखि, चरै एक ही ताल ।
छीर नीर ते जानिए, बक उघरै तेहि काल ॥
(कबीर, 'कबीर वचनावली,' पृ० १५५)

हरिया जानै रूखड़ा, जो पानी का नेह ।
सूखा काठ न जानही, केतहु बूड़ा मेह ॥ (वही, पृ० १२४)

मलया गिरि के बास में, बेधा ढाक पलास ।
बेना कबहुं न बेधियाँ, जुग जुग रहिया पास ॥(वही, पृ० १२५)

कबिरा सीप समुद्र की खारा जल नहिं लेय ।
पानी पावै स्वाति का सोभा सागर देय ॥
(वही, पृ० १५४)

चाल बकुल की चलत है बहुरि कहावै हंस ।
ते मुक्ता कैसे चुगै परैं काल के फंस ॥
(वही, पृ० १२४)

एक अचंभो देखिया, हीरा हाट बिकाय ।
परखन हारा बाहरी, कौड़ी बदले जाय ॥
(वही, पृ० १११)

चंदन गया बिदेसड़े सब कोई कहै पलास ।
ज्यों-ज्यों चूल्हे झोंकिया त्यों-त्यों अधकी बास ॥ (वही, पृ० १११)

हीरा तहाँ न खोलिए जहँ खोटी है हाट।
कस करि बांधो गाठरी उठकर चालो बाट ।। (वही, पृ० १११)

भंवर आइ वन खंड सन, लेइ कंवल कै बास।
दादुर बास न पावई, भलहि जो आछै पास ।।
(जायसी, पद्मावत, 'जायसी ग्रन्थावली', पृ० ६)

चंपा प्रीति न भौंरहि, दिन-दिन आगरि बास।
भौंर जो पावै मालती, मुएहु न छांडै पास ।।
(वही, पृ० १३६)

भौंर जो मनसा मानसर, लीन्ह कंवलरस आइ।
घुन जो हियाव न कै सका, झूर काठ तस खाइ ।।
(वही, पृ० ६७)

सुभर सरोवर जौ लहि नीरा। बहु आदर पंखी बहु तीरा ।।
नीर घटे पुनि पूछ न कोई। बिरसि जो लीज हाथ रह सोई ।।
(वही, पृ० २७१)

देखो करनी कमल की, कीन्हों जल से हेत।
प्राण तज्यो प्रण ना तज्यो, सूख्यो सरहि समेत ।। (सूरदास)

राकापति षोडस उवहिं, तारा गन समुदाय।
सकल गिरिन दव लाइए, बिनु रवि राति न जाय ।।
(तुलसी, 'दोहावली', दोहा ३८६)

जद्यपि अवनि अनेक सुख, तोय तामरस ताल।
संतत तुलसी मानसर, तदपि न तजत मराल ।। (वही)
डोलत बिपुल बिहंग बन पियत पोखरिन बारि।
सु जस धवल चातक नवल तोर भुवन दस चारि ।।
('तुलसी सतसई', स० स०, ७)

बरखि बरखि हरखित करत हरत ताप अघ प्यास।
तुलसी दोख न जलद कर जो जल जरै जवास ।।
(तुलसी, 'सतसई', स० स०, २७)

मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जियहि कि लवण पयोधि मराली ।।
नव रसाल वन विहरण सीला। सोह कि कोकिल विपिन करीला ।।
(तुलसी, 'रामचरितमानस')

पावस देखि रहीम मन, कोयल साधे मौन ।
अब दादुर वक्ता भये, हमहि पूछिहैं कौन ।।
(रहीम, 'रहीम रत्नावली', दोहा ११७)

सीत हरत तम हरत नित, भुवन भरत नहिं चूक ।
रहिमन तेहि रवि को कहा, जो घटि लखत उलूक ।।
(वही, दोहा २६६)

रहिमन चाक कुम्हार को, माँगे दिया न देइ ।
छेद में डंडा डारिकै, चहे नाद लै लेइ ।।
(वही, दोहा १७९)

सरवर के खग एक से, बाढ़त प्रीति न धीम ।
पै मराल को मानसर, एकै ठौर रहीम ।
(वही, दोहा २५६)

आप न काहू काम के, डार पात फल फूल ।
औरन को रोकत फिरैं, रहिमन पेड़ बबूल ।।
(रहीम, 'रत्नावली', दो० १२)

धनि रहीम गति मीन की, जल बिछुरत जिय जाय ।
जियत कंज तजि अनत बसि, कहा भौंर को भाय ।। (दो० १०४)

दोनों रहिमन एकसे जो लौं बोलत नाहिं ।
जानि परत हैं काक पिक ऋतु वसंत के माहिं ।। (दो० १०१)

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीति बहार ।
अब, अलि, रही गुलाब मैं, अपत, कटीली डार ।।
(बिहारी, 'बिहारीरत्नाकर', २५५)

इहीं आस अटक्यौ रहे, अलि गुलाब कै मूल ।
ह्वै हैं फेरि बसन्त ऋतु इन डारिन वे फूल ।। (वही, ४३७)

करि फुलेल का आचमन, मीठो कहत सराहि ।
रे गन्धी ! मति अन्ध तू, इतर दिखावत काहि ?
(वही, दो० ८२)

जाकैं एकाएक हूँ, जग व्यवसाय न कोइ ।
सो निदाघ फूलै फलै, आकु डहडहो होइ ।। (वही, ४७१)

वे न इहाँ नागर, बढ़ी जिन आदर तो आब ।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ, गंवई गांव गुलाब ।। (वही, ४३८)

नहिं पावस ऋतुराज यह तजि तरुवर मति भूल ।
अपत भये बिनु पाइहै, क्यों नव दल फल फूल ।। (वही, ४७४)
चले जाहु ह्यां को करत हाथिन को ब्यौपार ।
नहि जानत या पुर बसत, धोबी और कुम्हार ।। (वही, ४३६)

अरे हंस ! या नगर में, जैयो आपु विचारि ।
कागनि सौं जिन प्रीति करी, कोकिल दई विडारि ।।
(वही, पृ० ४३, दो० १२६)

अब तेरो बसिबौ इहां, नाहिन उचित मराल ।
सकल सूखि पानिप गयौ, भयौ पंकमय ताल ।।
(मतिराम, 'मतिरामसतसई', स० स०, १२६)

प्रतिबिम्बित तों बिम्ब में, भूतल भयो कलंक ।
निज निरमलता को दोष यह, मन में मानि मयंक ।।
(मतिराम, 'मतिराम ग्रन्थावली', पृ० ४८१)

सरल बाण जाने कहा, प्रान हरन की बात ।
बंक भयंकर धनुष को, गुण सिखवत उतपात ।।
(वही, पृ० ५०८)

कहा भयो मतिराम हिय, जो पहिरी नंदलाल ।
लाल मोल पावे नहीं. लाल गुंज की माल । (वही)

'दास' परसपर लखौ, गुन छीर के नीर मिलें सरसात है ।
नीर बिकावत आपने मोल जहां जहां जाइके आप बिकात है ।।
पाबक जारन छीर लगै, तब नीर जरावत आपनों गात है ।
नीर की पीर निबारिबे कारन, छीर घरी ही घरी उफनात है ।।
(भिखारीदास, 'काव्य निर्णय', पृ० ३०३, डॉ० सत्येन्द्र)

कौवा जपादिक सो उबल्यौ, सज्यौ केसर के अंग राग अपारौ ।
न्हात अनेक विधान सरै रस सांत में सांत करै नित न्यारौ ।।
'दासज' त्यौं अनुराग भर्‌यौ हिय बीच बनाइ करौ नहिं न्यारौ ।
लीन सिंगार न होत तऊ, तन आपनो रंग तजै नहिं कारौ ।।
(वही, पृ० ३७४)

यहै अवधि अविवेक की, देखि कौन अनखाय ।
काग कनक पिंजर पड़े, हंस अनादर भाय ।।
(वृन्द, 'वृन्द सतसई', सतसई सप्तक, पृ० ३४०)

मघा मेघ बरसहु विविध, उमडि भरहि दरिआउ।
चातक पातक आपने, कहत पियाउ पियाउ॥
(विक्रम, 'विक्रमसतसई', सतसई सप्तक, पृ० ३६८)

कत गुमान गुड़हल करत, समुझ देख मति मंद।
छोड़ि नलिन पीवत कहूं, अलि न मलिन मकरंद॥
(वही, स० स०, पृ० ३६८)

कहा भयो जौ लखि परत दिन दस कुसुमित नाहि।
समुझि देखि मन मै मधुप ए गुलाब वे आहि॥
(विक्रम सतसई, स० स०, पृ० ३६८)

श्रीफल दाख अंगूर अति नूत तूत फल भूर।
तजि कै सुक सेमर गयो भई आस चकचूर॥ (वही, पृ० ३६९)

औघट घाट पखेरुवा पीवत निरमल नीर।
गज गरुवाई तै फिरै प्यासे सागर तीर॥
(रसनिधि, 'रसनिधि सतसई', स० स०, पृ० २२३)

जानत सही चकोर कर ससि सौं प्रेम सलूक।
अमृत सरावो के रसहि समुझहि कहा उलूक॥
(रसनिधि, स० स०, पृ० २२४)

जब देखौ चहियै तुहैं तब तू नहीं दिखात।
लीलकंठ बीतैं दसैं फिर है कीरा खात॥
('रसनिधि सतसई', स० स०, पृ० २२३)

अमित अथोहे हौ भरे जदपि समुद अभिराम।
कौन काम के जौ न तुम आए प्यासन काम॥
('रसनिधि सतसई', स० स०, पृ० २२४)

सरस मधुप गुंजत रहै लेत सुमन की बास।
कुम्हल्यानै फिरत नहीं अली रली ता पास॥
(वही, पृ० २२४)

धरि सोनैं कै पिंजरा राखौ अमृत पिवाइ।
विष को कीरा रहत है विष ही में सुख पाइ॥
(वही, पृ० २२३)

गुल गुलाब अरु कमल कौ रस लीन्हौं इक ताक।
अब जीवन चाहत मधुप देख अकेलो आक॥
(वही, पृ० २२४)

तोय मोल मैं देत हौ छीरहि सरस बड़ाई ।
आंच न लागन देत वह आप पहिल जर जाई ॥ (वही, पृ० २२२)

तन मन तोपै बारिवौ यह पतंग कौ नाम ।
एते हूं पै जारिवौ दीप तिहारो काम ॥
(वही, पृ० २२२)

गरजै बातन तें कहा धिक नीरधि ! गंभीर ।
विकल विलोकै कूप पथ तृषावन्त तो तीर ॥
तृषावन्त तो तीर फिरै तुहि लाज न आवै ।
भंवर लोल कल्लोल कोटि निज बिभौ दिखावै ॥
बरनै दीनदयाल सिंधु तोकों को बरजै ।
तरल तरंगी ख्यात वृथा बातन तें गरजै ॥
(दीनदयाल गिरि, 'अन्योक्ति कल्पद्रुम', १।३७)

दीने ही चोरत अहो ! इन सम चोर न और ।
इन समीर तें कंज ! तुम सजग रहो या ठौर ॥
सजग रहो या ठौर भौंर रखिए रखवारे ।
नातो परिमल लूटि लेहिंगे सबै तिहारे ॥
बरनै दीनदयाल रहो हो मित्र अधीने ।
भली करत हो रैन कपाट रहत हो दीने ॥ (वही, १।४७)

मरकत पामर कर परी तजि निज गुन अभिमान ।
इतै न कोऊ जौहरी ह्यां सब बसै अजान ॥
ह्यां सब बसै अजान कांच तो को ठहरावै ।
तदपि कुसल तू मान जदपि यहि मोल बिकावै ॥
बरनै दीनदयाल प्रवीन हृदै लखि दरकत ।
अहो करम गति गूढ़ परी कर पामर मरकत ॥ (वही, २।३)

कूपहिं आदर उचित है नहीं गुनन को हेय ।
अंतर गुन को ग्रहन करि फिरि फिरि जीवन देय ॥
फिरि फिरि जीवन देय गुनी गुन वृथा न जावै ।
अति गभीर हिय दुहू झुके तें अमृत लखावै ॥
बरनै दीनदयाल न देखत रूप कुरूपहिं ।
जो घट अरपन करै ताहि तें ममता कूपहिं ॥
(वही, ४।६३)

बरखै कहा पयोदा ! इत मानि मोद मन माँहि ।
यह तौं ऊसर भूमि है अंकुर जम्हिैं नाँहि ।।
अंकुर जम्हिै नाँहि बरख सत जो जल दैहै ।
गरजै तरजै कहा वृथा तेरो श्रम जैहै ।।
बरनै दीनदयाल न ठौर कुठौरहिं परखै ।
नाहक गाहक बिना बलाहक ! ह्यां तू बरखै ।। (वही, १।२५)

देख्यो कपटी दंभ को कैसो याको काम ।
बेचन हारो बेर को देत दिखाय बदाम ।।
देत दिखाय बदाम लिए मखमल की थैली ।।
बाहर बनी बिचित्र वस्तु अंतर अति मैली ।।
बरनै दीनदायल कौन करि सकै परेखो ।
ऊँचो बैठि दुकान ठगै सिगरो जग देखौ ।। (वही, ४।४७)

हीरा अपनी खानि को बार बार पछिताय ।
गुण कीमत जाने नहीं तहां बिकानो आय ।।
तहां बिकानो आय छेद करि कटि में बांध्यो ।
बिन हरदी बिन लौन मांस ज्यौं फूहर रांध्यो ।।
कह गिरिधर कविराय कहाँ लगि धरिये धीरा ।
गुण कीमत घटि गई यहै कहि रोयो हीरा ।।
(गिरिधर कविराय, गिरधर की कुडलियाँ, २६, आदर्शकुमारी)

भौंरा ये दिन कठिन हैं, दुख-सुख सहौ सरीर ।
जब लगि फूलै केतकी, तब लग बिरम करीर ।।
तब लगि बिरम करीर, हर्ष मन मैं नहि कीजै ।
जैसी बहै बयार, पीठ तब तैसी दीजै ।।
कह गिरिधर कविराय होय जिन जिन में बौरा ।
कहै दुख अरू सुख इक सज्जन अरु भौरा ।। (वही)

दाड़िम के धोखे गयो सुवा नारियल खान ।
खान न पायो नेक कछु फिर लागो पछितान ।।
फिर लागो पछितान बुद्धि अपनी को रोया ।
निर्गुणियन के साथ बैठि अपनो गुण खोया ।।
कह गिरिधर कविराय सुनो हो मोरे नोखे ।
गयो झटाका टूटि चोंच दाड़िम के धोखे ।। (वही, २४)

साईं घोड़े अछतहि गदहन पायो राज।
कौआ लीजै हाथ में दूरि कीजिए बाज॥
दूरि कीजिए बाज राज पुनि ऐसो आयो।
सिंह कीजिए कैद स्यार गजराज चढ़ायो॥
कह गिरिधर कविराय जहां यह बूझि बधाई।
तहाँ न कीजै भोर साँझ उठि चलिए साईं॥ (वही, २१)

क्यौं उपज्यो नरलोक! ग्राम के निकट भयो क्यों?
सघन पात सों शीतल छाया दान दयो क्यों?
मीठे फल क्यौं फल्यो? फल्यो तो नम्र भयो कित?
नम्र भयो तो सहु सिर पै बहु विपत्ति लोक कृत॥
तोरि मरोरि उपारिहैं पाथर हनिहैं सबहि नित।
जे सज्जन ह्वै नै कै चलहिं तिनकी यह दुर्गति उचित॥
(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्री व्रजरत्नदास, पृ० ३३८)

कूकर उदर खलाय कै घर-घर चाटत चून।
रंगे रहत सद खून सों नित नाहर नाखून॥
(वियोगी हरि, 'वीर सतसई', पृ० ८)

एक छत्र बन को अधिप पंचानन ही एक।
गजशोणित सों आपुहीं कियौ राज अभिषेक॥ (वही, पृ० १७)

कौन काम के सेत घन नीरस निपट निसार।
कारेहीं घनस्याम लौं बरसावत रसधार॥ (वही, पृ० ७६)

तजि देती जोपै कहूँ, कोयल काग कुठौर।
तो होती पच्छीनु में साँचेहूँ तैं सिरमौर॥ (वही, पृ० ८५)

है मदार के फूल में रूप न रंग न बास।
कैसे भला मधुर हृदय मधुकर आवे पास॥
(हरिऔध, 'सतसई', पृ० ३८)

गंध नहीं रस रूप नहीं है मदांधता मौन!
औठर ढरन बिना ढरे आक कुसुम पर कौन॥ (वही, पृ० ३६)
हो ललाम चाहे सुमन, चाहे हो अललाम।
है रसलोभी मधुप को केवल रस से काम॥ (वही, पृ० ४२)
रूप रंग अब नहिं रहा, नहीं रही अब बास।
कैसे अलि आए भला, दलित कुसुम के पास॥ (वही, पृ० ४२)

है छाया छाया नहीं, हैं फल चढ़े पहाड़।
ऊँचे बन पाए नहीं सिर ऊँचा कर ताड़॥ (वही, पृ० ३३)
आसमान पर खड़े हुए हो, सबसे ऊँचे चढ़े हुए हो।
सब बातों में बढ़े हुए हो, हुए न तनिक उदार॥
(बदरीनाथ भट्ट, 'तारे के प्रति')

हुए ऊँचे तो क्या यदि सुमन छायादिक नहीं,
कहो कैसे फैले फिर यश तुम्हारा सब कहीं?
सुनो रे खर्जूर! स्फुट मत नहीं है यह नया।
'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः'॥
(मैथिलीशरण गुप्त, 'अन्योक्ति मुक्तावली', सरस्वती, दि० १९०७)

तू जान के भी अनल प्रदीप।
पतंग! जाता उसके समीप।
अहो नहीं है इसमें अशुद्धि,
'विनाशकाले विपरीत-बुद्धिः'॥ (वही)

संतुष्ट आक पर नित्य रहो सहर्ष।
हे ग्रीष्म! सन्तत करो उसका प्रकर्ष।
है कौन हेतु पर होकर जो कराल।
हो नष्ट-भ्रष्ट करते तुम यह तमाल॥ (सियारामशरण गुप्त)

मैं पंथी पृथ्वीसागर का लक्ष्य यहाँ मँझधार नहीं।
रुकना कहीं बीच में मेरा ध्येय नहीं व्यापार नहीं।
रोक सकेगा कौन उमंगते दीपक पर परवानों को।
फूलों पर मंडराने वाले भौरों के मधुदानों को।
मैं बलिदान बुला लाया हूँ लक्ष्य न टूटे प्राण गलें।
लाशों के ऊपर जीवन के अभिनव दीप उदान जलें।
सन्ध्या आती है आने दो अमा बढ़े तारक डूबें।
अगणित उल्काओं के क्षण-क्षण जीवनसंवाहक डूबें।
नई सृष्टि में नये कोष में वाक्यावलि साकार यही।
मैं पंथी पृथ्वीसागर का लक्ष्य यहाँ मँझधार नहीं।
(उदयशंकर भट्ट)

मीठे स्वर में बोल,
मुरलिके, मन की गांठें खोल!

जड़ चेतन मोहे तूने नित
किए कूदते वन मृग स्तंभित,
अब साँपों से खेल न मोहिनि,
निज क्षमता मत तोल !
छिद्रों में अहि पलते छिपकर,
गूढ़ पाद जिह्मग गति, निःस्वर,
रोम-रोम से सुनता निश्चित
चक्षुश्रवों का गोल !
बिना रीढ़ ये रेंग धरा पर
लुक छिपकर नित फिरते डर-डर
भूल न इनके मुँह में पड़ना
ये सुहावने ढोल !
उठती विष की लहर-लहर पर
चलता एक न जंतर-मंतर
नागवंश के लिए भला क्या
झाड़ फूँक का मोल !

(पंत, 'अतिमा', मुरली के प्रति, पृ० ८६)

विविध

संसार-सम्बन्धी

माली आवत देखिकै कलियाँ करैं पुकार ।
फूली फूली चुनि लिए कालिह हमारी बार ॥

(कबीर वचनावली, पृ० १३०)

चलती चक्की देखिकै दिया कबीरा रोय ।
दुइ पट भीतर आइकै साबित गया न कोय ॥

(कबीर वचनावली, पृ० १३०)

कबिरा खेत किसान का मिरगों खाय झाड़ ।
खेत बिचारा क्या करै, जो धनी करै नहिं बाड़ ॥

(कबीर वचनावली)

मैं भँवरा तोहिं वरजिया बन-बन बास न लेय ।
अटकैगा कहुँ बेल से तड़पि-तड़पि जिय देय ॥

(कबीर वचनावली, पृ० १३०)

बाँबी कूटे बावरे साँप न मारा जाय।
मूरख ! बांबी ना डसै सर्प सबन का खाय।।
(कबीर वचनावली, पृ० १३०)

पात झरंता यों कहे सुनु तरवर बनराय।
अब के बिछुरे ना मिले दूर परैंगे जाय।।
(कबीर वचनावली, पृ० १३१)

फागुन आवत देखि करि, बन सूना मनमांहि।
ऊंची डाली पात हैं, दिन दिन पीले थांहि।।
(कबीर वचनावली पृ० १३१)

दव की दाही लाकड़ी ठाढ़ी करै पुकार।
अब जो जाऊं लोहार घर दाहै दूजी बार।।
(कबीर वचनावली, पृ० १३१)

ए करुवाई बेलरी, हैं करुवा फल तोय।
सिद्ध नाम जब पाइये, बेलि बिछोहा होय।। (वही)

सुगवा पिंजरवा छोरि भागा।
इस पिंजरे में दस दरवाजा दस दरवाजे किवरवा लागा।।
अंखियन सेति नीर बहन लाग्यो अब कस नाहिं तू बोलत अभागा।।
कहत कबीर सुनो भाई साधो उड़िगो हंस टूटि गयो तागा।
(कबीर वचनावली, पृ० २४६)

सुवटा डरपत रहु मेरे भाई, तोहि डराई देत बिलाई।।
तीन बार रूंधै इक दिन में, कबहुंक खता खवाई।।
या मंजारी मुगध न मानै, सब दुनियां डहकाई।
राणां राव रंकलौं ब्यापै, करि करि प्रीति सवाई।।
कहत कबीर सुनहु रे सुवटा, उबरै हरि सरनाई।
लाषौं मांहि ते लेत अचानक, काहू न देत दिखाई।।
(कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११६)

जिन्ह एहि हाट लीन्ह बेसाहा
ताकहं आन हाट कित लाहा ?
कोई करै बेसाहनी, काहू केर बिकाइ।
कोई चले लाभ सन कोई मूर गंवाइ।।
(जायसी, 'पद्मावत', जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १४)

सरवर देख एक मैं सोई । रहा पानि, पै पान न होई ॥
सरग आइ धरती महं छावा । रहा धरति, पै धरत न आवा ॥

(वही, पृ० २५८)

भंवर जो पावा कंवल कहं, मन चिन्ता बहु केलि ।
आइ परा कोइ हस्ति तहं, चूरि गएउ सब बेलि ॥

(वही, 'पद्मावत' पृ० ४१०, सं० वासुदेवशरण)

एकै रूप कुलाल को माटी एक अनूप ।
भाजन अमित बिसाल लघु तौ करता मनरूप ॥

(तुलसी-सतसई, सतसई-स०, पृ० ४१)

आंधरे ने हाथी देखि झगरो मचायो है ॥
पांव जिन गह्यो सो तो कहत है ऊखल सों,
पूँछ जिन गही तिन लावसों सुनायो है ।
सूंड जिन गही तिन दगले की बांह कही,
दंत जिन गह्यो तिन मूसर दिखायो है ।
कान जिन गह्यो तिन सूप सों बनाय कह्यो,
पीठ जिन गही तिन बिठौरा बतायो है ।
जैसो है तैसो ही ताहि सुन्दर सु अच्छी जाने,
आंधरे ने हाथी देखि झगरो मचायो है ॥

(सुन्दर-विलास, पृ० १०४)

को छूट्यौ इहि जाल परि, कत कुरंग, अकुलात ।
ज्यों ज्यों सुरझि भज्यौ चहत, त्यों त्यों उरझत जात ॥

(बिहारी-रत्नाकर, दो० ६७१)

पनिहारी इहि सर परे लरति रही सब पाँह
रीतो घट लै घर चली उतै मारिहै नाह ॥
उतै मारिहै नाह काह तिहि ऊतरु दै है ।
रोय रोय पति खोय फेरि सर पै फिरि ऐ है ।
बरनै दीनदयाल इतै हंसिहैं सब नारी ।
ख्वारी दुहूँ दिसि परी अरी ग्वारी पनिहारी ॥

(दीनदयाल, 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' ३।१७)

मोहै चंपक छबिन तें पथिक ! न यहि आराम ।
कुँद कली अवली भली लसत बिंब बसु जाम ॥

लसत बिंब बसु जाम कीर खंजन संग मिलि के ।
सजें भौंर तित लोल बोल बिलसैं कोकिल के ।।
बरनै दीनदयाल बाग यह पथ को सोहै ।
पंथी ! गौन है दूरि, देख ! बीचहि मति मोहै ।।

(दीनदयाल, 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम', ४।२३)

सुनहु पथिक भारी कुंज लागी दवारी,
जहँ तहँ मृग भागे देखिए जात आगे।
फिरत कित भुलाने पाय ह्वै हैं पिराने,
सुगम सुपथ जाहू बूझिए क्यों न काहू ।

(वही, ४।११)

जा गुलाब के फूल कौं सदा न रंग ठहराइ ।
मधुकर मत पच तूं अरे वासौं नेह लगाइ ।।

(रसनिधि, 'सतसई-सप्तक', पृ० २२४)

सागर में तिनका है बहता ।
उछल रहा है लहरों के बल ।
"मैं हूँ" "मैं हूँ" कहता ।।
अपने को बड़ा समझता,
यह उसकी नादानी ।
धीरे-धीरे गला रहा है,
इसको खारा पानी ।
धक्के खाकर भी इतराता,
ऐसा मद से फूला ।
'मैं हूँ कौन' ! है—
इसको बिलकुल भूला ।

(बदरीनाथ भट्ट, 'मनुष्य और संशय')

बीते निशा-समय भोर अवश्य होगा,
आदित्य देख वन पंकज का खिलेगा ।
यों कोश भीतर मधुव्रत सोचता था,
कि प्रात मत्त गज ने नलिनी उखाड़ी ।

(कन्हैयालाल पोद्दार, 'अन्योक्ति-दशक')

आलोक किरण है आती रेशमी डोर खिंच जाती,
दृग-पुतली कुछ नच पाती, फिर तम-पट में छिप जाती,
कलरव कर सो जाते विहंग ।
(प्रसाद, 'अशोक की चिन्ता')

जब पल भर का है मिलना, फिर चिर वियोग में झिलना
एक ही प्रात है खिलना, फिर सूख धूल में मिलना
तब क्यों चटकीला सुमन रंग । (वही)

धूलि की ढेरी में अनजान
छिपे हैं मेरे मधुमय गान !
कुटिल काँटे हैं कहीं कठोर,
जटिल तरु जाल हैं किसी ओर,
सुमन दल चुन चुनकर निशिभोर
खोजना है अजान वह छोर ! (पंत, 'पल्लव', पृ० ५७)

यह सरिता का बहता अंचल,
इसमें केवल फेन ग्रथित जल ?
सीपी का प्रसार मुक्तास्मित—
तट असीम में मौन निमज्जित,
नीलोज्वल निःशब्द शान्ति सा
उर में सूक्ष्माकाश प्रतिफलित !
यह सरिता का गाता अंचल,
इसमें केवल वाष्प अश्रुजल ?
आदि न मिलता अन्त न मिलता,
मध्य स्वप्न-सा लगता मोहित,
शशि की रजत तरी अप्सरियाँ
खेतीं अन्तर पथ में दीपित !
(पन्त', अतिमा, पृ० ९२)

दो बांस तीन डंडों से बनी नसेनी यह
जो खड़ी सहन का जोड़ रही छत से नाता,
धरती-आकाश बने जब से तब से इस पर
हर एक यहाँ चढ़-उतर, उतर-चढ़ता जाता !

× × ×

कोई आँगन में, कोई पहली सीढ़ी पर
कोई हो खड़ा दूसरी पर पछताता है,
पग धरने को है कोई विकल तीसरी पर
कोई छत पर जाकर निज सेज बिछाता है !

अचरज होता है कैसे बस दो बाँसों पर
है सधी सृष्टि इतनी विशाल, इतनी भारी !
कैसे केवल घुन-लगे तीन इन डंडों पर
चढ़ उतर रही है युग-युग से दुनियाँ सारी !

(नीरज, 'नसेनी')

मैं नीर-भरी दुख की बदली !
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी, मिट आज चली !

(महादेवी वर्मा, 'सांध्यगीत', यामा, पृ० २२७)

ग्रास करने नौका स्वच्छन्द
घूमते-फिरते जलचर वृन्द,
देखकर काला सिन्धु अनन्त
हो गया हा ! साहस का अन्त !

(महादेवी वर्मा)

विष का स्वाद बताना होगा ।
ढाली थी मदिरा की प्याली,
चूसी थी अधरों की लाली,
कालकूट आने वाला अब, देख नहीं घबराना होगा ।
बिष का स्वाद बताना होगा ।

(बच्चन, 'एकान्त संगीत', पृ० १०३)

रात इधर ढलती तो दिन उधर निकलता है,
कोई यहाँ रुकता तो कोई वहाँ चलता है,
दीप औ' पतंगे में फर्क सिर्फ इतना है—
एक जलके बुझता है, एक बुझ के जलता है !

(नीरज, 'सात मुक्तक', दर्द दिया है, पृ० ८६)

सामाजिक

हंसों पर दो दृष्टि अनुज ये शुक्ल सही हैं
हों, पर इनके हृदय कालिमा-रिक्त नहीं हैं,
पर की उन्नति देख मूढ़ ये जल जाते हैं
नभ में घन देख कहीं ये टल जाते हैं।

(रामचरित उपाध्याय, 'रामचरित-चिन्तामणि')

बगला बैठा ध्यान में, प्रातः जल के तीर।
मानो तपसी तप करे, मलकर भस्म शरीर ॥
मलकर भस्म शरीर, तीर जब देखी मछली।
कहै 'मीर' ग्रसि चोंच समूची फौरन निगली।
फिर भी आवे शरण, वैर जो तजके अगला।
उनके भी तू प्राण हरे रे छी! छी!! बगला ॥ (मीर)

रे दोषाकर! पश्चिम-बुद्धि!
कैसे होगी तेरी शुद्धि?
द्विजगण को कोने बैठाया,
जड़ दिवान्ध को पास बुलाया!

(पं० गिरिधर शर्मा, 'सरस्वती', फरवरी १६०८)

घूमत चरण सियार के गजमद-मर्दन सेर।
झपटत बाजनु पै लवा, अहो! दिननि के फेर ॥

(वियोगी हरि, वीर-सतसई, पृ० ६८)

अब कोयल! वह ऋतु कहाँ, कहं कूजन तरु-डार?
कहं रसालरस-बौर कहं, बनविहंग विहार ॥ (वही, पृ० ७३)

चाल चल चल निगल निगल उनको,
हैं बड़ी मछलियाँ बनीं मोटी।
सौ तरह से छिपीं, लुकीं, उछलीं,
छूट पाईं न मछलियाँ छोटी।

(अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'चुभते चौपदे', पृ० ५४)

पत्थरों को नहीं हिला पाती,
पत्तियाँ तोड़ तोड़ है लेती।
है न पाती हवा पहाड़ों से,
पेड़ को है पटक पटक देती। (वही, पृ० ५५)

अबे सुन रे गुलाब !
भूल मत गर पाई खुशबू रंगोआब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट ।
कितनों को तूने बनाया गुलाम
माली कर रखा सहाय जाड़ा घाम ।

× ×

शाहों राजों अमीरों का रहा प्यारा
इसलिए साधारणों से रहा न्यारा ॥
(निराला, 'कुकुरमुत्ता', पृ० ३)

बीत गए कितने दिन—कितने मास !
पड़े हुए सहते हो अत्याचार,
पद-पद पर सदियों के पद-प्रहार,
बदले में, पद में कोमलता लाते,
किन्तु हाय ! वे तुम्हें नीच ही हैं कह जाते ।
तुम्हें नहीं अभिमान,
छूटे कहीं न प्रिय का ध्यान,
इससे सदा मौन रहते हो
क्यों रज, विरज के लिए ही इतना सहते हो ?
(निराला, 'कण', परिमल, पृ०, १७२)

घने कुहासे के भीतर लतिका दी एक दिखाई,
आधी थी फूलों में पुलकित, आधी वह कुम्हलाई !
एक डाल पर गाती थी पिक मधुर प्रणय के गायन,
मकड़ी के जाले में बन्दी अपर डाल का जीवन !
इधर हरे पत्ते यात्री को देते मर्मर छाया,
उधर खड़ी कंकाल मात्र सूनी डालों की काया !
विहगों के थे गीत नीड़, कृमिकुल का कर्कश क्रन्दन,
मैं विस्मय से मूढ़, सोचता था क्या इसका कारण !
(पन्त, 'भूलता', स्वर्ण-किरण, पृ० ७७)

अहे वासुकि सहस्र फन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर

छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर !
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर !
मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त, कंचुक कल्पान्तर
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुण्डल
दिङ्मंडल !
(पन्त, 'परिवर्तन', पल्लव, पृ० १५०)

मुसकाओ हे भीम कृष्ण घन !
गहन भयावह अन्धकार को
ज्योति-मुग्ध कर चमको कुछ क्षण !
दिग् विदीर्ण कर, भर गुरु गर्जन,
चीर तड़ित से अन्ध आवरण।
उमड़ घुमड़ घिर रूम-झूम हे
बरसाओ नवजीवन के कण !
(पन्त, 'युगवाणी', पृ० १०५)

विजन वन के ओ विहग कुमार,
आज घर-घर रे तेरे गान,
मधुर मुखरित हो उठा अपार
जीर्ण जग का विषण्ण उद्यान !
सहज चुन-चुन लघु तृण, खर, पात,
नीड़ रच-रच निशि-दिन सायास,
छा दिए तूने शिल्पि सुजात,
जगत की डाल-डाल में वास !
मुक्त पंखों में उड़ दिन-रात,
सहज स्पंदित कर जग के प्राण,
शून्य नभ में भर दी अज्ञात
मधुर जीवन की मादक तान !
(पन्त, 'विहग के प्रति', गुञ्जन, पृ० ८१)

केंचुल हैं ये कोरे केंचुल,
फिर भी मन इनसे भय खाता।

दुःस्वप्नों की छाया स्मृतियाँ,
शेष न अब सांसों से नाता !
कभी खँडहरों में, डगरों में
मिल जाते ये धूलि धूसरित,
चिकने, चितकबरे, चमकीले,
टूटे फूटे, कुण्ठित लुण्ठित !
अब न क्रुद्ध फुफकार जिह्म गति,
गरल दंष्ट्र, उद्धत फन नर्तन,
रहीं न दुहरी जीभें—सम्भव
था क्या जीते जी परिवर्तन !

(पन्त, 'केंचुल', अतिमा, पृ० ६४)

दारुण मेघ घटा घहराई
युग सन्ध्या गहराई !
आज धरा प्रांगण पर भीषण
झूल रही परछाईं !
तुम विनाश के रथ पर आओ,
गत युग का हत शव ले जाओ,
गीध टूटते, श्वान भूँकते,
रोते शिवा बिदाई !

(पन्त, 'युगछाया', उत्तरा, पृ० ५)

यह प्रवाह है, यह न रुका है, यह न रुकेगा ।
आने दो अवरोध पर्वतों की काया धर,
लगने दो गिरि चट्टानों की हाट-बाट पर,
उठने दो भूचाल, आँधियों के आँगन से,
झरने दो उल्काओं की बरसात गगन से,
यह न मौसमी जल गड्ढों में जो बँध जाये,
यह प्रवाह है, यह न रुका है, यह न रुकेगा ।

(नीरज, 'यह प्रवाह है'',)

मत व्यथित हो फूल ! किसको
सुख दिया संसार ने ?
स्वार्थमय सबको बनाया—
है यहाँ करतार ने !

कर दिया मधु और सौरभ
दान सारा एक दिन,
किन्तु रोता कौन है
तेरे लिए दानी सुमन ?

(महादेवी, 'यामा', पृ० ३०)

गगन पर घिरो मंडलाकार
अवनि पर गिरो वज्रसम आज
गरज कर भरो रुद्र हुंकार
यहाँ पर करो नाश का साज !
नष्ट भ्रष्ट प्रासाद पड़े हों जल प्लावित संसार
शून्य कर रहा हो पागल सी लहरों का अभिसार
नीचे जल हो ऊपर जल हो ऐ जल के उद्गार !
बरसो बरसो और सघन घन महा प्रलय की धार ।

(भगवतीचरण वर्मा, 'बादल')

पतझर की सूखी शाखों में लग गई आग, शोले लहके !
चिनगी-सी कलियाँ खिलीं, और हर फुनगी लाल फूल दहके !
सूखी थीं नसें, बहा उनमें फिर बूंद बूंद कर नया खून,
भर गया उजाला डालों में खिल उठे नये जीवन प्रसून !
अब हुई सुबह, चमकी कलगी, दमके मखमली लाल शोले !
फूले टेसू—बस इतना ही समझे पर देहाती भोले !
लो, डाल डाल से उठी लपट ! लो डाल डाल फूले पलाश !
यह है वसन्त की आग, लगा दे आग जिसे छू ले पलाश !
लग गई आग, वन में पलाश, नभ में पलाश, भू पर पलाश !
लो चली फाग, हो गई हवा भी रंगभरी छू कर पलाश !
आते यों, आयेंगे फिर भी वन में मधु-ऋतु-पतझार कई,
मरकत-प्रवाल की छाया में होगी सब दिन गुञ्जार नई !

(नरेन्द्र, 'पलाश', पलाशवन, पृ० १)

आज शिखा प्रज्वलित हुई है इस दीपक की अन्तिम बार,
मेरे चारों ओर विदा का विस्तृत हुआ करुण संसार,
पूरी एक रात भी जल कर किया न कुटिया का शृंगार,
अब बुझता हूँ, किसी हृदय ने ढाली नहीं स्नेह की धार !

जग तो बिजली पर मरता है,
जहाँ स्नेह का नहीं निशान;
मेरी इस छोटी-सी लौ का,
यहाँ नहीं हो सकता मान!

(हरिकृष्ण 'प्रेमी', 'उपेक्षित दीप')

करि अबलन कौ श्री हरण बारिवाह के संग।
घर करती जहं चञ्चला आयौ समय कुढंग॥

(रामदहिन मिश्र, अनुवाद 'काव्यालोक', पृ० २३५)

जल उठे है तन बदन से
क्रोध में शिव के नयन से।
खा गये निशि का अँधेरा,
हो गया खूनी सबेरा।
जग उठे मुर्दे बिचारे,
बन गये जीवित अँगारे।
रो रहे थे मुँह छिपाये,
आज खूनी रंग लाये।

(केदारनाथ अग्रवाल, 'कोयले')

धरती पर आग लगी पंछी मजबूर है
क्योंकि आसमान बड़ी दूर है।
उड़ उड़ जुगनू हारे
कब बन पाये तारे
अपने मन का पंछी
किस बल पर उड़ता रे!
प्रश्न एक पवन के प्रमाद में मुखर हुआ।
पंछी को धरती पर जलना मंजूर है।

(विद्याधर द्विवेदी, 'बबूल के फूल')

क्या खाक वसन्त मनाऊँ मैं!
मैं देख रहा हूँ आया वसन्त, लेकिन वसन्त का राग नहीं,
वैधव्य भोगती तरुराजी, कोयल का क्या सुहाग नहीं?
सरिताओं का रस सूख गया, लहराते कूप तड़ाग नहीं!

(पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश')

धरा पर गन्ध फैली है
हवा में साँस भारी है
रमक उस गन्ध की है
जो सड़ाती मानवों को
बन्द जेलों में।
सुबह में
साँझ में है
घुल रहा
यह रक्त का सूरज !
(शकुन्तला माथुर, 'ताज़ा पानी', दूसरा सप्तक, पृ० ५२)

सड़ी झीलों से उड़ते आज
लोभी मांस के बगले
दबाये चोंच में मछली
वहीं बैठे हुए हैं गिद्ध
रहे हैं घूर
मछली को
गिरी जो
चोंच से मछली
लगाये घात बैठे हैं
लगाये दाँव बैठे हैं
डुबाता गन्दी झीलें
बढ़ रहा है
आज यह चश्मा
लिये ताज़ा नया पानी
चला आता है
यह चश्मा
उगाता है शहीदों को
किनारे पर बढ़ाता है
नये खूँ को
सदा आगे
डुबाता आ रहा है
वह विषैले रक्त के जोहड़

लिये ताजा
नया पानी
चला आता है यह चश्मा
नया मानस लगाता आ रहा है
नया सूरज बनाता आ रहा है।   (वही)

ये हरे वृक्ष
यह नयी लता
खुलती कोंपल
यह बन्द फलों की कलियाँ सब
खुलने को, खिलने को, झुकने को होतीं
स्वयं धरा पर।
धूल उड़ रही,
धूल बढ़ रही,
जबरन रोकेगी यह राह
अपनी धाक जमा कर ?
जोर जमाकर आंधी।
तोड़ रही कुछ हरे वृक्ष
सब नयी लता
ये परवश
इस धरती की बात रही यह
कहीं उगा दे
ऊँचे पर, नीचे पर, पत्थर पर
पानी में।   ('ये हरे वृक्ष', दूसरा सप्तक)

हो चुका हेमन्त
अब शिशिरान्त भी नजदीक है।
पात पीले गिर चुके तरु के तले
आज ये संक्रान्ति के दिन भी चले।
नाश का घनघोर नक्कारा
सुबह के आगमन की गूँज देकर
डूबता जाता विगत के गर्भ में।
भागता पतझार अपनी ध्वंस की गठरी समेटे।
(हरिनारायण व्यास, 'शिशिरान्त', दूसरा सप्तक, पृ० ७७)

चलते चलो, चलते चलो !
सूरज के संग-संग चलते चलो, चलते चलो !
तम के जो बन्दी थे
सूरज ने मुक्त किए
किरणों ने गगन पोंछा
धरती को रंग दिये
सूरज को विजय मिली रितुओं की रात हुई।
कह दो इन तारों से चन्दा के संग-संग चलते चलो !

(नरेशकुमार मेहता, 'दूसरा सप्तक')

वैयक्तिक

गाज इतै ऊखेड़ गज। मांझल वन तर मूल।
जागै नह थह में जितै। सझ हाथल साद्रूल ॥ (बांकीदास)

मधुकर काके मीत भए ?
दिवस चारिकी प्रीति सगाई सो लै अनत गए ॥
डहकत फिरत आपने स्वारथ पाखंड और ठए।
चांडैं सरे चिन्हारी मेटी करत हैं प्रीति न ए ॥

(सूरदास, 'भ्रमरगीतसार', पद २५४)

मधुकर ! बादि वचन कत बोलत ?
तनक न तोहिं पत्याऊँ, कपटी अन्तर कपट न खोलत।
तू अति चपल अलप को संगी बिकल चहूँ दिसि डोलत।
मानिक कांच, कपूर कटु खली, एक संग क्यों तोलत ?
सूरदास यह रटत वियोगिनि दुसह दाह क्यों झोलत ?
अमृतरूप आनंद अंगनिधि अनमिल अगम अमोलत ॥

(वही, पृ० २५२)

कोउ कहै रे मधुप कहा तू रस को जाने।
बहुत कुसुम पै बैठि सबन आपुन रस मानें।
आपुन सों हम को कियौ चाहतु है मतिमंद।
दुविधा रस उपजाय कै दूषित प्रेम अनन्द।
कपट के छंद सों

(नन्ददास, भ्रमरगीत, 'नन्ददास ग्रन्थावली', पृ० १८४)

कोउ कहै रे मधुप प्रेमपद को सुख देख्यो।
अबलों याहि विदेस मांहि कोउ नाहि बिसेख्यो ।।
द्वै सिध आनन पर जमे कारो पीरो गात।
खल अमृत सब पानही अमृत देखि डरात।
बादि यह रस कथा ।। (वही, पृ० १८४)

अनियारे, दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवन औरै कछु जिहि बस होत सुजान ।।
('बिहारी-रत्नाकर', दो० ५८८)

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देख विहंग ! विचारि।
बाज ! पराये पानि परि तू पच्छीनु न मारि ।। (वही, दो० ३००)

अज्यौं तर्‌यौना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक रंग।
नाक-बास बेसर लह्यौ, बसि मुकुतनु के संग। (वही, दो० २०)

पावस देखि रहीम मन, कोयल साधे मौन।
अब दादुर वक्ता भये, हमहिं पूछिहै कौन ?
(रहीम, 'रहीम-रत्नावली', दो० ११७)

सुनहूँ विटप ! हम फूल हैं तिहारे
जो पै राखो पास सोभा चौगुनी बढ़ायेंगे,
तजिहो हरष विरख है न चारो कछू
जहाँ तहाँ जैहैं, तहाँ दूनी छवि पायेंगे,
सुरन पै चढ़ेंगे या नरन पै चढ़ेंगें हम,
सुकवि 'रहीम' हाथ हाथ ही बिकायेंगे,
देश में रहेंगे या विदेश में रहेंगे,
काहू भेष में रहेंगे पै तिहारे ही कहायेंगे। (रहीम)

चातक को दुख दूर कियो पुनि दीनो सबै जग जीवन भारी।
पूरे नदी-नद ताल-तलैया किए सब भांति किसान सुखारी ।।
सूखेहू रूखन कीने हरे जग पूर्‌यो महामुद दै निज बारी।
हे घन ! आसिन लौं इतनो करि रीते भये हूँ बड़ाई तिहारी ।।
(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 'भारतेन्दु ग्रन्थावली', पृ० ६६१)

कठघरे में रोक रखता है तुम्हें कोई कहीं,
तो वहां भी धन्य तुमको दीनता आती नहीं,
छूटते ही गर्जता है पूर्व के उत्साह से
सिंह जा निज बन्धुओं को भेंटता है चाह से। (रामचरित उपाध्याय)

हह ! अधम आँधी, आ गई तू कहाँ से ?
प्रलय घनघटा सी छा गई तू कहाँ से ?
पर दुखसुख तूने हा न देखा न भाला,
कुसुम अधखिला ही हाय ! यों तोड़ डाला।
यह कुसुम अभी तो डालियों में धरा था,
अगणित अभिलाषा और आशा भरा था,
दलित कर इसे तू काल ! क्या पा गया रे ?
कणभर तुममें क्या है नहीं हा ! दया रे ?
(रूपनारायण पांडेय, 'दलित कुसुम', सरस्वती, अप्रैल १९१५)

जो स्वजनों के बीच चमकता था अभी।
आशा पूर्वक जिसे देखते थे सभी।
होने को था अभी बहुत कुछ जो बड़ा।
हाय ! वही नक्षत्र अचानक खस पड़ा।
निशि का सारा भाव हत हो गया।
नभ के उर का एक रत्न सा खो गया।
आभा उसके अमल अन्तिमालोक की।
रेखा सी कर गई हृदय पर शोक की॥
(मैथिलीशरण गुप्त, 'नक्षत्र-निपात', सरस्वती, जून १९१४)

एक कली यह मेरे पास !
तुम चाहो इसको अपना लो,
कर दो इसका पूर्ण विकास !

तुम इसमें स्वर्गिक रंग भर दो
निज सौरभ में मज्जित कर दो।
उरको अक्षय मधु का वर दो
अधरों पर धर शाश्वत हास !

देखे एक तुम्हारा यह मुख
अपलक ऊपर को हो अभिमुख,
दुख में भी माने असीम सुख
काँटों में बिखरा उल्लास!

यह हँसते हँसते झर जावे
जग में निज सौरभ भर जावे

भू रज को उर्वर कर जावे
नव बीजों से, हो न विनाश !
(पंत, 'अभिलाषा', उत्तरा, पृ० १२१)

कली निगाह में पली
हिली डुली कपोल में,
हृदय प्रदेश में खुला,
तुली हंसी की तोल में।

गरम गरम हवा चली,
अशान्त रेत से भरी,
हरेक पांखुरी जली
कली न जी सकी—मरी।
बबूल आप ही पला
हवा से वह न डर सका
कठोर जिन्दगी चला,
न जल सका—न मर सका। (केदारनाथ अग्रवाल)

मैंने सब को गंगा जमुना दे डाला।
पर फिर भी सबने आग हृदय में पाला।
(रमानाथ अवस्थी, 'आग पराग')

तरु गिरा
जो—
झुक गया था, गहन
छायाएँ लिये।
अब
हो उठा है मौन का उर
और भी मौन.......
(शमशेर बहादुरसिंह, दूसरा सप्तक, पृ० ११२)

कंटकों की भीड़।
लम्बे चौड़ तक के नीड़ सब खाली पड़े हैं।
गिर गये पक्षी सुनहली पांख वाले
आज असमय की भयानक ऊष्ण भापों ने

झुलस उनका दिया तन
भुन गया जीवन सदा को।
आज केवल एक तू ही छा रहा सूखे गगन में
श्याम घन।"

(हरिनारायण व्यास, 'नेहरू के प्रति', वही, पृ० ६५)

राष्ट्रीय

अब तो आँखें खोलो प्यारे,
पूर्व दिशा अब अरुण हुई है।
प्रकृति देवि अब पट बदल रही है
यम ने तम की बाँह गही है,
छिपकर भागे तारे।

नव जीवन संचार हुआ है,
ऐक्य भाव विस्तार हुआ है
सुखमय सब संसार हुआ है,
जागे साथी सारे॥

(बदरीनाथ भट्ट, 'एक बन्द कमल के प्रति')

क्या कहा? काले? हाँ हम श्वेत नहीं
किन्तु क्या निर्मल नीरनिकेत नहीं?
बरसते हैं क्या साम्य समेत नहीं?
हरे रखते हैं क्या सब खेत नहीं?
सरस हैं पर हम शक्ति-विहीन नहीं
आर्द्र होकर भी क्या धनहीन नहीं?
देख लो दाता हैं हम दीन नहीं,
समय के हम हैं किन्तु अधीन नहीं!

(मैथिलीशरण गुप्त, 'बादल')

श्वान के सिर हो
चरण तो चाटता है।
भोंक ले क्या सिंह
को यह डाँटता है?
रोटियाँ खायीं कि

साहस खा चुका है,
प्राणि हो, पर प्राण से
वह जा चुका है।
तुम न खेलो ग्राम सिंहों में भवानी।
विश्व की अभिमान मस्तानी जवानी।

(माखनलाल चतुर्वेदी, 'जवानी')

चाह नहीं सुर बाला के गहनों में गूँथा जाऊँ
चाह नहीं प्यारी की माला में बिंध प्रेमी को ललचाऊँ,
चाह नहीं सम्राटों के सिर हे हरि, डाला जाऊँ,
मुझे तोड़ लेना हे बनमाली ! उस पथ पर देना तुम फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।

(माखनलाल चतुर्वेदी, 'पुष्प की अभिलाषा')

देश के वन्दनीय वसुदेव कष्ट में लें न किसी की ओट।
देवकी मातायें हों साथ, पदों पर जाऊँगा मैं लोट।
जहाँ तुम मेरे हित तैयार, सहोगे कर्कश कारागार।
वहाँ बस मेरा होगा वास, गर्भ का प्रियतर कारागार
वर्ष टल गए महीने शेष, साधना साधो, रक्खो होश
उन्हीं हृदयों में लूँगा जन्म, जहाँ हो निर्मल जीवित जोश।

(माखनलाल चतुर्वेदी, 'एक भारतीय आत्मा')

उधर वे दुःशासन के बन्धु
युद्ध-भिक्षा की झोली हाथ।
इधर ये धर्मबन्धु नयसिन्धु
'शस्त्र लो' कहते हैं दो साथ।
लपकती हैं लाखों तलवार, मचा डालेंगी हाहाकार,
मारने मरने की मनुहार, खड़े हैं बलि-पशु सब तैयार
किन्तु क्या कहता है आकाश ? हृदय, हुलसो सुन यह गुंजार,
'पलट जाये चाहे संसार, न लूँगा इन हाथों तलवार'॥

(वही)

सिंह-सावकनु के भए शिक्षक आजु शृगाल।
एइ सिखैहैं अब इन्हें गज-मर्दन कौ ख्याल !

(वियोगी हरि, वीर सतसई, पृ० ८५)

छिन्न-भिन्न ह्वै उड़ति क्यों मद-भौरनु की भीर ?
दार्यो कुंभ करीन्द्र कौ कहूँ केहरी बीर ॥

(वही, पृ० १७)

तौ लगिहीं तू गरजि लै गो घातक ! बनमाँहि।
जौ लगि मत्त मृगेन्द्र ! यह दबी लबलबी नाँहि ॥

(वही, पृ० ६०)

झरते हों, झरने दो पत्ते, डरो न किंचित्,
नवल मुकुल मंजरियों से भव होगा शोभित !
सदियों में आया मानव जग में यह पतझर,
सदियों तक भोगोगे नव मधु का वैभव वर !

(पन्त, 'पतझर', युगवाणी, पृ० १२)

कीर का प्रिय, आज पिंजर खोल दो !
क्या तिमिर कैसी निशा है !
आज विदिशा ही दिशा है।
दूर-खग आ निकटता के
अमर बन्धन में फँसा है !
प्रलय घन में आज राका घोल दो।
कीर का प्रिय आज पिंजर खोल दो !
हो उठी हैं चंचु छूकर,
तीलियाँ भी वेणु सस्वर,
वन्दिनी स्पन्दित व्यथा ले,
सिहरता जड़ मौन पिंजर !
आज जड़ता में इसी की बोल दो !
जग पड़ा छू अश्रु-धारा।
हत परों का विभव सारा,
अब अलस बन्दी युगों का—
ले उड़ेगा शिथिल कारा !
पंख पर वे सजल सपने तोल दो !

(महादेवी वर्मा, 'यामा', पृ० २३६)

बाँध लेंगे क्या तुझे ये मोम के बन्धन सजीले ?
पन्थ की बाधा बनेंगे तितलियों के पर रंगीले ?

विश्व का क्रन्दन भुला देगी मधुप की मधुर गुनगुन ?
क्या डुबा देंगे तुझे ये फूल के दल, ओस-गीले ?
तू न अपनी छाँह को अपने लिए कारा बनाना !
जाग, तुझको दूर जाना !
(महादेवी वर्मा, 'यामा', पृ० २३४)

तोड़ मोतियों की मत माला।
ये सागर से रत्न निकाले,
युग-युग से हैं गये सम्हाले।
इनसे दुनिया में उजियाला।
तोड़ मोतियों की मत माला।
ये छाती में छेद कराकर,
एक हुए हैं हृदय मिलाकर,
इनमें व्यर्थ भेद क्यों डाला ?
तोड़ मोतियों की मत माला।
माँ का मान इसी माला से।
बच रे हृदय, द्वेष-ज्वाला से।
कर ले पान प्रेम का प्याला।
तोड़ मोतियों की मत माला।
इनमें कोई नहीं बड़ा है।
विधि ने इनको स्वयं घड़ा है।
तू क्यों बनता है मतवाला ?
तोड़ मोतियों की मत माला।
(हरिकृष्ण 'प्रेमी', 'मानमन्दिर' एकांकी)

मेरे देश उदास न हो, फिर दीप जलेगा, तिमिर ढलेगा !
यह जो रात चुरा बैठी है चाँद सितारों की तरुणाई
बस तब तक करले मनमानी जब तक कोई किरन न आई
खुलते ही पलकें फूलों की, बजते ही भ्रमरों की वंशी
छिन्न-भिन्न होगी यह स्याही जैसे तेज धार से काई
तम के पाँव नहीं होते वह चलता थाम ज्योति का अंचल
मेरे प्यार निराश न हो, फिर फूल खिलेगा, सूर्य मिलेगा !
मेरे देश ! उदास न हो, फिर दीप जलेगा तिमिर ढलेगा !!
(नीरज, 'तिमिर ढलेगा', दर्द दिया है, पृ० १७)

शृङ्गारिक

जुगल सैल-सिम हिमकर देखल
एक कमल दुइ जोति रे।
फुललि मधुरि फुल सिन्दुर लोटाएल
पाँति बइसलि गज-मोति रे॥
आज देखल जतल के पतिआएत
अपुरब बिहि निरमान रे।
विपरित कनक-कदलि-तर सोभित
थल पंकज के रूप रे॥

(विद्यापति, 'विद्यापति की पदावली', पद १३)

भँवर मालतिहि पै चहै, काँट न आवै दीठि।
सौहैं भाल खाइ पै फिरि कै देइ न पीठि॥

(जायसी, 'पद्मावत', जायसी ग्रन्थावली, पृ० १८३)

सिंघ-लंक, कुंभस्थल जोरू। आंकुस नाग, महाउत मोरू॥
तेहि ऊपर भा कँवल बिगासू। फिर अलि लीन्ह पुहुप मधु बासू॥
दुइ खंजन बिच बैठेउ सूआ। दुइज क चाँद धनुक लेइ ऊआ॥

(वही, पृ० २५८)

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज बर क्रीड़त, ता पर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरबर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज-पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ता ऊपर अमृत-फल लाग॥
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक, पिक, मृग-मद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग॥
अंग अंग प्रति और और छबि, उपमा ताकौं करत न त्याग।
'सूरदास' प्रभु पियौ सुधा रस मानौ अधरनि के बड़ भाग॥

('सूरसागर', पृ० ६६६)

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सौं बंध्यो, आगे कौन हवाल॥

('बिहारी-रत्नाकर', दो० ३८)

सरस सुमन मंडरात अलि, न झुकि झपटि लपटात।
दरसत अति सुकुमारता परसत मन न पत्यात॥

(वही, दो० ३६६)

पटु पाँखें भखु काकरे सदा परेई संग।
सुखी परेवा ! जगत में, एकै तुही विहंग ।। (वही, ३८)

भौंर भांवरैं भरत है, कोकिल-कुल मंडरात।
या रसाल की मंजरी, सौरभ सुख सरसात ।।
(मतिराम, 'मतिराम-सतसई', दो० ५६६)

सुवरन वरन सुवास युत सरस दलनि सुकुमार।
ऐसे चंपक को तजे तै ही भौर गंवार ।। (वही)

रति रस श्रुति रस राग रस पाय न चाहत और ।।
चाखत मधु अरविन्द कौ लै न ईख रस भौंर ।।
('वृन्द-सतसई', स० स०, पृ० ३१९)

चार जाम दिन के जिन्हैं कलप समान विहात।
चंद चकोरन दरस अब दैन लगौ अधरात ।।
('रसनिधि-सतसई', स० स०, पृ० २२३)

अमरैया कूकत फिरै कोइल सबै जताइ।
अमल भयौ ऋतुराज कौ रुजू होहु सब आई ।।
(वही, पृ० २२०)

नीम कपास बिकास पै बिरमि करै कल गान।
कत मधुकर मधुमाधवी मधुर करत नहिं पान ।।
('राम-सतसई', स० स०, पृ० २८०)

जोबन लहि बिकसित सुमन साजे सुखद सुवास।
केसरि सोभति पदुमिनी लिए अलीगन पास ।।
(वही, पृ० २८४)

क्यों फूली है तू बहुत, भली नहीं यह बात।
जूही ! तू ही सोच क्या, तू ही है छविमान ।।
(हरिऔध, 'हरिऔध-सतसई', पृ० ३६)

विद्रुम सीपी सम्पुट में
मोती के दाने कैसे ?
है हंस न, शुक यह, फिर क्यों
चुगने को मुक्ता ऐसे ? (प्रसाद, 'आँसू', पृ० २३)

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी—स्नेह-स्वप्न-मग्न—
अमल-कोमल-तनु तरुणी—जुही की कली
दृग बन्द किये, शिथिल—पत्रांक में,
वासन्ती निशा थी।
× ×
फिर क्या ? पवन
उपवन सर-सरित गहन गिरि-कानन
कुञ्ज-लताप़ुंजों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली खिली साथ।

(निराला, 'परिमल', पृ० १६१)

कमल पर जो चारु दो खंजन, प्रथम
पंख फड़काना नहीं थे जानते,
चपल चोखी चोट कर अब पंख की
ये विकल करने लगे हैं भ्रमर को।

(पन्त, 'ग्रन्थि', पृ० १८)

प्रथम भय से मीन के लघु बाल जो
थे छिपे रहते गहन जल में तरल
ऊर्मियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें,
लालसा अब है विकल करने लगी। (वही)

कुल वधुओं सी अयि सलज्ज सुकुमार !
शयनकक्ष दर्शनगृह की शृंगार !
उपवन के यत्नों से पोषित,
पुष्पमात्र में शोभित रक्षित,
कुम्हलाती जाती हो तुम, निज शोभा ही के भार।

(पन्त, 'स्वीट पी के प्रति')

यह मुकुल अभी ही खिलकर मुख खोल अवाक् हुआ है,
है अभी अछूता दामन मधुपों ने नहीं छुआ है,
है हृदय-पुष्प अनबेधा, है नहीं किसी ने तोड़ा,
शृंगार हार का करके है नहीं गले में छोड़ा,

मन-मन्दिर सुरुचि बना है, है प्रतिमा अभी न थापी,
यौवन है उठा घटा-सा नाचा है नहीं कलापी।

(गुरुभक्तसिंह, 'नूरजहाँ', पृ० ४५)

(वियोग-पक्ष)

भमर न रुणभुणि रण्णडइ सा दिसि जोइ म रोइ।
सा मालइ देसँतरिअ जसु तुहुं मरहि विओह॥

('हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ० ३४२)

लोचन धाए फेधाएल हरि नहि आयल रे।
सिव-सिव ! जिबओ न जाए आस अरुझाएल रे॥
मन करे तहां उड़ि जाइअ जहां परि पाइअ रे।
प्रेम-परसमनि जानि आनि उर लाइअ रे॥
सपनहु संगम पाओल रंग बढ़ाओल रे।
से मोरा विहि विघटाओल निंदओ हेराएल रे॥
भनइ विद्यापति गाओल धनि धइरज धर रे।
अचिरे मिलत तोहि बालम पुरत मनोरथ रे॥

(विद्यापति, 'विद्यापति की पदावली', पद १९३)

कंवल जो बिगसा मानसर बिनु जल गएउ सुखाइ।
अबहुं बेलि फिर पलुहैं जो पिव सींचै आइ॥

(जायसी, 'पद्मावत')

कंवल सूख पंखुरी बेहरानी।
गलि गलि कै मिलि छार हेरानी॥ (वही)

आवा पवन बिछोह कर पात परा बेकार।
तरिवर तजा जो चूरिकै लागे केहिके डार॥ (वही)

कहत कत परदेसी की बात।
मन्दिर अरध अवधि बदि हमसौं, हरि अहार चलि जात॥
ससि रिपु बरष, सूर रिपु जुग बर, हर-रिपु कीन्हौ घात।
मघ पंचक लै गयौ साँवरौ, तातै अति अकुलात॥
नखत बेद, ग्रह, जोरि अर्ध करि, सोइ बनत अब खात।
सूरदास बस भईं बिरह के, कर मींजैं, पछितात॥

('सूरसागर', पृ० १५८१,

हिन मन कौ पहिचानि जौं ससि लखतौ वह ओर।
चुनते चोंच अंगार लै काहे काज चकोर॥

(रसनिधि, स० स०, पृ० २०३)

तीर है न बीर कोऊ करै ना समीर धीर,
बाढ़्यो स्रम नीर अति रह्यौ ना उपाउ रे।
पंखा है न पास, एक आस तेरे आवन की,
सावन की रैन मोहि मरत जियाउ रे॥
'संगम' में खोलि राखी खिरकी तिहारे हेत,
होति हौं अचेत तन तपन बुझाउ रे।
जान जात जान क्यों न कीजिए उताल गौन,
पौन मीत! मेरे भौन मंद मंद आउ रे॥

(संगम, 'काव्य-निर्णय', पृ० २६, डॉ० सत्येन्द्र)

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी, नीरद माला
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ घेरा डाला।

(प्रसाद, 'आँसू', पृ० १५)

घिर जातीं प्रलय-घटायें
कुटिया पर आकर मेरी
तम-चूर्ण बरस जाता था
छा जाती अधिक अँधेरी। (वही, पृ० १६)

झर गई कली, झर गई कली!
चल-सरित-पुलिन पर वह विकसी,
उर के सौरभ से सहज बसी,
सरला प्रातः ही तो विहंसी,
रे कूद सलिल में गई चली!
आई लहरी चुम्बन करने,
अधरों पर मधुर अधर धरने,
फेनिल मोती से मुँह भरने,
वह चंचल सुख से गई छली!

(पन्त, 'गुञ्जन', पृ० ३७)

पंकज कली !
　　क्या तिमिर कह जाता करुण ?
　　क्या मधुर दे जाती किरण ?
किस प्रेममय दुख से हृदय में
　　अश्रु में मिश्री घुली ?

×　　　　×

मधु से भरा विधुपात्र है,
मद से उनींदी रात है;
किस विरह में अवनत मुखी
लगती न उजियाली भली ?

(महादेवी, 'यामा', पृ० २१६)

२ : सहायक ग्रन्थ

संस्कृत (वैदिक)

१. ऋग्वेद (सायण-भाष्य)
२. ,, (हिन्दी भाष्य, रामगोविन्द त्रिवेदी)
३. यजुर्वेद
४. ऐतरेय ब्राह्मण
५. तैत्तिरीय ब्राह्मण
६. कठोपनिषद्
७. गृह्यसूत्र (पारस्कर)
८. छान्दोग्योपनिषद्
९. श्वेताश्वतरोपनिषद्
१०. निरुक्त, (यास्क, दुर्गाचार्य-टीका)
११. पूर्व मीमांसा (जैमिनि)

संस्कृत (लौकिक)

१. अग्निपुराण (व्यास)
२. अभिज्ञान-शाकुन्तल (कालिदास)
३. अलंकार-मंजूषा (भट्ट देवशंकर)
४. अलंकार-सर्वस्व (राजानक रुय्यक)
५. काव्यप्रकाश (मम्मट, काव्यप्रदीप एवं वामनी टीका)
६. काव्यादर्श (दंडी)
७. काव्यानुशासन (वाग्भट)
८. काव्यालंकार (भामह)
९. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (वामन)
१०. कुवलयानन्द (अप्पय दीक्षित)
११. गीता (व्यास)

१२. चन्द्रालोक (जयदेव)
१३. चित्रमीमांसा (अप्पय दीक्षित)
१४. ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन, आ० विश्वेश्वरकृत हिन्दी-टीका)
१५. ध्वन्यालोक-लोचन (अभिनव गुप्त)
१६. नाट्यशास्त्र (भरत)
१७. पद्मपुराण (व्यास)
१८. प्रबोध-चन्द्रोदय (कृष्णमिश्र)
१९. भागवत (व्यास)
२०. भामिनी-विलास (पंडितराज जगन्नाथ)
२१. मेघदूत (कालिदास, संसारचन्द्र-मोहनदेव संपादित)
२२. रघुवंश (कालिदास)
२३. रसगंगाधर (पंडितराज जगन्नाथ)
२४. रामायण (वाल्मीकि)
२५. वक्रोक्ति-जीवित (कुन्तक, आ० विश्वेश्वर हिन्दी टीका)
२६. वायुपुराण (व्यास)
२७. सरस्वती-कंठाभरण (भोज)
२८. साहित्यदर्पण (विश्वनाथ)
२९. साहित्यसार (अच्युतराय)
३०. सुभाषित-रत्नभांडागार (नारायणराम आचार्य)

प्राकृत

१. गाथा-सप्तशती (हाल)

अपभ्रंश

१. हिन्दी काव्य-धारा (राहुल सांकृत्यायन)

हिन्दी

१. अतिमा (सुमित्रानन्दन पन्त)
२. अनुराग-बांसुरी (नूरमोहम्मद)
३. अन्योक्ति-कल्पद्रुम (बा० दीनदयालगिरि)
४. अन्योक्ति-दशक (कन्हैयालाल पोद्दार)
५. अलंकार-पीयूष (डॉ० रमाशंकर रसाल)

६. आंसू (प्रसाद)
७. आत्मबोध (गोरखनाथ)
८. आधुनिक साहित्य (नन्ददुलारे बाजपेयी)
९. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां (डॉ० नगेन्द्र)
१०. आधुनिक हिन्दी नाटक (डॉ० नगेन्द्र)
११. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास (डॉ० कृष्णलाल)
१२. आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त (डॉ० एस० पी० खत्री)
१३. उत्तरा (पन्त)
१४. कबीर (आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी)
१५. कबीर और जायसी (डॉ० त्रिगुणायत)
१६. कबीर-ग्रन्थावली (बा० श्यामसुन्दरदास)
१७ कबीर-वचनावली (अयोध्यासिंह उपाध्याय)
१८. कामायनी (प्रसाद)
१९. कामायनी-सौन्दर्य (डॉ० फतहसिंह)
२०. कालिदास (चन्द्रबली पाण्डे)
२१. काव्यकला तथा अन्य निबन्ध (प्रसाद)
२२. काव्यदर्पण (रामदहिन मिश्र)
२३. काव्यनिर्णय (भिखारीदास)
२४. काव्य में अप्रस्तुत-योजना (रामदहिन मिश्र)
२५. काव्य में अभिव्यंजनावाद (लक्ष्मीनारायण सुधांशु)
२६. काव्यालोक (रामदहिन मिश्र)
२७. कुकुरमुत्ता (निराला)
२८. गिरधर की कुँडलियां (आदर्श कुमारी)
२९. गीता-माता (म० गान्धी)
३०. गीता-रहस्य (लो० तिलक)
३१. गुंजन (पन्त)
३२. गुप्तधन (भगवतीप्रसाद वाजपेयी)
३३. गोरख-बाणी (डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल)
३४. चुभते चौपदे (हरिऔध)
३५. छलना (भगवतीप्रसाद वाजपेयी)
३६. छायावाद के गौरव-चिन्ह (प्रो० क्षेम)
३७. छायावाद युग (डॉ० शम्भूनाथसिंह)

३८. जसवन्त-जसोभूषन (कविराजा मुरारीदान)
३९. जायसी-ग्रन्थावली (आ० रामचन्द्र शुक्ल)
४०. ज्योत्स्ना (पंत)
४१. तसव्वुफ अथवा सूफी मत (चन्द्रबली पांडे)
४२. तार सप्तक (अज्ञेय)
४३. दूसरा सप्तक (वही)
४४. दोहावली (तुलसी)
४५. नया हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि (प्रकाशचन्द्र गुप्त)
४६. नवरस (सेठ गोविन्ददास)
४७. नीरजा (महादेवी)
४८. पद्मावत (वासुदेवशरण अग्रवाल)
४९. परिमल (निराला)
५०. पल्लव (पन्त)
५१. प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन (किशोरीलाल गुप्त)
५२. भग्नतन्त्री (बलदेव शास्त्री)
५३. भंवर-गीत (नन्ददास)
५४. भ्रमरगीत-सार (आ० रामचन्द्र शुक्ल)
५५. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका (डॉ० नगेन्द्र)
५६. भारतेन्दु-नाटकावली (डॉ० श्यामसुन्दरदास)
५७. भाषा-विज्ञान (भोलानाथ तिवारी)
५८. मतिराम-सतसई
५९. महाकवि सूरदास (नन्ददुलारे बाजपेयी)
६०. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य (गंगाप्रसाद पाण्डेय)
६१. मेघदूत (वासुदेवशरण अग्रवाल)
६२. यामा (महादेवी वर्मा)
६३. युगवाणी (पन्त)
६४. रस-मीमांसा (आ० रामचन्द्र शुक्ल)
६५. रसनिधि-सतसई (रसनिधि)
६६. रहीम-दोहावली
६७. रहीम-रत्नावली
६८. रामचरितमानस (तुलसी)
६९. रामसतसई (रामसहाय)

७०. रीतिकाल की भूमिका (डॉ० नगेन्द्र)
७१. रीतिकालीन कविता एवं शृंगाररस का विवेचन (डॉ० चतुर्वेदी)
७२. विचार और अनुभूति (डॉ० नगेन्द्र)
७३. विक्रम-सतसई (विक्रम)
७४. विद्यापति की पदावली (वसन्तकुमार माथुर)
७५. विहारी-दर्शन (लोकनाथ द्विवेदी)
७६. विहारी-रत्नाकर (जगन्नाथ रत्नाकर)
७७. विहारी-सतसई, (बिहारीलाल)
७८. विहारी की सतसई (पद्मसिंह शर्मा)
७९. वीर-सतसई (वियोगी हरि)
८०. वृन्द-सतसई (वृन्द)
८१. वेदरहस्य (अरविन्द घोष) अनुवादक आ० अभयदेव
८२. व्यक्ति और वाङ्मय (प्रभाकर माचवे)
८३. शपथ (हरिकृष्ण प्रेमी)
८४. शेष स्मृतियां (महाराजकुमार डॉ० रघुवीरसिंह)
८५. सतसई-सप्तक (श्यामसुन्दर दास)
८६. संस्कृत-साहित्य की रूपरेखा (चन्द्रशेखर पांडेय)
८७. साहित्य (टैगोर-हिन्दी अनुवाद)
८८. साहित्य-दर्शन (शचीरानी गुर्टू)
८९. सिद्ध-साहित्य (डॉ० धर्मवीर भारती)
९०. सुन्दर-विलास (सुन्दरदास)
९१. सुमित्रानन्दन पंत (विश्वम्भर मानव)
९२. सूरदास (आ० रामचन्द्र शुक्ल)
९३. सूर-निर्णय (द्वारिकादास परीख)
९४. सूर-सागर (सूरदास)
९५. स्वर्ण-किरण (पन्त)
९६. स्वर्ण-धूलि (पन्त)
९७. हरिऔध-सतसई (अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध')
९८. हिन्दी अलङ्कार-शास्त्र (डॉ० ओमप्रकाश)
९९. हिन्दी एकाङ्की : उद्भव और विकास (डॉ० रामचरण महेन्द्र)
१००. हिन्दी कविता में युगान्तर (डॉ० सुधीन्द्र)

१०१. हिन्दी काव्य का उद्भव और विकास (रामबहोरी शुक्ल तथा डॉ०) भगीरथ मिश्र)
१०२. हिन्दी काव्य में छायावाद (दीनानाथ शरण)
१०३ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय (डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल)
१०४. हिन्दी गद्य-काव्य (डॉ० पद्मसिंह शर्मा कमलेश)
१०५. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास (डॉ० दशरथ ओझा)
१०६. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास (चतुरसेन शास्त्री)
१०७. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास (डॉ० शम्भुनाथसिंह)
१०८. हिन्दी साहित्य (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी)
१०९. हिन्दी साहित्य का इतिहास (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)
११०. हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी (नन्ददुलारे वाजपेयी)

पत्र-पत्रिकाएँ

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका सं० २००२ अंक ३—४
२. सरस्वती जून १९०१, फरवरी १९०८ जून १९१४, अप्रैल १९१५
३. साहित्य-संदेश, फाइल १९५०—५१
४. हिन्दुस्थान (साप्ताहिक) २१ अगस्त, १९५५

अँग्रेजी

1. Aesthetic (Croce)
2. A History of Sanskrit Literature (Keith)
3. A History of Sanskrit Literature (Macdonell)
4. A History of Sanskrit Literature (S. N. Gupta)
5. Philosophy of Croce (Wildon Carr)
6. Sanskrit Drama part I (Keith)
7. Some Concepts of Alankar Shastra (Dr. Raghwan)